* श्रीः *

सम्पादकीय

हृतप्रतिष्ठ, गर्भीभूत, उक्थात्मक, हृ-द-य-मूर्त्ति, सत्यसंकल्पानुगत अन्तर्य्यामी से सम्बन्ध रखने वाली, उत्थिताकाङ्क्षा-लक्षणा, अतएव बुद्धियोगानुगता, अतएव असङ्गभावप्रधाना, अतएव च बन्धनमुक्ति-प्रवर्त्तिका ईश-कामना से 'सकाम' बने हुए, किन्तु माया-कला-गुण-विकार-अञ्जन-आवरण, इन ६ परिग्रहों के सम्बन्ध से, तथा षडवस्था-षडूर्म्मि-आशय, आदि परिगणित पाप्माओं के सम्पर्क से अपनी ईश्वरता से वञ्चित, अतएव जन्म-मृत्युधर्म्माक्रान्त जीवात्मा से सम्बन्ध रखने वाली, उत्थाप्याकाङ्क्षा-लक्षणा, अतएव मनोऽनुगता, अतएव ससङ्गभावप्रधाना, अतएव च बन्धनपाश-प्रवर्त्तिका जीव-कामना से आत्यन्तिकरूप से असंस्पृष्ट रहने के कारण 'निष्काम' बने हुए, अतएव च कामत्यागलक्षण, ज्ञानगर्भित, तथा कर्म्मप्रवृत्तिरूप 'कर्म्म' के अनुग्रह से 'गीताभाष्यभूमिका २ खण्ड 'ख' विभाग' के अनन्तर 'गीताभाष्यभूमिका २ खण्ड का 'ग' विभागात्मक, 'कर्म्मयोगपरीक्षा' नामक तृतीयखण्ड (क्रमप्राप्त चतुर्थ खण्ड) कर्म्मप्रेमियों के सामने आ रहा है। बहुविस्तार के सम्बन्ध में, गीताभाष्य के प्रतिपाद्य दृष्टिकोण के सम्बन्ध में पूर्वप्रकाशित भूमिका-खण्डों, तथा हाल ही में प्रकाशित 'साहित्य की रूपरेखा-(संक्षिप्त परिचय)' नामक निबन्ध में सब कुछ स्पष्ट किया जा चुका है। फलतः इस बाह्य-ममिांसा में पिष्टपेषण करना अनावश्यक है।

गीताशास्त्र में मुख्यरूप से लक्षीभूत राजर्षिविद्यानुगत-वैराग्यबुद्धियोगलक्षण 'बुद्धियोग' के प्रतिपादन के साथ साथ लोकसंग्रहदृष्टि से जिन संशोधित-आर्षविद्यानुगत-धर्म्मबुद्धियोगलक्षण 'कर्म्मयोग', राजविद्यानुगत-ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षण 'भक्तियोग', तथा सिद्धविद्यानुगत-ज्ञान-बुद्धियोगलक्षण-'ज्ञानयोग,' इन तीन लोकप्रचलित योगों का संग्रह हुआ है, उनमें से वर्त्तमानयुग के एक विशेष दल में कर्म्मयोग के सम्बन्ध में विविध प्रकार के उच्चावचभावों का समावेश हो रहा है। महर्षियों का यह सौभाग्य है कि, उन की वर्त्तमान शिक्षित प्रजा जहां श्रुति, स्मृति, पुराण, निबन्ध, व्याकरणादि षडङ्ग, आगम, आदि अन्य समस्त आर्षसाहित्य को एकान्ततः उपेक्षा-दृष्टि से देखती हुई इसे राष्ट्र के अभ्युदय में अन्यतम प्रतिबन्धक मानने की भयङ्कर भूल

कर रही है, वहा वही शिक्षित प्रजा (केवल) 'गीताशास्त्र' के प्रति अपनी अनन्य निष्ठा प्रकट कर रही है। इस गीता निष्ठा के साथ साथ ही दुर्भाग्यवश गीता-प्रतिपादित कर्म्म-वाद के सम्बन्ध मे उसी शिक्षित प्रजा का जैसा, जो दृष्टिकोण देखने सुनने में आया है, उसके आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि, हमारी इस मान्य शिक्षित प्रजा का वह गीतासम्मत-कर्म्मवाद—जिसे उसी ने 'निष्कामकर्म्मयोग'-'साम्यवाद' आदि नामों से विभूषित कर रक्खा है—तत्त्वत गीता के संशोधित-संग्राह्य-पूर्वलक्षण कर्म्मयोग से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। शिक्षित-प्रजा की अनुगामिनी सामान्य मुग्ध-प्रजा का इस कल्पित निष्काम कर्म्मयोग से कितना अनिष्ट हुआ है ?, प्रश्न की मीमासा करना असामयिक है, साथ ही व्यर्थ भी। इस सम्बन्ध मे उस श्रद्धालु प्रजा से हमे यही निवेदन करना अभीष्ट है कि, जगन्मान्य गीता-सिद्धान्त के आविर्भावक जिन भगवान् श्रीकृष्ण का आविर्भाव एकमात्र धर्म्मग्लानि के उपशम के लिए, तथा असाधु (नास्तिक, अधर्म्मपरायण) पुरुषों के संत्रास से संत्रस्त साधु पुरुषों के परित्राण के लिए हुआ है, उस अवतार पुरुष के मुखपङ्कज से विनिसृत गीताशास्त्र मे धर्म्म (आर्षधर्म्म, श्रुति-स्मृति पुराणोदित-सनातनधर्म्म) के अतिरिक्त अन्य किसी कल्पित, अशास्त्रीय, धर्म्मविरुद्ध, उछृङ्खलता-लक्षण, स्वातन्त्र्यप्रवर्त्तक, विषमदर्शनानुगत समवर्त्तनात्मक कर्म्म का, किंवा साम्यवाद का स्पष्टीकरण हुआ होगा, यह नितान्त असम्भव है।

गीता का अक्षर अक्षर शास्त्रीय-कर्म्मवाद का—लौकिक उस कर्म्मवाद का भी, जो शास्त्राविरुद्ध है—समर्थन कर रहा है। गीता एक ओर 'पण्डिताः समदर्शिनः' (गीता ५ अ० । १८ श्लो०) इत्यादि रूप से जहा पदे पदे समदर्शन का आदेश दे रही है, वहा - 'स्वभावजेन कौन्तेय ! निवद्धः स्वेन कर्म्मणा'—'स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'—'कर्म्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः'—'श्रेयान्स्वधर्म्मो विगुणः परधर्म्मात्स्वनुष्ठितात्'—'सहजं कर्म्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत्'—'स्वकर्म्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'—'स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः परधर्म्मो भयावहः' इत्यादि शतश सूक्तियों द्वारा वर्णाश्रम-व्यवस्थामूलक, विषमवर्त्तनानुगत कर्म्मभेद का भी समर्थन हुआ है। 'समदर्शनानुगत विषमवर्त्तन' ही गीताप्रतिपादित कर्म्मयोग की मूलप्रतिष्ठा है। एवं यही गीता का कर्म्मयोग है, जिसे ईश कामना सम्वन्ध से, तथा जीवासक्तिविरह से 'निष्काम कर्म्मयोग' कहा जा सकता है, समदर्शनानुगति से 'साम्यवाद' कहा जा सकता है, तथा वर्णभेदानुगति से 'स्वधर्म्म' कहा जा सकता है। गीताशास्त्र के इसी गौण-प्रतिपाद्य-विषय के स्पष्टीकरण के लिए 'कर्म्मयोगपरीक्षा' सम्पन्न हुई है, जिसकी वर्ण, आश्रम, संस्कार, (श्रौत स्मार्त्तसंस्कार), तदनुगत कर्म्म, ये चार प्रतिष्ठाभूमि हैं।

उक्त चारों प्रतिष्ठातत्त्वों की परीक्षा ही गीतोक्त कर्म्मयोग की सम्यक्-परीक्षा है। एकमात्र इसी आधार पर इस परीक्षा-प्रकरण में '१—वर्णव्यवस्थाविज्ञान, २—आश्रमव्यवस्था-विज्ञान, ३—संस्कारविज्ञान, ४—कर्म्मतन्त्र का वर्गीकरण,' इन चार अवान्तर प्रकरणों का समावेश हुआ है। इन चारों में से प्रथम अवान्तर प्रकरण (वर्णव्यवस्थाविज्ञान) का सन्निवेश 'गी० भू० २ खं०' के 'ख' विभाग में हुआ है, जिसकी पृष्ठसंख्या २०० के लगभग (गी० भू० २ खं० 'ख' विभाग पृष्ठ ३१५ से ५१४ पर्य्यन्त) है। इस प्रकार कर्म्मयोगपरीक्षा का कुछ भाग तो पूर्वखण्ड में प्रकाशित हो चुका है। एवं शेष तीन अवान्तर प्रकरणों का समावेश प्रस्तुत 'ग' विभाग में हुआ है, जैसा कि आगे उद्धृत होने वाली विषयसूची से स्पष्ट है। यद्यपि 'कवयोऽप्यत्र मोहिताः' के अनुसार जटिल-जटिलतर-जटिलतम कर्म्मवाद के सम्बन्ध में मादृश सामान्य व्यक्ति का यह प्रयास कृतकृत्य है, यह कहना असम्भव है। तथापि भगवत्प्रेरणा से सम्बन्ध रखने वाली इस 'अलग्ल' भी वाणी से यथासम्भव अपनी कर्म्म-कण्डू शान्त की जा सकती है, यह कहना अनुचित न माना जायगा।

भूमिकाप्रथम खण्ड, एवं द्वितीय खण्ड 'क' विभाग, इन दोनों खण्डों का प्रकाशन 'श्रीबालचन्द्र प्रेस जयपुर' से हुआ था। अनन्तर द्वितीय खण्ड 'ख' विभाग का प्रकाशन कलकत्ता में हुआ, जिसका पूरा इतिवृत्त तत्खण्ड के 'सम्पादकीय' में उद्धृत है। पहिले यही व्यवस्था थी कि, प्रस्तुत 'ग' विभाग भी वहीं से प्रकाशित होगा। परन्तु युद्धजनित परिस्थिति के कारण इसका प्रकाशन वहां सम्भव न हुआ। फलतः इसका जयपुर में हीं उक्त प्रेस से प्रकाशन करना पड़ा। इस सम्बन्ध मे यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक होगा कि, हमारे रोगाक्रान्त हो जाने से प्रस्तुत खण्ड का संशोधन ठीक न हो सका, जब कि प्रकाशन-सौष्ठव पूर्व प्रकाशनों से कहीं अच्छा माना जा सकता है। विशेषतः संस्कृत के उद्धरणों में तो कुछ एक ऐसी भयानक अशुद्धियां रह गईं हैं, जिन से यत्रतत्र अर्थभ्रान्ति, तथा अनर्थ प्रतीत सम्भव है। परिस्थितिवश हो जाने वाली इन भूलों के लिए अब क्षमा-प्रार्थना के अतिरिक्त हमारे पास अन्य साधन का अभाव है।

लिखित रूप से सम्पन्न त्रिकाण्डात्मक, षट्चत्वारिंशत (४६) खण्डात्मक, तथा एकादशसहस्र (११०००) पृष्ठात्मक गीतासाहित्य में से नवखण्डात्मक 'भूमिका' नामक प्रथमकाण्ड के अद्यावधि ४ ही खण्ड प्रकाशित हो पाए हैं, जिन में प्रस्तुत (ग) विभाग चौथा खण्ड है। इस से आगे क्रमशः ज्ञानयोगपरीक्षा, भक्तियोगपरीक्षा-पूर्वखण्ड, भक्ति० उत्तरखण्ड, बुद्धियोग-परीक्षा, गीतासारपरीक्षा, ये पांच भूमिका-खण्ड, द्वादश (१२) खण्डात्मक-'गीताचार्य्य-

श्रीकृष्ण' नामक द्वितीयकाण्ड, तथा पञ्चविंशति (२५) खण्डात्मक-'गीतामूलभाष्य' नामक तृतीयकाण्ड अद्यावधि अप्रकाशित है। इस अप्रकाशित गीतासाहित्य के अतिरिक्त ब्राह्मणसाहित्य, उपनिषत्साहित्य, परिशिष्टसाहित्य, आदि लगभग ४० सहस्र पृष्ठात्मक अन्य साहित्य भी अप्रकाशित ही है, जिसका पूर्ण परिचय 'साहित्य की रूपरेखा' नामक अन्य निबन्ध से गतार्थ है। हम अपनी शक्तिभर इस साहित्य-सेवा-कार्य्य में संलग्न हैं। इसे स्थायी रूप प्रदान करना, विलुप्तप्राय इस आर्ष-साहित्य की विलुप्त स्वाध्याय-परम्परा को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए संकल्पित 'आश्रमव्यवस्था' को दृढ़मूल बनाना, इत्यादि कार्य्य आर्षप्रजा के सात्त्विक सहयोग पर ही अवलम्बित है, जो सहयोग एकमात्र आर्षधर्म्म-प्रवर्त्तक हृत्प्रतिष्ठ अन्तर्य्यामी के अनुग्रह पर ही निर्भर है। उसी की कामना करते हुए प्रस्तुत सम्पादकीय उपरत होता है।

विज्ञानमन्दिर, भूराटीबा
जयपुर सिटी (राजस्थान)
द्वि० ज्ये० कृ० अमावास्या
वि० सं० १९९९

विधेयः—
मोतीलालशर्म्मा
भारद्वाजः (गौड़ः)

* श्रीः *

हिन्दी-गीताविज्ञानभाष्यभूमिका

द्वितीयखण्ड 'ग' विभाग

कर्म्मयोगपरीक्षा की संक्षिप्त

विषयसूची

* *

*

कर्म्म-योगपरीक्षा

५—आश्रमव्यवस्थाविज्ञान

'वर्णव्यवस्थाविज्ञान' का उपक्रम करते हुए यह बतलाया गया है कि, कर्तृभेदभिन्न सामाजिक व्यवस्था 'वर्णव्यवस्था' है, एवं आयुःकालभेदभिन्न वैय्यक्तिक व्यवस्था 'आश्रमव्यवस्था' है। वर्णव्यवस्था जहां समाज का विशेष उपकार करती है, वहां आश्रमव्यवस्था से व्यक्ति के वैय्यक्तिक स्वरूप का विकास होता है। वर्णव्यवस्था का जहां समष्टि से सम्बन्ध है, वहां आश्रम व्यवस्था व्यष्टिभाव से सम्बन्ध रखती है। वर्णव्यवस्था से यदि परमार्थ साधन होता है, तो आश्रमव्यवस्था से स्वार्थ की रक्षा होती है। व्यक्तिमूला यही आश्रमव्यवस्था समाजमूला वर्णव्यवस्था की प्रतिष्ठा है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

सिंहावलोकन तथा आश्रमनिर्वचन—

यह तो हुआ सिंहावलोकन, अब 'आश्रम' शब्द का निर्वचन कीजिए। तपःसूचक 'श्रमु' ('श्रमु, तपसि,' दि० प० स०) धातु से 'घञ्' प्रत्यय द्वारा आश्रम शब्द निष्पन्न हुआ है। ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास, इन चारों अवस्थाओं से युक्त व्यक्ति क्रमशः तत्तदवस्थानुरूप तत्तत् कर्म्मों का अनुगमन करता है, अतएव इन्हें आश्रम कहा जाता है। कर्म्मविवर्त्त 'तप' और 'श्रम' भेद से दो भागों में विभक्त है। शारीरिक कर्म्म 'श्रम' कहलाता है, एवं प्राणकर्म्म 'तप' कहलाता है। शरीर से सम्बन्ध रखने वाला 'श्रम' नामक कर्म्म एकतोऽनुगामी रहता हुआ जहां केवल 'श्रम' कहलाया है, वहां प्राण से सम्बन्ध रखने वाला 'तप' नामक कर्म्म सर्वतोऽनुगामी बनता हुआ 'परितः-श्रम' भाव के कारण 'परिश्रम' कहलाया है। 'आश्रम' शब्द परिश्रमात्मक, प्राणलक्षण इसी तपः-कर्म्म का सूचक है। अतएव कोशकार ने आश्रम शब्द का 'आसमन्ताच्छ्रमोऽत्र' यह भी निर्वचन किया है। ब्रह्मचर्य्यादि चारों हीं आश्रमों में प्राणलक्षण तप-कर्म्म का प्राधान्य रहता है, अतएव इन्हें 'आश्रम' शब्द से व्यवहृत करना अन्वर्थ बन जाता है। 'कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि' सिद्धान्त को लक्ष्य में रखता हुआ आश्रमी जन्मक्षण से आरम्भ कर निधनक्षण पर्य्यन्त यथाशास्त्र, तत्तदवस्थानुरूप कर्म्म करता हुआ ही जीवन का उद्देश्य सफल कर सकता है, एवं इस सफलता का रहस्य इसी आश्रमव्यवस्था में अन्तर्निगूढ़ है।

आश्रमव्यवस्था के शास्त्रीय-स्वरूप से पहिले यह आवश्यक है कि, इस व्यवस्था से सम्बन्ध रखनेवाले 'सहजजीवन', एवं सहजजीवन से सम्बन्ध रखने वाले 'सहजज्ञान' का संक्षिप्त इतिवृत्त बतला दिया जाय।

सहजजीवन, और आश्रमव्यवस्था–

सहजजीवन को यदि 'प्राकृतिकजीवन' कहा जा सकता है, तो शास्त्रीयजीवन को 'कृत्रिमजीवन' माना जा सकता है। अनृतसंहित मनुष्य सहज-प्राकृतिक जीवन-चर्य्या में चूंकि अव्यवस्था कर डालता है, अतएव इसे शास्त्र की मर्य्यादा से सीमित किया गया। शास्त्रीय मर्य्यादाएं यद्यपि प्राकृतिक जीवन को सुरक्षित रखनें वालीं हैं, अतएव शास्त्र भी इस दृष्टि से सहजजीवन का ही उपोद्बलक बन रहा है, तथापि प्राकृतिक जीवन, तथा शास्त्रीय जीवन में वही अन्तर मानना पड़ेगा, जो अन्तर एक नितान्त मूर्ख, किन्तु परम श्रद्धालु, एवं महाबुद्धिमान, किन्तु श्रद्धाशून्य व्यक्ति में देखा जाता है।

कहने को तो 'बुद्धिवाद' से बढ़ कर मनुष्य की प्राकृतिक शक्तियों के विकास का और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। परन्तु विचार करने पर हमें इस तथ्य पर पहुंचना पड़ता है कि, अपनी मर्य्यादा का उल्लंघन करनेवाला, जहां बुद्धि की गति नहीं है, वहाँ अनधिकार चेष्टा करनेवाला, प्रश्न तथा तर्क-परम्परा को अपने गर्भ में रखने वाले स्वाभाविक आत्मविश्वास, तथा मानस-श्रद्धा का समूल उत्पाटन करने वाला यह बुद्धिवाद ही हमारे सहजजीवन, तथा सहज-ज्ञान का अन्यतम शत्रु है। बुद्धिवाद का उपयोग है, परन्तु कहां? एकमात्र व्यवहारक्षेत्र में। श्रद्धा विश्वास भी उपयोगी हैं, कहाँ? आत्मक्षेत्र, एवं तन्मूलक धर्म्मक्षेत्र में। व्याव-हारिकजीवन (जिसे हम सामाजिकजीवन कहते हैं, सामाजिक विशेष परिस्थितियों के कारण जिस सामाजिक जीवन में अपने सहजजीवन के स्वाभाविक नियमों को यदा-कदा अपवाद बनाना पड़ता है) कृत्रिम जीवन है। एवं बुद्धिवाद का अधिकार एकमात्र इस व्यावहारिक, कृत्रिम जीवन तक ही सीमित है। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि, सामाजिक शिष्टा-चार, वैय्यक्तिक सदाचार, पारस्परिक व्यवहार, कर्त्तव्यकर्म्मों का यथासमय अनुगमन, आदि जितनें भी व्यावहारिक क्षेत्र हैं, सब में बुद्धिवाद का प्राधान्य है। इनमें सदा बुद्धि के विवेकधर्म्म को ही प्रधानता देनी चाहिए। ठीक इसके विपरीत आत्मानुबन्धी, अतएव अतीन्द्रिय, अतएव मन-बुद्धि से भी अतीत धर्म्मक्षेत्र में बुद्धिवाद, एवं तन्मूलक तर्कवाद का द्वार सर्वथा अवरुद्ध कर देना चाहिए। तभी आत्मानुगत धर्म्म में हमारा श्रद्धा-विश्वास प्रतिष्ठित रह सकता है। यही हमारे सहजजीवन के, सहजज्ञान के मूलसूत्र हैं। बुद्धि का क्षेत्र केवल बाह्यजगत् है, अन्तर्जगत् में इस की गति एकान्ततः अवरुद्ध है। जहाँ जिस का

अधिकार है, उसी क्षेत्र में उस से काम लेना बुद्धिमानी है, यही शास्त्रीयबुद्धिवाद है। व्यावहारिक क्षेत्र के लिए जहां शास्त्र बुद्धिवाद को सर्वोच्च आसन प्रदान कर रहा है, वहीं अलौकिक आत्मक्षेत्र (धर्म्मक्षेत्र) के सम्बन्ध में तर्क, बुद्धि आदि के परित्याग का, एवं श्रद्धा-विश्वास के अनुगमन का आदेश दे रहा है।

वर्त्तमानयुग 'बुद्धिवादयुग' है। सहजजीवन से सम्बन्ध रखनेवाले सहजज्ञान, श्रद्धा, विश्वास, आदि प्राकृतिक विभूतियां आज के युग से निकल चुकीं हैं। सभी एकमात्र 'बुद्धि' पथ के पथिक हैं। बुद्धि, तर्क, प्रश्न, वितण्डा, आदि ही हमारी जीवनयात्रा के अन्यतम संगी बने हुए हैं। इस प्रकार समस्त धर्म्मक्षेत्र बुद्धिवाद से आक्रान्त हो रहा है। एक सबसे बड़ी विभीषिका यह है कि, जहां हमें अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिए था, वहां तो हम श्रद्धाविश्वास का अनुगमन कर रहे हैं, एवं जिस क्षेत्र में श्रद्धा-विश्वास से काम लेना चाहिए था, वहां बुद्धि का समावेश कर रहे हैं। और ऐसा करते हुए हम अपने बुद्धिवाद के जर्ज्जरितरूप का ठीक ठीक अभिनय करने में समर्थ हो रहे हैं। उदाहरण के लिए हमारे व्यावहारिक-दैनिक जीवन के उपयोग में आनेवाले भोजन, वस्त्रादि का अवलोकन ही पर्य्याप्त होगा। किसी प्रसिद्ध कम्पनी ने वस्त्र, जूते, आदि बनाए। वे बिकने बाजार में आए। परमकारुणिक, परोपकारव्रती सामयिक पत्रों नें उनका पर्य्याप्त यशोगान किया। जनता बिना सोचे समझे दौड़ पड़ी। उसने अपनी बुद्धि से यह विचार करने का कष्ट न उठाया कि, कहीं इन कम्पनी की वस्तुओं में ऐसे अशुचि-द्रव्यों का समावेश तो नहीं है, जो हमारी अन्तःशक्तियों को मलिन कर देते हैं। एक भोलेभाले श्रद्धालु की तरह आंख मीच कर इन अव्यवहार्य्य वस्तुओं का हम उपयोग करने लगते है। यही व्यवस्था भोजन की है। जैसा, जहां, जो कुछ, जब भी मिला, श्रद्धापूर्वक गलाधःकरणानुकूल व्यापार आरम्भ कर दिया। जिसने जैसी पद्धति चला दी, अन्ध बन कर श्रद्धापूर्वक अनुगमन आरम्भ कर दिया। प्रश्न किया, तो उत्तर यह मिला कि, वे बड़े हैं, बहुत बुद्धिमान हैं, कुछ सोच समझ कर ही उन्होंनें ऐसा आदेश दिया होगा। कल्पना कीजिए इस भावुकता का, मूर्खतापूर्ण श्रद्धा विश्वास का। इस प्रकार आज हमारा व्यावहारिक क्षेत्र (सामाजिक, तथा राजनैतिक क्षेत्र भी) अथ से इति तक सर्वथा अव्यवहार्य्य श्रद्धा-विश्वास का अनुयायी बनता हुआ व्यवहार्य्य बुद्धिवाद से एकान्ततः वञ्चित होता हुआ अभ्युदय के स्थान में सर्वनाश का ही कारण बन रहा है।

यह तो हुई व्यावहारिक क्षेत्र की वात, अव आत्मक्षेत्र पर दृष्टि डालिए। अपने तर्क-युक्ति, वुद्धि आदि को एक ओर रख कर, 'पाण्डित्यं निर्विद्य वाल्येन तिष्ठासेत्' इस औपनिषद आज्ञा को शिरोधार्य्य कर, सर्वथा मूर्ख वन कर, परमश्रद्धा-विश्वास के साथ हमें जहां आत्मोपयिक ईश्वरभक्ति, धर्म्म, आदि का अनुगमन करना चाहिए था, वहां हमनें वुद्धिमानी का प्रवेश कर रक्खा है। ईश्वर क्यों माना जाय? गङ्गास्नान से क्या लाभ? सन्ध्या क्यों करनी चाहिए? शिखा धारण का क्या प्रयोजन? सभी को मूर्त्तिदर्शन का समानाधिकार क्यों नहीं? यज्ञोपवीत पहिले तो पहिना ही क्यों जाय? यदि पहिना भी जाय, तो उसे कान पर क्यों टांगा जाय? इत्यादिरूप से धर्म्मक्षेत्र में पदे पदे हम वुद्धिवाद का आश्रय ले रहे हैं। जहां 'क्यों' के प्रश्नमात्र से सहजजीवनोपयिक सहज श्रद्धा-विश्वास का उच्छेद हो जाता है, वहां अहर्निश क्यों की परम्परा धारावाहिकरूप से प्रवाहित है। यह स्मरण रखने की वात है कि, मनुष्य खोई हुई सम्पत्ति अपने जीवन में दुवारा प्राप्त कर सकता है, परन्तु 'श्रद्धा-विश्वास' जैसे अमूल्य धन का एकवार निकले वाद पुनः मिलना दुर्लभ हो जाता है। भवानी-शङ्कर की वन्दना में श्रद्धा-विश्वास ही मूलप्रतिष्ठा वने हुए हैं। जिन्हें कि हम अपनी वुद्धिमानी से सर्वथा खो चुके हैं, अथवा तो खोते जा रहे हैं।

एक दूसरा उदाहरण लीजिए। एक ऐसा व्यक्ति, जिसकी ईश्वर-धर्म्म-परलोक आदि आत्मसम्पत्तियों में भी दृढ़ निष्ठा है, परन्तु साथ साथ वह देशहित के नाते अपने समाज की, तथा राष्ट्र की भी कुछ सेवा करना चाहता है। अपनी इस इच्छा को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिए, दूसरे शव्दों में राजनैतिक क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए आगे वढ़े हुए इस धर्म्मभीरू के सामने धर्म्म-सम्वन्धी कुछ अड़चनें उपस्थित हो जातीं हैं। यह सोचने लगता है कि, देशसेवा जहां मेरा एक आवश्यक कर्त्तव्य है, वहां धर्म्मरक्षा इससे भी कहीं आवश्यक है। उधर वर्त्तमान राजनैतिक क्षेत्र में धर्म्म का कोई स्थान नहीं है। अथवा यह कह लीजिए कि, वर्त्तमान राजनैतिक प्राङ्गण में इस श्रद्धालु की धर्म्मभावनाओं से विपरीत जानेवालीं धर्म्म-परिभाषाएं ताण्डवनृत्य कर रहीं हैं, जिनका अनुगमन इस धर्मिष्ठ को अणुमात्र भी अभीष्ट नहीं है। इन अड़चनों को सामने आया देख कर धर्म्मभीरू, किन्तु देशहितेच्छु यह श्रद्धालु किसी ऐसे महापुरुष की शरण में जाता है, जिसके प्रति (व्यक्तिगतरूप से) इसे यह विश्वास है कि, वह अवश्य ही कोई माध्यम निकाल देगा।

'महापुरुष' शव्द मध्य में आ गया, अतः प्रचलित दृष्टिकोण के अनुसार इस शव्द की व्याख्या भी आवश्यक प्रतीत हुई। 'महापुरुष' का वर्त्तमान व्यावहारिक भाषा में अर्थ होता

है—'बड़ा आदमी'। धन से भी आदमी 'बड़ा आदमी' बन जाता है, विद्या से भी बड़प्पन मान लिया जाता है। देशसेवा में अग्रणी, देश के लिए सर्वस्व न्योछावर कर देनेवाला भी बड़ा आदमी कहा जाता है। इस प्रकार 'बड़ा आदमी' इस वाक्य की सभी परिभाषाएं बन सकतीं हैं। परन्तु जब वर्त्तमानयुग की दृष्टि से अपने सहजज्ञान के आधार पर इस वाक्य की परिभाषा करने चलते हैं, तो हमारे सामने उपस्थित होता है यह वाक्य—
'जो सच कभी कहे नहीं, झूंठ कभी बोले नहीं, वही बड़ा आदमी है'।
मुकुलित नयन बन कर इस सहज परिभाषा का मनन कीजिए, और इसी परिभाषा के आधार पर 'बड़ा आदमी' वाक्य की व्याप्ति का यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रत्यक्ष दर्शन कीजिए।

उक्त परिभाषा का तात्पर्य्य वही है, जो पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। जो धार्मिक क्षेत्र में राजनीति का समावेश कर रहे हैं, एवं राजनैतिक क्षेत्र में धर्म्मनीति का घण्टाघोष कर रहे हैं, वे एक स्थान पर झूंठ नहीं बोल रहे, दूसरे स्थान में सच नहीं कह रहे। अतएव वे बड़े आदमी हैं, महापुरुष हैं। श्रद्धालु मुग्धमनुष्य 'महापुरुष' की इस भयावह व्याप्ति से परिचय न रखने के कारण अपनी उस पूर्वोक्त जटिल समस्या को लेकर उक्त परिभाषा के आचार्य्य किसी एक महापुरुष की शरण में पहुंचता है, और नम्रभावेन निवेदन करता है कि,—भगवन्! देश के काम में हाथ बटाने की इच्छा है। परन्तु धर्म्मभीरुता पीछे हटाती है। इस क्षेत्र में खान-पान, स्पृश्यास्पृश्य-जाति-वर्ण का कोई समादर नहीं है। अनुग्रह कर कोई मार्ग बतलाइए। उत्तर सुनिए—

"अरे भाई! बड़ी भूल कर रहे हो। परतन्त्र राष्ट्र का क्या धर्म्म, क्या जाति, क्या वर्ण। जबतक तुम्हारा देश स्वतन्त्र नहीं हो जाता, तबतक तुम धर्म्मपालन नहीं कर सकते। तुम्हारा इस समय मुख्यधर्म्म देशसेवा ही है। आजादी हासिल करना पहिला धर्म्म है। जब स्वतन्त्रता प्राप्त कर लो, तब धर्म्ममार्ग पर दृष्टि डालना। अभी तो सर्वतोभावेन अपनी धर्म्मनीति के स्थान में राजनीति का ही प्रतिष्ठापन होना चाहिए"।

उत्तर में कुछ भी तो झूंठ नहीं है। महापुरुष भी भला कभी झूंठ बोला करते हैं। युक्ति, तर्क-सम्मत बुद्धिगम्य उत्तर है। धर्म्मक्षेत्र पर राजनीतिक्षेत्र का आक्रमण है। श्रद्धाविश्वास पर बुद्धिवाद का आधिपत्य है। अस्तु, इस बुद्धिवादसम्मत उत्तर से उस श्रद्धालु की धर्म्मश्रद्धा की ग्रन्थियां ढीलीं पड़ जातीं हैं। सचमुच इसे मान लेना पड़ता है कि, राष्ट्रस्वातन्त्र्य के सामने व्यक्तिगत धर्म्म का कोई मूल्य नहीं। राजनीति, धर्म्मनीति के

संघर्ष में, समतुलन में राजनीति को विजयश्री मिल रही है। कैसा सुन्दर, साथ ही विण्डम्बनापूर्ण समाधान है।

आगे चलिए। धर्म्मभीरू ने धर्म्मश्रद्धा को ताक में रख कर राजनैतिक-राष्ट्रकर्म्म का अनुगमन आरम्भ किया। फर्म्मान निकला, अत्याचार रोकने के लिए डटे रहो, सामना करते रहो। परन्तु सामना कैसे, किस साधन से करें। परतन्त्रराष्ट्र को सामना करने के लिये साधन कहां प्राप्त है। अब इस की आँखें खुली। इसने देखा कि, 'उफ' करने भर से डण्डे पड़ते हैं, सर फूटते हैं, जेलों में ठूस दिया जाता है, मुख में बलप्रयोगपूर्वक अभक्ष्य पदार्थ डाले जाते हैं। इस प्रकार राजनीति-विशारद, राजनैतिक क्षेत्र में केवल बुद्धिवाद का आश्रय लेने वाले, अतएव वास्तव में 'बुद्धिमान्' कहलाने योग्य वे शासक जो न करना चाहिए करते हैं, और हम साधनहीन राजनैतिक-पथिकों का सर्वात्मना पराभव कर डालते हैं। तब कहीं आँखें खुलती हैं, आत्मा विद्रोह कर बैठता है, सहसा इन विचारों का उदय होता है कि, जबतक 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' का आश्रय न लिया जायगा, तबतक इस क्षेत्र में विजय पाना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है। अपने इन विचारों का तथ्य अंकवाने के लिए पुनः हमें उन्हीं महापुरुषों की शरण में जाना पड़ता है। और अश्रुपूर्णाकुलेक्षण बन कर कहना पड़ता है कि भगवन्!

"आप के आदेश से हमनें धर्म्म छोड़ा, वर्ण छोड़ा, भक्ष्याभक्ष्य की मर्य्यादा को जलाञ्जलि समर्पित की। इस प्रकार धार्मिकक्षेत्र का, ईश्वरभक्ति का, अपनी वैय्यक्तिक उपासना का परित्याग कर हमने इस राजनीति-पथ का आश्रय लिया, देशसेवाव्रत अङ्गीकार किया। परन्तु देखते हैं, यहाँ सफलता के तबतक कोई आसार नहीं, जबतक 'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्' का अनुगमन न कर लिया जाय। आदेश दीजिए, क्या करें।" सुनिए!

"राम! राम! यह कैसी भूल। तुम ईश्वर के उपासक हो। ईश्वर के मानने वाले हो। सत्य, अहिंसा, आदि धार्म्मिक नियमों पर तुम्हारी पूरी निष्ठा है। आत्मबल तुम्हारे साथ है। कायर मत बनो। ईश्वर पर भरोसा रक्खो। वह अवश्य ही किसी न किसी दिन अत्याचारी को दण्ड देता है। दण्ड देना, हिंसा का उत्तर हिंसा से देना तुम्हारा काम नहीं है। 'अहिंसा परमो धर्म्मः'। आस्तिक बनो, नास्तिक मत बनो। सब के कल्याण की कामना करो। किसी को अपना शत्रु न समझो। तत्त्वतः सर्वस्व बलिदान करते हुए आगे बढ़ते चलो, एक दिन यही अहिंसाव्रत, यही ईश्वरनिष्ठा, यही आस्तिक्य, यही धर्म्मपथ उस अधर्म्मपथ को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा"।

महापुरुप का अन्ध-भक्त वना हुआ यह देशसेवक—'दोपदर्शनानुकूलवृत्तिप्रबन्धेक-वृत्तिधारणं श्रद्धा'' इस श्रद्धा के प्रभाव से उत्तर को भी ठीक मान लेता है। उत्तर में तत्त्व क्या है? यह भी विचार कर लीजिए। राजनैतिक क्षेत्र में राजनीति का ही प्राधान्य है। यहां युक्ति-तर्क-सम्मत बुद्धिवाद से ही काम चल सकता है। ईश्वर-आत्मा-धर्म्म-पर भरोसा कर हाथ पर हाथ धरे वैठे रहने से न तो अतीतयुगों में इस क्षेत्र में कोई विजश्री का वरण कर सका, न आज ही कर सकता। ठीक इसके विपरीत धार्मिकक्षेत्र में धर्म्मनीति का ही प्राधान्य है। 'यश्च बुद्धेः परङ्गतः' को छोड़ कर अस्मदादि सामान्य मनुष्यों के लिए धर्म्मप्रवृत्ति का एकमात्र साधन श्रद्धाविश्वास का अनुगमन ही है। यहां युक्तिसम्मत बुद्धिवाद का प्रवेश निपिद्ध है। महापुरुप ने धार्म्मिकक्षेत्र में राजनीति का समावेश कर डाला, जव राजनीति का प्रश्न उपस्थित हुआ, तो धर्म्म की दुहाई दे डाली। दोनों हीं लक्ष्यों से च्युत कर डाला, न राम मिले, न रहीम।

पाठक प्रश्न कर सकते हैं कि, महापुरुप ने ऐसा क्यों किया? इन झंझठों से महापुरुप का कौनसा लाभ था?। उत्तर उसी महापुरुप शब्द से पूंछिए। वड़े आदमी वनने के लिए आरम्भ में कुछ समय तक तो अवश्य ही तथ्यपूर्ण मार्ग का अनुगमन करना पड़ता है, त्याग की भावना रहती है, सामाजिक दुःख-सुखों में सहयोग रहता है। इन प्रारम्भिक गुणों के आधार पर कृतज्ञ हिन्दूजाति प्रत्युपकार के वदले उसे 'व्यक्तिप्रतिष्ठा' देती हुई 'महापुरुप' मान लेती है, एवं हिन्दूजाति का यह उपाधिप्रदान शिष्टाचार के नाते सर्वथा अनुरूप होता है। परन्तु व्यक्ति-प्रतिष्ठा प्राप्त महापुरुप कुछ ही समय पीछे 'कर्त्तव्य' तथा 'व्यक्तित्व' (अधिकार), दोनों के समतुलन में कर्त्तव्य को भूल जाता है, व्यक्तित्व का पक्षपाती वन जाता है। अपने इस व्यक्तित्व की रक्षा के लिए इसे 'सर्वज्ञ' का वाना पहिन कर समाज के सामने आना पड़ता है। यह देखता है कि, यदि मैं किसी की जिज्ञासा शान्त न कर सका, उत्तर न दे सका, तो मेरा व्यक्तित्व गिर जायगा, मैं वड़ा आदमी न रहूंगा। वस एकमात्र इसी व्यक्तित्व प्रलोभन में पड़ कर क्या धार्मिकक्षेत्र के महापुरुप (विद्वान्), क्या राजनैतिक-

---

१ जिस पर एकवार किसी कारण विशेप से हमारी श्रद्धा हो जाती है, हम उस व्यक्ति के दोप न तो स्वयं ही देख सकते, न दूसरों के द्वारा वतलाए गए उस श्रद्धेय के दोपों का श्रवण ही कर सकते। श्रद्धा एक ऐसी मानसिक वृत्ति है, जो श्रद्धेय के दोपदर्शनानुकूल हमारे मानसभावों का द्वार वन्द कर देती है।

क्षेत्र के महापुरुष, सभी अपनी इस कल्पित सर्वज्ञता को सुरक्षित रखने के लिए 'सच कहना नहीं, झूठ बोलना नहीं' इस पथ को अपनाए रहते हैं।

इसी सम्बन्ध मे (राजनैतिकक्षेत्र के सम्बन्ध मे) हम एक बात कहना भूल गए। धर्म्मभीरू व्यक्ति धार्मिक लक्ष्य से वञ्चित किया जाता हुआ जब राजनैतिकक्षेत्र मे प्रवेश करता है, तो वहा पूर्वकथनानुसार साधनाभाव से इस मार्ग मे भी गति रुक जाती है। अब यह क्या करे, क्या न करे। अहिंसामूलक धर्म्म ने इस मार्ग के भी दर्वाजे बन्द कर दिए। महापुरुष को चिन्ता होती है कि, कहीं प्रयासपूर्वक एकट्ठा किया हुआ यह 'प्रतिमासंघ' छिन्न भिन्न न हो जाय। क्योंकि वह समझता है कि, लक्ष्यभ्रष्ट अकर्म्मण्य मनुष्य केवल वाचिक-प्रलोभनों के आधार पर अधिक समय तक किसी मार्ग मे स्थिर नहीं रह सकता। मसल मशहूर है कि, "आदमी को अपनी एक गलती की रक्षा के लिए दूसरी गलती करनी पडती है, जानबूझ कर करनी पडती है"। फिर उन महापुरुषो के लिए तो इस गलत रास्ते को अपनाना और भी आवश्यक हो जाता है, जो कर्त्तव्य की अपेक्षा व्यक्तित्व को प्रधान मान बैठे हैं। उस दूसरी गलती का नाम है—'रचनात्मककार्य्य'। यह कहा जाने लगता है कि, "अभी हम इस क्षेत्र के लिए अयोग्य हैं (हालाकि क्षेत्रप्रवेश से पहिले भी हमे यह चेतावनी देकर हमारा कल्याण किया जा सकता था, हा, उस दशा मे 'प्रतिमासंघ' का निर्म्माण अवश्य ही न होता), पहिले हमे रचनात्मक कार्य्यों के द्वारा अपने आपको मजबूत बनाना चाहिए योग्य साबित करना चाहिए, सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध आन्दोलन करना चाहिए।" परिणामस्वरूप 'मरता क्या न करता' किंवदन्ती चरितार्थ होने लगती है। केवल 'आन्दोलन के लिए आन्दोलन किए जाने लगते हैं', जिनका एकमात्र स्तम्भ व्यक्तिप्रतिष्ठा की रक्षा करना है। लक्ष्यहीन, आत्मवृत्तिविरुद्ध, आन्दोलन के लिए होनेवाले ये आन्दोलन तभी तक चलते है, जबतक इनका आविष्कारक जीवित रहता है, एव जीवित दशा मे भी वह पूरा बल लगाता रहता है। जिस क्षण वहाँ अवसान, यहा भी उसी क्षण में सब कुछ समाप्त।

अपनी इस चिरकालिक हार से इस प्रतिमासघ का आत्मा कालान्तर मे विद्रोह कर बैठता है। सघ टूट जाता है। कल्पित सञ्चित-शक्तियों का नग्न स्वरूप प्रकट हो जाता है। परम भक्त ये ही व्यक्ति सर्वतो भावेन उच्छृङ्खल बन जाते हैं। अपने ही दोष की इन सजीव प्रतिमाओ के लिए उन महापुरुषों की ओर से कटुसमालोचनाए निकलनें लगतीं हैं। अनुशासन भंग हो गया, दण्ड देना चाहिए, आदि चीत्कार किए जाते हैं। परिणाम जो कुछ हुआ, एव हो

रहा है, वह आज हमारे सामने उपस्थित है। इन दुष्परिणामों का मूल है, ये कल्पित महा-पुरुष, एवं इन की–'सच कहेंगे नहीं, झूंठ बोलेंगे नहीं' यह मनोवृत्ति। इस मनोवृत्ति का मूल कारण है सहजजीवन सम्बन्धी सहजज्ञान का अभाव, एवं कृत्रिम जीवन सम्बन्धी कृत्रिम बुद्धिवाद का समाश्रय। कैसे यह विभीपिका दूर हो ? हम बुद्धिवाद के कुचक्र से कैसे अपनी रक्षा करें ? हमारा समाज अधिकारबल की अपेक्षा कर्त्तव्य को कैसे महत्व प्रदान करे ? हमारा व्यक्तित्व किस पथ के अनुगमन से अपना विकास करने में समर्थ बन सकता है ? इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए सामाजिक-विभक्त-कर्त्तव्य के स्पष्टीकरण के नाते पूर्व में जिस 'वर्णव्यवस्था' विज्ञान का स्पष्टीकरण हुआ है, वैय्यक्तिक-विभक्त-कर्त्तव्य के नाते वर्णव्यवस्था का रक्षक 'आश्रमव्यवस्था विज्ञान' ही पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है। जैसा कि प्रकरणारम्भ में हीं बतलाया जा चुका है।

आश्रमव्यवस्था ही एक ऐसी व्यवस्था है, जिस के द्वारा हम अपने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का विकास कर सकते है, सामाजिक, तथा राष्ट्रीय कर्म्मों के योग्य बन सकते हैं। 'आश्रम' व्यवस्थाओं का हमारे सहजजीवन में पूरा पूरा समन्वय हो रहा है। जबतक हमें सांसारिक बोध नहीं होता, तबतक अपने आप को असमर्थ पाते हुए हम गुरुजनों के (वृद्धपुरुषों के, बड़ों के) अनुशासन की अपेक्षा रखते हैं। वे जिस मार्ग पर, जिस शिक्षा पर हमें चलाते हैं, चलना पड़ता है। जीवन की इसी सहज, तथा प्रारम्भिकधारा का नाम 'ब्रह्मचर्य्याश्रम' है। जीवन में एक समय ऐसा आता है, जब हम गुरुजनों के नियन्त्रण से निकल कर स्वयं अपने अनुभव के बल पर आगे बढ़ना चाहते हैं, सामाजिक क्षेत्र में अपने अस्तित्व की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। यही हमारा स्वाभाविक दूसरा 'गृहस्थाश्रम' है। गृहस्थाश्रम प्रवृत्ति-प्रधान है, साथ ही समाजानुबन्ध सापेक्ष। ब्रह्मचर्य्याश्रम में हमें जहां परिगणित गुरुओं के आदेश पालन की चिन्ता रहती है, वहां इस दूसरे आश्रम में सारा समाज, समाजनीति, नागरिकनीति, लोकनीति, देशधर्म्म, जातिधर्म्म, आदि अनेक गुरुओं के अनुशासन में चलना पड़ता है। अतएव तुलना दृष्टि से इस आश्रम में हमारी जिम्मेवारी अधिक बढ़ जाती है। समा-जानुबन्धमूल इस अनुशासन से सम्बन्ध रखने के लिए पारिवारिकजीवन को गतिशील बनाए रखते हैं। परन्तु जीवन में हीं एक समय ऐसा भी आता है, जब कि ये समाजिक-नियन्त्रण, जातीय अर्गलाएं, पारिवारिक प्रपञ्च, हमें त्रस्त कर देते हैं। उस समय हमारी वह दशा हो जाती है, जो एक संशयात्मा की हुआ करती है। परिणामस्वरूप हम समाज को छोड़ देते हैं, पुत्रादि परिवार से पृथक् हो जाते हैं, केवल दाम्पत्यभाव को सुरक्षित रखते हुए गृहस्थधर्म्म को प्रणाम

कर लेते हैं। यही स्वाभाविक तीसरा 'वानप्रस्थाश्रम' है। आगे जाकर ज्ञानगरिमा के विकसित हो जाने से पूर्वानुभवों के द्वारा हमें अपने जीवन की उस शारीरिक-अशक्त अवस्था में आकर दाम्पत्यभाव से भी मुख मोड़ लेना पड़ता है, एवं यही हमारा चौथा 'संन्यासाश्रम' है। इस प्रकार हम अपने जीवन की अवस्थाविशेषों में सहजजीवन से सम्बन्ध रखने वाले सहजज्ञान के तारतम्य से चारों आश्रमों का अनुगमन करते रहते हैं। वर्णविभागवत् सहज बनी हुई इसी आश्रमव्यवस्था में भारतीयसमाजशास्त्रियों ने व्यक्तिस्वातन्त्र्य का मूलमन्त्र देखा, एवं अपनी इसी दृष्टि को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिए शतायु पुरुष की आयु के २५ के क्रम से चार विभाग कर शास्त्रीय आश्रमव्यवस्था व्यवस्थित की, जिसके स्पष्टीकरण के लिए प्रकृत प्रकरण आश्रमव्यवस्था-प्रेमियों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है।

'आश्रमव्यवस्था' वाक्य में 'आश्रम' शब्द पठित है। इधर कुछ समय से देश में आश्रम शब्द से विशेष प्रेम प्रकट किया जा रहा है। हम स्वयं भी चिरकाल से इसी प्रलोभन के अनुगामी बने हुए हैं। 'आश्रमव्यवस्था' के पुनरुद्धार के लिए, विलुप्तप्राय व्यक्तिस्वातन्त्र्य के पुनः प्रतिष्ठापन के लिए 'आश्रम' बनने चाहिएं, यह तो निर्विवाद है। परन्तु प्रश्न यह है कि, इन आश्रमों का स्वरूप कैसा हो ? आश्रम के सम्बन्ध में सर्वसाधारण की यह भावना देखी सुनी जाती है कि, "नागरिक वातावरण से कहीं दूर, बियावान जङ्गलों में पर्णकुटियाँ बनाई जायँ, वहाँ नागरिक-सभ्यता, आचार, व्यवहार का प्रवेश सर्वथा निषिद्ध माना जाय, आश्रम के कुलपति निःस्वार्थी हों, त्यागी हों, संयमी हों, इन आश्रमों में रहने वाले विद्यार्थियों को लोक-जनसम्पर्क से बचाया जाय, केवल शास्त्रचिन्तन को प्रधानता दी जाय" इत्यादि।

'आश्रमव्यवस्था और आश्रम'—

हमारी सब से बड़ी भूल है, हमारा कल्पित 'आदर्शवाद'। आदर्शवाद के अभिनिवेश में पड़ कर तथ्यपूर्ण सामयिक परिस्थितियों की उपेक्षा कर आज हमने अपना जो सर्वनाश करा लिया है, उसका यथावत् अभिनय करने के लिए सम्पूर्ण कोश-शास्त्र भी असमर्थ है। आदर्शवाद जहाँ आवश्यक है, वहाँ परिस्थितिवाद इस से भी कहीं आवश्यक रूप से उपादेय है। 'चिकित्सा रोग की होनी चाहिए, रोगी की नहीं' इस सिद्धान्त को लक्ष्य में रख कर ही हमें आदर्श का अनुगमन करना पड़ेगा। परिस्थिति में पड़े हुए व्यक्ति का सुधार करने की चेष्टा करना तबतक सर्वथा व्यर्थ है, जबतक उसकी परिस्थिति में सुधार नहीं कर दिया जाता है। दोषी की समालोचना प्रत्येक दशा में जहाँ दोषियों की अभिवृद्धि का कारण बनती है, वहाँ दोषों की समालोचना दोषियों का क्रमिक सुधार करने वाली

सिद्ध हुई है। बुरे का इलाज ठीक नहीं, बुराई का इलाज आवश्यक है। एवं इसी दृष्टिकोण को सामने रखते हुए हमें आश्रम की स्वरूप-मीमांसा करनी है।

आश्रम शब्द की उक्त व्याख्या करनेवाले महानुभाव सम्भवतः यह समझ रहे हैं कि, प्राचीनभारत में पनपनेवाले आश्रमों का ऐसा ही स्वरूप रहा होगा। शिक्षा केन्द्रात्मक वे आश्रम जनसम्पर्क से विदूर कौपीनधारी कुलपतियों के सञ्चालन से सञ्चालित रहे होंगे ? 'नेति होवाच'। कारण स्पष्ट है। निरन्तर २५ वर्षों तक जिस व्यक्ति को सामाजिक जीवन से एकान्ततः पृथक् रक्खा जायगा, जिस आश्रमकाल में, एवं तथाकथित आश्रम के वन्य-वातावरण मे वह अपनी आयु का वह सुकुमारभाग व्यतीत करेगा, जिसमें सञ्चित होनेवाले संस्कार दृढ़मूल बनते हुए 'उक्थ' (आत्मा) रूप में परिणत हो जायंगे, लोक-नगर-सम्बन्धी शिष्टाचार, सदाचार, कर्त्तव्यादि के नाते निरक्षरमूर्धन्य आश्रम से निकले हुए ऐसे व्यक्ति से उस समाज का सिवाय इसके और क्या उपकार होगा कि, समाज में जिस किसी संख्येय व्यक्ति को भूलेभटके कभी किसी पोथे के पन्ने उलटने का अवसर मिल जाय, उसकी कोई पंक्ति इसकी समझ में न आवे, यह उस आश्रम-स्नातक के पास चला जाय, और वह इस पंक्ति का अक्षरार्थमात्र कर दे।

यदि आश्रम का यही स्वरूप अभीप्सित है, तब तो नवीन आश्रम निर्म्माण की कल्पना भी भयावह है। क्योंकि जिन्हे आज 'स्कूल-कॉलेज-पाठशाला' आदि सुन्दर सुन्दर नामों से सम्बोधित किया जा रहा है, वे सब शिक्षासस्थाएं रूपान्तर से तथाकथित, व्यवहारज्ञान-शून्य शिक्षा-दीक्षायुत आश्रमों की ही प्रतीक बन रहीं हैं। यह निर्विवाद है, साथ ही शिष्टजन-सम्मत है कि, वर्त्तमान युग की ये शिक्षासंस्थाएं व्यावहारिक शिक्षा के नाते न केवल अपूर्ण हीं हैं, अपितु भारतीय गृहस्थप्राङ्गण में सदाचार-शिष्टाचारानुमोदित बची खुची जैसी कुछ व्यावहारिक शिक्षा हमें मिल सकती है, इन शिक्षणालयों में उन का भी बलिदान हो जाता है, अथवा कर दिया जाता है। प्रमाण के लिए वर्त्तमान शिक्षित-समाज का सर्वप्रिय **'नास्ति'** शब्द ही पर्य्याप्त होगा।

मान लीजिए एक व्यक्ति वकालत (न्याय, कथाशास्त्र), डाक्टरी (चिकित्साशास्त्र), सायन्स (विज्ञानशास्त्र), फिलॉसफी (दर्शनशास्त्र), साइकालॉजी (मनोविज्ञान), आदि किसी भी एक विभाग का पण्डित बन कर सामाजिक क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ। समाज ने इसे शिक्षित बनाने में पर्य्याप्त हानि सही, अतएव समाज को इसे अपने क्षेत्र में स्थान देना पड़ा। समाज स्वयं इस शिक्षा से वञ्चित था, अतएव इस आगन्तुक अथिति का पर्य्याप्त

सत्कार हुआ, इसे प्रतिष्ठा मिली, धन मिला, सब तरह की सुविधा मिली। और प्रत्युपकार में इस ने समाज को क्या दिया ? 'नास्ति'। इस नास्ति की व्याख्या से पहिले यह भी देख लेना आवश्यक है कि, आज समाज मे शिक्षा के नाते किस 'शिक्षा' की तो प्रधानता है ? एवं समाज मे किन शिक्षितों का अधिक उपयोग होता है ?

आश्रमचतुष्टयी की तरह भारतीय संस्कृति मे 'पुरुषार्थचतुष्टयी' भी सुप्रसिद्ध है। पुरुषार्थचतुष्टयी के अनुष्ठान के लिए ही आश्रम, तथा वर्णचतुष्टयी का विधान हुआ है। 'धर्म्म, अर्थ, काम, मोक्ष' चार पुरुपार्थ प्रसिद्ध हैं। अर्थ स्थूलशरीर' का उपकारक है, काम 'मनोराज्य' का विकासक है, धर्म्म 'विद्याबुद्धि' का उत्तेजक है, एवं मोक्ष 'आत्मानुगामी' है। चारों के अनुगमन से अध्यात्मसंस्था के 'आत्मा, बुद्धि, मन, शरीर' चारों पर्व उपकृत रहते है, जैसा कि आगे आने वाले 'कर्म्मतन्त्र का वर्गीकरण' नामक सातवें प्रकरण के 'स्वस्त्ययनकर्म्म' नामक अवान्तर प्रकरण मे विस्तार से बतलाया जाने वाला है। यहाँ इस सम्बन्ध मे केवल यही कहना है कि, वर्त्तमान शिक्षाक्षेत्र मे चार पुरुपार्थों में से धर्म्म, मोक्ष, नामक दो पुरुपार्थ सर्वथा बहिष्कृत हैं। प्रवृद्ध अर्थ ने धर्म्म का भक्षण कर लिया है, एवं नि सीम काम ने मोक्ष को उदरसात् कर लिया है। फलत काम, तथा अर्थ, नाम के दो पुरुपार्थ ही हमारे लक्ष्य बन रहे हैं। इन्हीं दोनों लक्ष्यों को सर्वतोभावेन सुसमृद्ध बनाने के लिए 'डाक्टरी, और वकालत' नाम की दो शिक्षाओं का पूर्णावतार हुआ है। डाक्टरी कामलक्ष्य को साधन बना रही है, वकालत अर्थलक्ष्य को प्रोत्साहन दे रही है। चूंकि वर्त्तमान समाज के दो ही लक्ष्य रह गए हैं, अतएव इस के सामने धार्म्मिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, आदि शिक्षितों का उतना महत्व नहीं है, जितना इन दो शिक्षितों का। समाज अपने आप को विविध उपायों से गवर्न्मेन्ट टेक्स से भले ही बचाले, परन्तु वकील का टेक्स इसे विवश होकर देना ही पडता है। महाब्राह्मण भले ही मृत्यु-टेक्स से वञ्चित कर दिया जाय, परन्तु हमारे दयालु डाक्टर इस टेक्स से वञ्चित नहीं हो सकते। हो भी क्यों, जब कि ये समाज के सर्वप्रिय काम, तथा अर्थ लक्ष्यों की पूर्त्ति के साधक बन रहे हैं। इस प्रासङ्गिक का तत्त्व यही निकला कि, शिक्षा के नाते चिकित्साविभाग, तथा न्यायविभाग, ये दो ही क्षेत्र आज प्रधान बन रहे हैं।

कहा जा चुका है कि, प्रत्युपकार मे इन शिक्षितों की ओर से समाज को मिलता है केवल—'नास्तिभाव'। अपने शिक्षाकाल मे ये सामाजिक, समाजस्वीकृत सभ्यता, शिष्टाचार, सदाचार, धर्म्म, जातीय रस्मरिवाज, आदि से सर्वथा वञ्चित रहे हैं। समाजक्षेत्र मे पैर

रखते ही ये सब विभीषिकाएं इन के सामने उपस्थित होतीं हैं। इधर समाज इन्हें आदर की दृष्टि से देखता है, वड़ा आदमी मानता है, शिक्षित कहता है। ये वड़े असमञ्जस में पड़ जाते हैं। सोचते हैं, यदि इन के जीवन में अपने जीवन को मिलाया जाता है, तो इस के लिये इन की सारी पद्धतियों का क-ख से श्रीगणेश करना पड़ेगा, इन × × × अशिक्षितों को गुरू बनाना पड़ेगा, अपनी सभ्यता, शिक्षा, व्यक्तिप्रतिष्ठा को मस्तक झुकाना पड़ेगा। यदि ऐसा नहीं करते हैं, तो रात दिन के ये प्रतिवन्ध चैन न लेने देंगे। तत्काल इन शिक्षित, वड़े आदमियों के सामने यह स्कीम प्रकट होती है कि, "तुम (समाज) जो कुछ मान रहे हो, गलत है, तुम्हारा यह काम भी ठीक नहीं, यह रिवाज भी ठीक नहीं, यह भी रूढ़िवाद है, यह भी दकियानूसीपना है, समाज के शिक्षितवर्ग का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि, आन्दोलन द्वारा समाज के इन रूढ़िवादों को नष्टभ्रष्ट किया जाय"। वही होता भी है, हो भी रहा है। इस प्रकार समाज, वह वेचारा मुग्ध समाज किंकर्त्तव्यविमूढ़ वन कर मन मसोस कर रह जाता है, रह जाता है हाथ मलता हुआ इन शिक्षितों के लिए अपनी गाढ़ी कमाई खोकर।

इस परिस्थिति का सारा उत्तरदायित्व उन शिक्षासंस्थाओं पर है, आश्रम के प्रतीकरूप उन स्कूल, कॉलेजों पर है, जहां जातीयता, समाज, शिष्टाचार, सभ्यता, आदि के शिक्षण का, व्यावहारिक-शिक्षाप्रणाली का, धर्म्मशिक्षा का एकान्ततः अभाव है। जहां से निकले हुए शिक्षितों की दृष्टि में—"हम जो कुछ मानते हैं, ठीक है, तुम जो कुछ कर रहे हो, मान रहे हो, सब गलत है" यह मूलमन्त्र अहोरात्र चढ़ा रहता है। इसलिए हमें अपनी आश्रमव्यवस्था के सम्वन्ध में, आश्रम के प्रतीकरूप शिक्षणालयों के सम्वन्ध में कोई ऐसी परिभाषा वनानी पड़ेगी, जिसके अनुगमन से हम शिक्षित भी वन जांय, साथ ही अपनी जातीयता भी सुरक्षित रख सकें, समाज के भी काम आ सकें। हमारे लिए समाज को आत्मसमर्पण न करना पड़े, अपितु हम समाज के लिए आत्मसमर्पण कर दें। व्यक्तिप्रतिष्ठा समाजप्रतिष्ठा का निगरण न कर जाय, अपितु समाजप्रतिष्ठा के गर्भ में व्यक्तिप्रतिष्ठा सुरक्षित रहे।

जंगलों में पर्णकुटियां वनाने की आवश्यकता नहीं। कौपीनधारी कुलपतियों की अपेक्षा नहीं। नागरिक जीवन को जलाञ्जलि समर्पित कर देने का कोई उपयोग नहीं। न ऐसे आश्रम पहिले थे, एवं न ऐसे आश्रमों से आज ही कोई लाभ हो सकता। 'आश्रम' नाम की स्वतन्त्र संस्था जहां उपयोगिता की दृष्टि से अनुपयुक्त है, वहां यह एक समाज पर भारी आर्थिक संकट भी है। इसी समाज के शिष्ट, शिक्षित, विद्वान्, अनुभवी, सद्गृहस्थ कुलपति रहें, ऐसे आदर्शगृहस्थ ही कर्त्तव्यदृष्टि से शिक्षा का प्रसार करें, वदले में समाज इनकी

आवश्यकता पूरी करता रहे, यही भारतीय आश्रम की संक्षिप्त रूपरेखा थी, आज भी उसीका अभिनय अपेक्षित है। आर्यप्रजा का प्रत्येक सद्गृहस्थ 'आश्रम' था, विशेषशिक्षा के लिए गृहस्थ ऋषियों को 'ब्रह्मपर्षदें' नियत थीं। हमारे ये कुलपति कौपीन लगा कर जंगलों में फाकेकशी से भटकते नहीं फिरते थे, अपितु चक्रवर्त्ती सम्राटों के राज्य-कार्य्यों में पूरा हस्तक्षेप करते थे। राजसभा, लोकसभा, समाजसंघठन, आदि सभी में इनका पूरा समावेश था। यदि किसी ने किसी विशेष विषय के प्रचार प्रसार की आवश्यकता समझी, तो उसके लिए शासक की ओर से कोई नियत स्थान बना दिया जाता था। मन्त्रवर्णन के अनुसार नदीसंगम, पर्वतोपत्यका आदि स्थान ही ऐसे कार्य्यों के लिए उपयोगी समझे जाते थे। देखिए!

'उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत। —ऋक्सं॰ ८।६।२८

यह है, उस 'आश्रम' की प्रासङ्गिक रूपरेखा, जो आश्रमव्यवस्था की अन्यतम विकासभूमि बन सकती है। ऐसे हैं आश्रम के वे सद्गृहस्थ कुलपति, जो उच्चशिक्षाओं के साथ साथ सदाचार, शिष्टाचार, लोक-नागरिक-राजनीतियों का भी प्रचार प्रसार किया करते हैं। ऐसे हैं वे आश्रम के स्नातक, जो समावर्त्तन-संस्कार के अनन्तर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होते हुए अपने 'आश्रमी' नाम को भलीभाति चरितार्थ करते हैं। और ऐसे हैं हम मन्दमति, जो केवल बाह्य-चाकचिक्य में पड़ कर, श्रद्धा का दुरुपयोग करते हुए इस आश्रमव्यवस्था-चतुष्टयी का परित्याग करते हुए अपने उस व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को जलांजलि समर्पित कर रहे हैं, जो व्यक्तिस्वातन्त्र्य आगे के परिच्छेद के अनुसार परम्परया विश्वशान्ति की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है।

व्यक्ति का पूर्ण विकास ही 'व्यक्तिस्वातन्त्र्य' है। देशाचार, कुलाचार, लोकाचार, आनृशंसधर्म्म, परस्पर की मर्य्यादा (सभ्यता), आदि को जलाञ्जलि समर्पित कर अपने आपको किसी भी मर्य्यादा-बन्धन में न रखते हुए सर्वथा उच्छृङ्खल बन जाने का नाम 'स्वतन्त्रता' नहीं है। मर्य्यादा-शून्य, ऐसी उच्छृङ्खल-स्वतन्त्रता तो व्यक्ति के व्यक्तित्व का नाश करती हुई अन्ततोगत्वा परतन्त्रता की ही जननी बन जाती है। मर्य्यादा में रहना, कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र के अनुशासन में चलना ही वैय्यक्तिक विकास का मुख्य कारण माना गया है, एवं ऐसा ही विकास व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की मूलप्रतिष्ठा बनता है।

व्यक्तिस्वातन्त्र्य—

जिस समाज में, किंवा राष्ट्र में ऐसे मर्य्यादित स्वतन्त्र व्यक्ति (शक्तिशाली, पूर्ण विकसित व्यक्ति) रहते हैं, वह समाज, तथा राष्ट्र मर्य्यादित बनता हुआ, इसी मर्य्यादानुशासन से स्व-स्व आधिकारिक कर्त्तव्य-कर्म्मों में नियमपूर्वक प्रवृत्त रहता हुआ स्वातन्त्र्यानन्द का उपभोग करने में समर्थ होता है। ऐसा स्वतन्त्र समाज, एवं स्वतन्त्र राष्ट्र ही अपने समाज की, तथा राष्ट्र की ज्ञानशक्ति (वेदगुप्ति), क्रियाशक्ति (रक्षण), अर्थशक्ति (पालन), तथा शिल्प-कलाश्रेणि को समुन्नत बनाता हुआ समाज-राष्ट्रस्वातन्त्र्य का कारण बनता है। एवं ऐसा मर्य्यादित, अतएव सब ओर से पूर्ण विकसित, तथा पूर्णसमृद्ध राष्ट्र ही आगे जाकर विश्वशान्ति-लक्षण विश्वस्वातन्त्र्य की प्राणप्रतिष्ठा बनता है। इस प्रकार विश्वस्वातन्त्र्य का कारण राष्ट्रस्वातन्त्र्य, राष्ट्रस्वातन्त्र्य का कारण समाजस्वातन्त्र्य, समाजस्वातन्त्र्य का कारण कुटुम्बस्वातन्त्र्य, कुटुम्बस्वातन्त्र्य का कारण व्यक्तिस्वातन्त्र्य, इस परम्परा से सर्वस्वातन्त्र्य का मूल कारण परम्परया एकमात्र मर्य्यादालक्षण व्यक्तिस्वातन्त्र्य ही बना हुआ है। और इस व्यक्तिस्वातन्त्र्य की मुख्य परिभाषा है, व्यक्ति की वैय्यक्तिक-गुण-शक्तियों का पूर्ण विकास, एवं इस विकास का मुख्य कारण है, स्वाधिकारसिद्ध कर्म्मों में अनन्यभाव से मर्य्यादापूर्वक, अनुशासन मानते हुए प्रतिष्ठित रहना। यही विश्वप्रतिष्ठा का मौलिक रहस्य है।

१—व्यक्तिस्वातन्त्र्य[1]—व्यक्तिरक्षा—व्यक्तिप्रतिष्ठा	—सर्वप्रतिष्ठासिद्धिः
२—कुटुम्बस्वातन्त्र्य—कुटुम्बरक्षा—कुटुम्बप्रतिष्ठा	
३—समाजस्वातन्त्र्य—समाजरक्षा—समाजप्रतिष्ठा	
४—राष्ट्रस्वातन्त्र्य—राष्ट्ररक्षा—राष्ट्रप्रतिष्ठा	
५—विश्वस्वातन्त्र्य—विश्वरक्षा—विश्वप्रतिष्ठा	

उक्त विवेचन से हमें इस निष्कर्ष पर भी पहुंचना पड़ा कि, जो व्यक्ति स्वयं अयोग्य हैं, जो स्वयं मर्य्यादा में नहीं चलते, जिन्हे अपने आप पर अनुशासन सहने की आदत नहीं है, जिन्हें अपने वैयक्तिक कर्त्तव्य का ध्यान नहीं है, वे व्यक्ति अपने कुटुम्ब को कभी योग्य नहीं बना सकते। कुटुम्ब का कोई व्यक्ति इन का अनुशासन नहीं मान सकता। न ऐसे व्यक्ति

---

१ सुप्रसिद्ध विद्वान् टालस्टाय इसी व्यक्तिस्वातन्त्र्य के पक्षपाती थे।

समाज का ही कोई उपकार कर सकते, न राष्ट्र ही इन से लाभ उठा सकता। राष्ट्र-समाज-कुटुम्ब आदि का सञ्चालन करने से पहिले हमें अपने आप को सञ्चालित करना पड़ेगा। जिन मर्य्यादाओं की हम अपने कुटुम्बादि से आशा करते हैं, पहिले स्वयं हमें उनका पालन करना पड़ेगा। "हम यथेच्छाचार करते रहें, हम किसी के मनोभावों का कुछ भी आदर न करें, और फिर सब हमें बड़ा समझें, हमारी इच्छानुकूल चलें" ऐसा न कभी सम्भव हुआ, न होने का। 'स्व' का अर्थ है 'आत्मा, 'तन्त्र' का अर्थ है 'सीमा'। अपने आत्मा की सीमा में प्रतिष्ठित रहना ही स्व (अपने) तन्त्र में प्रतिष्ठित रहना है, एवं इसी का नाम स्वतन्त्रता, किंवा स्वातन्त्र्य है। 'पर' का अर्थ है 'दूसरा', तन्त्र का अर्थ है सीमा। अपने आप को भूल कर अन्य विरुद्ध कर्म्मों के कुचक्र में फंस जाना ही पर (दूसरे) तन्त्र में प्रतिष्ठित होना है, एवं इसी का नाम 'परतन्त्रता', किंवा पारतन्त्र्य है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि, अपने शरीर, इन्द्रियवर्ग, मन, बुद्धि, स्वोपार्जित, तथा पैत्रिक स्थिर-चर-सम्पत्ति, आहार-विहार, आदि को अपने आत्मा के अधिकार में रखना ही स्वतन्त्रता है, वैयक्तिक सर्वाङ्गीण अनुशासन ही स्वतन्त्रता है[1]।

इस स्व (आत्म) तन्त्र को सुरक्षित रखने का एकमात्र उपाय है, हम दूसरों के तन्त्रों को अपना रक्षक बनावें। हम तभी अपनापन सुरक्षित रख सकते हैं, जब कि दूसरों के अपनेपन (स्वातन्त्र्य) का हम अनुरोध मानें। यह स्मरण रखने की बात है कि, प्रत्येक व्यक्ति पूर्वलक्षण स्वतन्त्रता का इच्छुक है। एवं प्रत्येक का स्व-भाव 'अन्नादश्च वा इदं सर्वमन्नञ्च' (शत० ११।१।६।१९) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पारस्परिक अन्न-अन्नादभाव के कारण स्वरूप रक्षा के लिए एक दूसरे के सहयोग की अपेक्षा रखता है।

पूर्व की समाजानुबन्धिनी वर्णव्यवस्था में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, मनुष्य ग्राम्य पशु बनता हुआ एक सामाजिक प्राणी है। इसे समाज में रह कर अपनी जीवनयात्रा का निर्वाह करना है, समाज से ही इस की अपनी वैय्यक्तिक आवश्यकताएं पूरी होतीं हैं। फलतः समाजशक्ति ही इस के स्वातन्त्र्य की रक्षिका है। ऐसी दशा में अवश्य ही स्व-तन्त्र में प्रतिष्ठित रहने के लिए प्रत्येक व्यक्ति के लिए व्यष्टि-समष्टि-रूप समाज का अनुशासन

---

१ स्वतन्त्र-परतन्त्रभावों का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'शतपथ हिन्दी-विज्ञान भाष्य' चतुर्थवर्ष १ अङ्क में देखना चाहिए।

मानना आवश्यक होगा। ठीक इस के विपरीत यदि हमनें ('स्व-तन्त्र' का अमर्य्यादित अर्थ, अमर्य्यादा, उच्छृङ्खलता इत्यादि अर्थ समझने की भूल करते हुए) किसी का अनुशासन न माना, तो समाज हमारा तिरस्कार कर देगा, सब ओर से बहिष्कार कर देगा। एवं उस परिस्थिति में हमें समाजसापेक्ष उन सभी आवश्यकताओं से वञ्चित हो जाना पड़ेगा, जिनके आधार पर हम स्व-तन्त्र को सुरक्षित रखने में समर्थ हुआ करते हैं। यही हमारे पारतन्त्र्य का मुख्य कारण होगा। यही 'व्यक्ति-पारतन्त्र्य' महामारी की तरह समाज के इतर व्यक्तियों में संक्रमण करता हुआ शनैः शनैः सामाजिक शक्तियों के ह्रास का कारण बन समाज-पारतन्त्र्य का कारण बन जायगा। "समाजपारतन्त्र्य ही राष्ट्रपारतन्त्र्य का कारण बनता हुआ सर्वान्त में विश्वशान्ति का विघातक बन जाता है" यह सिद्धान्त आज अक्षरशः चरितार्थ हो रहा है।

स्वतन्त्र-परतन्त्र शब्दों की कल्पित परिभाषाएं बना कर आज पिता, पुत्र, पत्नी, भ्राता, सेवक स्वामी, राजा, प्रजा, शिक्षक, विद्यार्थी, सभी स्वतन्त्रतामूलक पारस्परिक अनुशासनों को न मानना हीं 'स्वतन्त्रता' मान रहे हैं। हेतु पूंछने पर इन स्वतन्त्राभिमानियों की ओर से उत्तर मिलता है कि,—"जब हम भी प्रकृति के एक स्वतन्त्र अंश हैं, तो दूसरे अंशों को हमें अपने अधिकार में रखने का क्या हक है"। आज सर्वसाधारण ने पारस्परिक अनुशासनमूलक मर्य्यादाभावों को ही अपने सुख का एकमात्र प्रतिबन्धक मान रक्खा है। वे स्वतन्त्रतावादी यह भूल जाते हैं कि, उसी प्रकृति के अंशरूप सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी-ग्रह नक्षत्र-अनल-अनिल आदि, उस नियतिदण्ड से शासित रहते हुए, एक दूसरे के अधिकारों को सुरक्षित रखते हुए ही अपने अपने अधिकारों को सुरक्षित रखने में समर्थ हो रहे हैं। क्या मजाल कोई भी उस नियति के अनुशान से अणुमात्र भी विचलित हो जाय[1]। कहने के लिए सभी कुछ कहा जा सकता है, क्योंकि मुख भी अपना है, जिह्वा भी अपनी है। परन्तु अहोरात्र न-न कहते हुए भी अधिकार-व्याप्ति से कोई वञ्चित नहीं रह सकता। दोनों परिस्थितियों में अन्तर केवल यही है कि, स्वेच्छापूर्वक अधिकारों के नियन्त्रण में चलने से शान्तिलक्षण सुख का साम्राज्य रहता है, एवं अनिच्छापूर्वक आक्रमण करनेवाला अधिकार-

---

१ भीषास्माद्वातोदेति, भीषोदेति सूर्य्यः।
भीषादग्निश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥ —उपनिषद्।

नियन्त्रण आत्मक्षोभ का कारण बना रहता है। यदि कोई सज्जन इस अनैच्छिक नियन्त्रण मर्य्यादा से भी बाहिर निकल जाता है, तो यथाकाम-यथाचार एक पशु में और इसमें कोई अन्तर नहीं रह जाता। अनुशानोपेक्षामूला, अमर्य्यादित, वर्त्तमानयुग की स्वतन्त्रता ने किस प्रकार हमारे व्यक्तित्व को, कुटुम्ब को, समाज को, तथा राष्ट्र को परतन्त्र बना डाला है, स्वकर्त्तव्यानुशासन की उपेक्षा करते हुए हमनें किस प्रकार आज अपने आपको परमुखापेक्षी बना लिया है? इस प्रश्न की मीमासा करना व्यर्थ है, जब कि इसके दुष्परिणामों का कुफल आज हमे प्रत्यक्ष में भोगना पड़ रहा है।

स्वतन्त्र-परतन्त्र शब्दों की उक्त व्याख्या से प्रकृत में हमे यही बतलाना है कि, वर्णव्यवस्था से अनुशासित एक स्वतन्त्र समाज की, स्वतन्त्र राष्ट्र की स्वरूपरक्षा के लिए, राष्ट्र की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनाए रखने लिए यह आवश्यक है कि, उस राष्ट्र के व्यक्ति पूर्णरूप से प्रतिष्ठित, तथा सर्वात्मना विकसित हों। अप्रतिष्ठित, अयोग्य, अमर्य्यादित व्यक्तियों की समष्टिरूप समाज कभी समाजसापेक्ष वर्णधर्म्म का पालन नहीं कर सकता। इसी विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए महर्षियों नें समाजस्वरूपरक्षिका वर्णव्यवस्था के साथ साथ ही व्यक्तिस्वरूपरक्षिका आश्रमव्यवस्था का नियन्त्रण आवश्यक समझा। यह सिद्ध विषय है कि, आश्रममर्य्यादा के अनुगमन के बिना वर्णव्यवस्था कभी स्वस्वरूप से सुरक्षित नहीं रह सकती। इस दृष्टि से वर्णव्यवस्था की अपेक्षा से हम इस आश्रमव्यवस्था को विशेष महत्त्व देने के लिए तय्यार हैं, जो कि आश्रमव्यवस्था राष्ट्रीय प्रजावर्ग के 'व्यक्तिस्वातन्त्र्य' का कारण बन रही है।

भारतीय आश्रमविभाग 'समयविभाग' पर प्रतिष्ठित है। यहा वर्णविभाग की तरह कर्त्ता चार नहीं है, अपितु कर्त्ता एक ही व्यक्ति है। इस एक ही व्यक्ति को चार स्वतन्त्र कर्म्म करनें हैं। परन्तु परस्पर भिन्न उद्देश्य, भिन्न इतिकर्त्तव्यता रखनेवाले चारों कर्म्म एक ही समय मे नहीं हो सकते। अतएव मानवजीवन को चार समयों मे विभक्त कर आश्रम-विभाग करना आवश्यक समझा गया है। अब इस सम्बन्ध मे प्रश्न हमारे सामने यह रह जाता है कि, वे ऐसे कौन से कर्म्म हैं, जिनके अनुष्ठान से व्यक्ति की आत्मशक्तियो का विकास होता है, जिनके विकास से व्यक्ति वैय्यक्तिक पुरुषार्थ लाभ मे समर्थ बनता है?। प्रकृत परिच्छेद इसी प्रश्न समाधि के लिए प्रवृत्त हुआ है।

ईश्वरीयविभूति, और उसकी प्राप्ति का उपाय—

मनुष्य उस विश्वव्यापक ईश्वरप्रजापति का एक अश है, जैसा कि—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (गीता० १५।७) इत्यादि स्मार्त्त सिद्धान्त से स्पष्ट है। वह 'अंशी'

बनता हुआ जहां 'एक' है, वहां 'अंश' बनते हुए हम 'अनेक' हैं[१]। जब हम उस अंशी के अंग हैं, उससे उत्पन्न हुए हैं, तो मानना पड़ेगा कि, जो शक्तियां उसमें हैं, वे ही शक्तियां मात्रातारतम्य से हम में हैं। ईश्वरप्रजापति में 'ज्ञान-क्रिया' नाम की दो विभूतियां प्रतिष्ठित हैं। ज्ञान 'ब्रह्म' है, 'सत्' है, 'अमृत' है, 'रस' है। क्रिया 'कर्म्म' है, 'असत्' है, 'मृत्यु' है, 'बल' है। ब्रह्म-कर्म्म का समुच्चय ही इस सगुणेश्वरप्रजापति का प्रातिस्विक स्वरूप है, जैसा कि पूर्व के 'ब्रह्म-कर्म्मपरीक्षाप्रकरण' में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

इस ब्रह्म-कर्म्म समष्टि का विभिन्न तीन संस्थाओं में वितान (व्याप्ति-फैलाव) होता है। वे ही तीनों संस्थाएं उपनिषदों में क्रमशः 'ओङ्कार'-'अहस्कार' 'अहङ्कार' नामों से प्रसिद्ध हुई हैं। ओङ्कार 'ईश्वर' है, अहस्कार 'जगत्' है, एवं अहङ्कार 'जीव' है। ईश्वर-जगत्-जीव का समुच्चय ही 'सर्वम्' है। ईश्वर की उपनिषत् (मूलप्रतिष्ठा) 'ओम्' है—'तस्योपनिषदोमिति'। जगत की उपनिषत् 'अहः' है—'तस्योपनिषदहरिति'। जीव की उपनिषत् 'अहम्' है—'तस्योपनिषदहमिति'।

ईश्वरसंस्था में ब्रह्म-कर्म्म (ज्ञान-क्रिया), दोनों पूर्णसमृद्ध हैं, वीर्य्ययुक्त हैं, विकसित हैं। परन्तु अविद्याप्रधान, गुणमयी योगमाया के अनुग्रह से (शुक्रशोणित के मिथुनभाव में प्रविष्ट होने वाले औपपातिक आत्मरूप) जीव में दोनों हीं अपूर्ण हैं, अविकसित हैं, अतएव यह अपूर्ण है। इस में यद्यपि ज्ञान-कर्म्म, दोनों हीं विद्यमान हैं, परन्तु अविद्यादि दोषों के कारण, ईश्वरप्रदत्त इस की ये दोनों शक्तियां वीर्य्यभावमूलक विकास से वञ्चित रहतीं हैं। यही अल्पता जीव के दुःखी बने रहने का प्रधान हेतु है, जैसा कि 'आत्मपरीक्षाप्रकरण' में स्पष्ट किया जा चुका है। चूंकि जीवात्मा उस आनन्दघन का अंश है, अतएव आनन्द की इच्छा रखना इस की स्वाभाविक वृत्ति बन जाती है। परन्तु आनन्द विकास के हेतुभूत ज्ञान-कर्म्म विभूतियों के अविद्याग्रस्त रहने से सतत आनन्द की कामना करता हुआ भी यह शान्तिलक्षण इस वास्तविक ईश्वरीयानन्द से वञ्चित ही रहता है। "ईश्वरवत् यह भी नित्यानन्दमूर्त्ति बन जाय, अल्पतामूलक, अतएव दुःखमूलक सांसारिक वातावरणों से नित्य आक्रान्त रहता हुआ

---

१ "अंशो, नानाव्यपदेशात्, अन्यथा चापि, दाशकितवादित्वमधीयत एके"

—ब्रह्मसूत्र० २।३।१७ ४३

भी यह अपनी पूर्णता से विचलित न हो, कभी इस की स्वाभाविक शान्ति-प्रतिष्ठा में कोई बाधा उपस्थित न हो" यही इस जीव का परम पुरुषार्थ है। परन्तु·········।

परन्तु शक्ति की कमी के कारण यह उन भौतिक आक्रमणों का सामना करने में अपने आप को असमर्थ पाता हुआ संत्रस्त बना रहता है। इस की शक्ति अल्प, वह आक्रमण महान्। दोनों के संघर्ष में आक्रमणकारी भौतिक विषय विजेता बन जाते हैं, यह सर्वथा परास्त हो जाता है। अब किसी ऐसे उपाय का अन्वेषण करना चाहिए, जिस से जीव की ज्ञान-कर्म्म शक्तियां अपनी अपूर्णता छोड़ कर पूर्णरूप से विकसित हो जायँ। जिस दिन ये दोनों आध्यात्मिक शक्तियां पूर्ण विकसित हो जायँगीं, जीवात्मा आगन्तुक अपूर्णभाव से विमुक्त होता हुआ पूर्ण बन जायगा, एवं 'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते' को चरितार्थ कर देगा।

इस पूर्णदशा में आता हुआ अहङ्कारोपनिषल्लक्षण जीवात्मा ओङ्कारोपनिषल्लक्षण पूर्णेश्वर के साथ युक्त होता हुआ अहस्कारोपनिषल्लक्षण आधिभौतिक जगत्प्रपञ्चों में व्याप्त रहता हुआ भी नित्य-शान्त बना रहता है। अवश्य ही इस पूर्णशक्तिलाभ के लिए इसे पूर्णशक्तिशाली पूर्णेश्वर की शरण में जाना पड़ेगा। जो वस्तु (पूर्णता) जहां (इश्वर में) होगी, वहीं से तो वह मिल सकेगी। फलतः शान्ति-लक्षण आनन्द की इच्छा रखने वाले जीवात्मा को अपनी ज्ञान कर्म्म शक्तियों को समृद्ध बनाने के लिए ज्ञान-कर्म्म शक्तिघन ईश्वरप्रजापति की ही उपासना करनी पड़ेगी। अंशरूप जीव अंशीलक्षण ईश्वर के उप (समीप) आसन (बैठने) से ही शक्ति लाभ कर सकेगा।

चूंकि उस में शक्तियाँ दो हैं, दोनों के आगमन के विना पूर्णता असम्भव है एवं विना पूर्णता के भूमालक्षण आनन्द की प्राप्ति असम्भव है, अतएव इसे अपने कर्म्मभाग से तो ईश्वरीय कर्म्म की उपासना करनी पड़ेगी, एवं ज्ञानभाग से ईश्वरीय ज्ञान का आश्रय लेना पड़ेगा। अपने कर्म्म, तथा ज्ञान को उस के कर्म्म, तथा ज्ञान से (अन्तर्य्याम सम्बन्ध द्वारा) मिला देना पड़ेगा। यद्यपि यह बात ठीक है कि, आज भी हम (जीवात्मा) उस की ज्ञान-कर्म्मविभूतियों से वञ्चित नहीं हैं। उस की इन दोनों शक्तियों का सर्वत्र सदा ही समरूप से आगमन होता रहता है। परन्तु जिस प्रकार तैलरञ्जित वस्त्र के साथ सतत युक्त रहता हुआ भी रङ्ग वस्त्र से पृथक् सा रहता है, एवमेव अविद्यारूप तैलावरण के मध्यस्थ बने रहने से उन का यह स्वाभाविक आगमन हमारा कोई उपकार नहीं कर सकता। हमें श्रद्धा-उपनिषत्-विद्या, आदि उपायों को आगे करते हुए आवरणों को हटाकर ही उन शक्तियों का

अनुगमन करना पड़ेगा। एवं इन मध्यस्थ अन्तरायों के हटने पर ही उन शक्तियों का स्रोत हमारी अल्पशक्तियों में प्रवाहित होगा। तभी हम अपने पुरुपार्थसाधन में सफल बन सकेंगे।

उक्त विभूतिस्वरूप-निदर्शन से यह सिद्ध हो जाता है कि, जीवात्मा को अपने इसी जीवन में दो पुरुपार्थ सिद्ध करने हैं। 'कर्म्मपुरुपार्थ' पहिला पुरुपार्थ है, 'ज्ञानपुरुपार्थ' दूसरा पुरुपार्थ है। पुरुपार्थ का स्वरूप 'क्रत्वर्थ' से वना करता है, यह भी एक माना हुआ सिद्धान्त है। उदाहरण के लिए पाककर्म्म को ही लीजिए। पाककर्म्म एक पुरुपार्थकर्म्म है। परन्तु तवतक इस की सिद्धि असम्भव है, जवतक कि आटा, दाल, घृत, अग्नि, चूल्हा, फूत्कार, पानी आदि के सहयोग से अवान्तर कर्म्म नहीं कर लिए जायँ। इन्हीं अवान्तर अनेक कर्म्मों की समष्टि से 'पाककर्म्म' सम्पन्न होता है। पाककर्म्म एक क्रतु है, जो कि क्रतु पुरुप का हितसाधन करता हुआ पुरुपार्थ कहलाने वाला है। परन्तु इस क्रतुलक्षण पुरुपार्थ कर्म्म की सिद्धि के लिए पूर्वोक्त अनेक कर्म्म करना आवश्यक है। चूंकि इन अनेक कर्म्मों से इस क्रतुलक्षण पाककर्म्म का स्वरूप सम्पन्न होता है, अतएव इन अवान्तर कर्म्मों को 'क्रत्वर्थ' (क्रतुलक्षण पुरुपार्थ के लिए होने वाले) कर्म्म कहना अन्वर्थ वनता है। इस सामान्य परिभापा के अनुसार जीवात्मा को कर्म्म-ज्ञानलक्षण दोनों पुरुपार्थों को सिद्ध करने के लिए भी दोनों के स्वरूप सम्पादन के लिए क्रत्वर्थलक्षण कर्म्म, एवं क्रत्वर्थलक्षण ज्ञानभाव का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है।

अव इस सम्वन्ध में यह विचार करना है कि, ज्ञानपुरुपार्थ का तो क्रत्वर्थ कौन वनता है? एवं कर्म्मपुरुपार्थ का क्रत्वर्थ कौन वनता है?। उत्तर स्पष्ट है। कर्म्म का स्वरूप ज्ञान से निष्पन्न हुआ करता है, एवं ज्ञान का उदय कर्म्म से हुआ करता है। पुरुपार्थकर्म्म का मूलाधार ज्ञान वनता है, पुरुपार्थज्ञान का मूलाधार कर्म्म वनता है। ऐसी दशा में हमें मान लेना पड़ेगा कि, जीवात्मा को अपने कर्म्मलक्षणपुरुपार्थ का स्वरूपसम्पादन करने के लिए ज्ञानलक्षण क्रत्वर्थ का आश्रय लेना पड़ेगा, एवं ज्ञानलक्षणपुरुपार्थ का सम्पादन करने के लिए कर्म्मलक्षण क्रत्वर्थ का अनुगमन करना पड़ेगा। पुरुपार्थलक्षण, अतएव 'विधेय' रूप कर्म्म की सिद्धि के लिए क्रत्वर्थ लक्षण ज्ञान को 'उद्देश्य' वनाना पड़ेगा, एवं पुरुपार्थलक्षण विधेय ज्ञान की सिद्धि के लिए कर्म्म को उद्देश्य वनाना पड़ेगा। इस प्रकार हमें अपने जीवन में क्रत्वर्थ लक्षण, उद्देश्यात्मक 'ज्ञान', पुरुपार्थलक्षण, विधेयात्मक 'कर्म्म', क्रत्वर्थ लक्षण, उद्देश्यात्मक 'कर्म्म', एवं पुरुपार्थलक्षण, विधेयात्मक 'ज्ञान', इन चार ज्ञानकर्म्मों का

सम्पादन करना पड़ेगा। परिणामतः चार कर्त्तव्य हमारे जीवन के कर्त्तव्य मानें जायँगे, जिन्हें कि अपनी इसी आयु में हमें सम्पन्न कर लेना है।

१—उद्देश्यात्मक—क्रत्वर्थलक्षण— 'ज्ञान' (साधन)		
२—विधेयात्मक—पुरुषार्थलक्षण— 'कर्म्म' (साध्य)		
३—उद्देश्यात्मक—क्रत्वर्थलक्षण— 'कर्म्म' (साधन)	}	—'ज्ञानकर्म्मचतुष्टयी'
४—विधेयात्मक—पुरुषार्थलक्षण— 'ज्ञान' (साध्य)		

अपनी इसी आयु में हमें उक्त चारों कर्त्तव्यों का पालन करना है। एवं यह भी सिद्ध विषय है कि, सर्वथा विभिन्न इतिकर्त्तव्यता रखने वाले इन चारों कर्त्तव्यों का अनुष्ठान एक ही समय में सम्भव नहीं है। फलतः कर्त्तव्य भेद से अपनी आयु को चार भागों मे विभक्त करना हमारे लिए आवश्यक हो जाता है। जिस 'आयु' को हम चार सम भागों में विभक्त करेंगे, वह आयु कितने वर्षों की ? पहिले इस प्रश्न की भी मीमांसा कर लेनी चाहिए।

आयुः स्वरूपपरिचय—

आयु के सम्बन्ध में पुराणशास्त्र ने जो व्यवस्था की है, उस के उपबृंहण का न तो प्रकृत में अवसर ही है, एवं न अर्थवादों से सम्बन्ध रखने वाली पौराणिक आयु की प्रकृत में कोई अपेक्षा ही है। इस सम्बन्ध में तो 'पुराणरहस्य' नामक ग्रन्थ में प्रतिपादित 'पौराणिक आयुर्विचार' नामक प्रकरण ही देखना चाहिए। हां, इस सम्बन्ध में पाठकों को यह तो अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि, 'अहः' (दिन)—'मास' (महीना)—'सम्वत्सर' तीनों शब्द विचाली मानें गए हैं। मनुष्यायु के सम्बन्ध में जहां जहां सम्वत्सर शब्द प्रयुक्त हुआ है, सर्वत्र वह 'अहः' का वाचक है। उदाहरण के लिए—'अमुक ऋषि ने ३६००० छत्तीस हजार वर्ष तप किया' इसी पौराणिक वचन को लीजिए। इस वाक्य का अर्थ होगा—'अमुक ने ३६००० छत्तीस हजार दिन तक—पूरे सौ वर्ष—तप किया'। स्वयं मीमांसाशास्त्र ने—

१—'सहस्रसम्वत्सरं, तदायुषामसम्भवान्मनुष्येषु'

२—'सम्वत्सरो विचालित्वात्'

३—'अहानि वा ऽभिसंख्यत्वात्'

—जै० मीमांसादर्शन० ६।७।१३।३१-३६-४० सू०।

इत्यादि रूप से इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है। निम्न लिखित पौराणिक वचन भी इसी पक्ष का समर्थन कर रहे हैं—

१—'सम्वत्सरशतं नृणां परमायुर्निरूपितम्'।

—श्रीमद्भागवत ३।११।१२

२—पुंसो वर्षशतं ह्यायुस्तदर्द्धं चाजितात्मनः।
निष्फलं यदसौ रात्र्यां शेतेऽन्धं प्रापितस्तमः॥

—श्रीमद्भागवत ६।६।६

३—शतायुरुक्तः पुरुषः सर्ववेदेषु वै यदा।
नाप्नोत्यथ च तत्सर्वमायुः केनेह हेतुना॥
४—शतायुरुक्तः पुरुषः शतवीर्य्यश्च जायते।
कस्मान्म्रियन्ते पुरुषा बाला अपि पितामह!॥

—अनुशासनपर्व, महाभारत

इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में तो जहां कहीं आयु के सम्बन्ध में कुछ भी चर्चा हुई है, सर्वत्र 'शतायुः' की ही व्यवस्था उपलब्ध हुई है। जैसा कि 'शतायुर्वै पुरुषः शतवीर्य्यः'—'शतं वर्षाणि जीव्यासम्'—'शतं जीव शरदो वर्द्धमानः, शतं हेमन्तान्, शतमु वसन्तान्' इत्यादि श्रौतवचनों से प्रमाणित है। यद्यपि दोषविशेषों से मनुष्य सौ वर्ष से पहिले भी मरता देखा गया है, एवं गायत्र-त्रैष्टुभ-जागतस्तोमों की (युग्मस्तोमों की) समष्टिरूप 'छन्दोमायाग' से,आयुर्वेदोक्त कल्पादि प्रयोगों से, तथा योगशास्त्रोक्त योगप्रक्रियाविशेषों से मनुष्य सौ वर्ष से अधिक भी जीवित देखा गया है, परन्तु प्रकृति के सामान्य नियम के अनुसार इसकी पूर्णायु सौ वर्ष की ही मानी गई है।

प्रकृति से इसे जितने आयु सूत्र मिलते हैं, उनके आधार पर यह सौ वर्ष तक ही जीवित रह सकता है। ज्ञानकर्म्ममय आत्मा पाञ्चभौतिक शरीर में जब तक प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक मनुष्य जीवित रहता है। यह आत्मा रोदसीब्रह्माण्ड के अधिनायक सूर्य्य से सम्बन्ध रखता है। सूर्य्य से सम्बद्ध होने के कारण, दूसरे शब्दों में सूर्य्य का प्रत्यंश होने के कारण ही आत्मा 'मनः-प्राण-वाङ्मय' बना रहता है, जैसा कि—'सूर्य्य आत्मा जगत-

स्तस्थुपश्च'–'स वा एप आत्मा वाङ्मयः, प्राणमयो, मनोमयः' इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। पञ्चपर्वात्मक, प्रकृतिमण्डल के केन्द्र[1] में प्रतिष्ठित, सर्वलोकसाक्षी, मनः-प्राण-वाङ्मय सूर्य्य के द्वारा ही मनः-प्राण-वाङ्मय इस भूतात्मा का विकास हुआ है। सूर्य्यदेवता ही अपने आयुर्भाग से पार्थिव भूतात्मा (जीवात्मा) का स्वरूप-सम्पादन करते हुए इसमें परिगणित आयु सूत्र प्रतिष्ठित करते हैं।

स्वयं सूर्य्यदेवता 'ज्योतिः, गौः, आयुः' नामक तीन 'मनोताओं' के आधार पर स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है, जैसा कि—'ईशोपनिपद्विज्ञानभाष्य' के 'मनःप्राणवाक् के त्रिवृद्भाव की व्यापकता' नामक प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादित है। सूर्य्य के ज्योतिर्भाग से त्रयस्त्रिंशत् (३३) ज्योतिर्म्मय प्राणदेवताओं का विकास हुआ है, एवं इन्हीं ज्योतिर्म्मय प्राणदेवताओं के पारस्परिक यजन से (सङ्गतिकरण से) 'ज्योतिष्टोम' नामक सप्तसंस्थ 'सम्वत्सरयज्ञ' का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। सूर्य्य के गौभाग से अग्निहोत्र द्वारा भूतसृष्टि (मर्त्यसृष्टि) का विकास हुआ है, एवं इन्हीं गोरूपभूतों के समन्वय से 'गोष्टोम' नामक यज्ञ का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। सूर्य्य के आयुर्भाग से आत्मसृष्टि हुई है, एवं इसी आयुर्भाग से 'आयुष्टोम' नामक यज्ञ उत्पन्न हुआ है।

देवप्राणात्मक सौर-ज्योतिष्टोम से हमारी इन्द्रियों का विकास हुआ है, जो कि इन्द्रियाँ 'आध्यात्मिक देवता' नाम से प्रसिद्ध हैं। भूतात्मक सौर गोष्टोम से हमारे शरीर की स्वरूप निष्पत्ति हुई है, एवं आयुर्म्मय सौर आयुष्टोम से हमारे भूतात्मा की प्रतिष्ठा हुई है। सौर-ज्योतिर्भाग प्राणप्रधान है, गौभाग वाक्प्रधान है, एव आयुर्भाग मनःप्रधान है। तीनों में यद्यपि मनः-प्राण-वाक्, तीनों का समन्वय है, तथापि प्रधानता-अप्रधानता के तारतम्य से तीनों को क्रमशः 'प्राणमय-वाङ्मय-मनोमय' कह दिया जाता है। चूंकि सूर्य्यदेवता अपने ज्योतिर्भाग से प्राणमय है, अतएव इस दृष्टि से इन के लिए 'प्राणः प्रजानामुदयत्येप सूर्य्यः' यह कहा जाता है। अपने गोभाग से ये वाङ्मय हैं, इसी वाक्भाग से भौतिकवर्ग की प्रसूति हुई है, इसी दृष्टि से इन के लिए—'नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः' यह कहा जाता है। एवं अपने आयु भाग से ये मनोमय हैं, इसी मनोभाग से ये पार्थिव भौतिक सृष्टि के आत्मा बनते हैं, इसी दृष्टि से इन के लिए—'सूर्य्यआत्मा जगतस्तस्थुपश्च' यह कहा जाता है।

---

१ "आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्" —शत० ११।५।८।३

प्राणमय ज्योतिर्भाग क्रियाशक्तिमय है, इसी से पार्थिवप्रजा को क्रियाशक्ति मिल रही है। वाङ्मय गोभाग अर्थशक्तिमय है, इसी से हमें अर्थशक्ति मिल रही है। एवं मनोमय आयुर्भाग ज्ञानशक्तिमय है, इसी से हमें ज्ञानशक्ति मिल रही है। आध्यात्मिक देवता (इन्द्रियाँ), भूत (शरीर), आत्मा, आध्यात्मिकज्ञान-क्रिया-अर्थ- शक्तियाँ, सब कुछ ज्योति-गौ-रायुमय सूर्य्यदेवता की कृपा पर ही अवलम्बित हैं। सूर्य्य ही हमारे प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण हैं। वे, और हम एक हैं, 'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्'—'योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्' ही उस का और हमारा सम्बन्ध है। जब तक उन के साथ हमारा आदान-प्रदानात्मक सम्बन्ध बना रहता है, तभीतक हमारा जीवनयज्ञ सुरक्षित रहता है। इस स्वाभाविक यज्ञसम्बन्ध की विच्छित्ति का ही नाम मृत्यु है, एवं यज्ञसम्बन्ध की रक्षा का ही नाम 'जीवन' है।

सौर-मनोतानुबन्धीसृष्टिविवर्त्त—

१—१—ज्योतिष्टोमः—ज्योतिर्म्मयः—प्राणमूर्त्तिः—प्राणप्रधानः।
२—गोष्टोमः— गोमयः— वाङ्मूर्तिः— वाङ्प्रधानः।
३—आयुष्टोमः— आयुर्म्मयः— मनोमूर्त्तिः—मनःप्रधानः।

२—१—मनोवाग्गर्भितः प्राणप्रधानः—ज्योतिष्टोमः—मनो-वाक्-प्राणमयः।
२—मनःप्राणगर्भितः-वाक्प्रधानः—गोष्टोमः— मनः-प्राण-वाङ्मयः।
३—प्राणवाग्गर्भितः-मनःप्रधानः—आयुष्टोमः— वाक्-प्राण-मनोमयः।

३—१—त्रिमूर्त्तिः—ज्योतिष्टोमः—ततः देवसृष्टिः (क्रियाप्रधाना)।
२—त्रिमूर्त्तिः—गोष्टोमः— ततः-भूतसृष्टिः (अर्थप्रधाना)।
३—त्रिमूर्त्तिः—आयुष्टोमः— ततः-आत्मसृष्टिः (ज्ञानप्रधाना)।

४—१—देवसृष्टिमयेन-ज्योतिष्टोमेन— इन्द्रियवर्गस्वरूपनिष्पत्तिः।
२—भूतसृष्टिमयेन-गोष्टोमेन— पाञ्चभौतिकशरीरस्वरूपनिष्पत्तिः।
३—आत्मसृष्टिमयेन-आयुष्टोमेन—ज्ञान-क्रिया-र्थमयात्मस्वरूपनिष्पत्तिः।

'सूर्य्यो बृहतीमध्यूदस्तपति'—'बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः' 'मध्ये एकल एव-स्थाता' इत्यादि श्रौत-वचनों के अनुसार ज्योति-गौ-रायुमय, ज्ञान-क्रिया-अर्थप्रवर्त्तक सूर्य्य

देवता खगोलीय 'बृहतीछन्द' (विष्वद्वृत्त) के केन्द्र में प्रतिष्ठित हैं। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, जगती, ये सात छन्द ही वर्त्तमान ज्योतिःशास्त्र में सात 'अहोरात्रवृत्त' (पूर्वापरवृत्त) नाम से प्रसिद्ध हैं, जैसा कि, संस्कारविज्ञानान्तर्गत 'उपनयन-संस्कारविज्ञान' प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। इन्हीं सातों के सम्बन्ध से अहोरात्र (दिन-रात) की स्वरूप निष्पत्ति होती है। 'सप्तदेवच्छन्दोविज्ञान' के अनुसार उक्त सातों छन्दों के क्रमशः १ ६-(२४), २ ७-(२८), ३ ८-(३२), ४ ९-(३६), ५ १०-(४०), ६ ११-(४४), ७ १२-(४८), अक्षर मानें गए हैं। चौथा बृहतीछन्द सातों छन्दों का केन्द्र है। तीन छन्द उत्तर खगोल में हैं, तीन छन्द दक्षिण खगोल में हैं। ये सातों छन्द सूर्य्यरथ के सप्त-अश्व हैं, जैसा कि अन्यत्र शतपथादि भाष्यों में विस्तार से निरूपित है। इन सातों छन्दों में से प्रकृत में—मध्यस्थ 'बृहतीछन्द' की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। बृहतीछन्द मध्य में है, इसका प्रत्येक चरण ९-९-अक्षरों का है, फलतः चार-चरणों के मिलकर ३६ अक्षर हो जाते हैं। यहीं सूर्य्यदेवता की प्रतिष्ठा बतलाई गई है। बृहतीछन्द का प्रत्येक अक्षर सूर्य्य के मनोवाङ्मयप्राण की प्रतिष्ठा बना हुआ है। बृहतीछन्द के ३६ अक्षरों के सम्बन्ध से यह आत्मरूप सौर प्राण भी ३६ भागों में विभक्त हो रहा है। आगे जाकर 'वषट्कार'[1] से सम्बन्ध रखने वाली 'अभिप्लिवस्तोम'[2] सम्बन्धिनी 'वाक्साहस्री' के सम्बन्ध से बृहतीछन्द के ३६ अक्षरों से ३६ भागों में विभक्त आत्मरूप प्रत्येक सौर प्राण सहस्र-सहस्र भाव से युक्त हो जाता है, जैसा कि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है—

---

१ 'वषट्कार' का संक्षिप्तस्वरूप पूर्व के 'वेदस्वरूपनिर्वचन' परिच्छेद में बतलाया जा चुका है।

२ पृष्ठ्यस्तोम, तथा अभिप्लवस्तोम भेद से वषट्कारमण्डल में दो तरह के स्तोम प्रतिष्ठित रहते हैं। वर्त्तुलवृत्ताकार, त्रिवृत्-पञ्चदश-सप्तदश-एकविंश-त्रिणव-त्रयस्त्रिंशस्तोम 'पृष्ठ्यस्तोम' कहलाते हैं, एवं पिण्ड के केन्द्र से चारों ओर रश्मिभावरूप से प्रसार करते हुए परिधि तक व्याप्त रहने वाले ३६ हजार रश्मियों में परिणत, बृहतीछन्द के सम्बन्ध से ३६ भागों में विभक्त स्तोम 'अभिप्लवस्तोम' कहलाते हैं। चूंकि आयु का इन अभिप्लवस्तोमों के साथ ही सम्बन्ध है, ये ही ३६ स्तोम आयु के स्वरूप समर्थक बनते हैं, अतएव इस प्रकरण में वषट्कार मण्डल से सम्बन्ध रखने वाले अभिप्लवस्तोमात्मक वाक् के सहस्रभावों का ही ग्रहण हुआ है। (विशेष विवरण देखिए उपनिषद्विज्ञान भाष्यभूमिका २ खण्ड)।

सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्यावापृथिवी तावदित्तत् ।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् ॥

—ऋक् सं० १०।११४।८ ।

इसी सहस्र भाव के कारण सूर्य्य 'सहस्रांशु' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। सहस्रभावात्मक ये ही सूर्य्यप्राण हमारी 'आयुःसाहस्री' के स्वरूप समर्थक बनते हैं, जैसा कि 'आयुर्वै सहस्रम्' (तै० ब्रा० ३।८।१५।३।) इत्यादि 'कृष्णश्रुति' से स्पष्ट है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, देवप्रवर्त्तक ज्योतिर्भाग, भूतप्रवर्त्तक गौभाग, आत्मप्रवर्त्तक आयुर्भाग, सूर्य्य के इन तीन मनोताओं में से 'आयु' नामक मनोता उक्त ३६ बृहतीप्राणों से युक्त होकर आरम्भ में ३६ भागों में विभक्त होता है, आगे जाकर वाक्साहस्री के सम्बन्ध से प्रत्येक आयु प्राण सहस्र-भाव के सम्बन्ध से ३६००० (छत्तीस हजार) संख्याओं में परिणत हो जाता है। इसी संख्यासमष्टि को वैदिक-सङ्केत भाषा में 'बृहतीसहस्र' कहा गया है। 'बृहती' बृहतीछन्द का वाचक है, यह छन्द चूंकि ३६ अक्षर का है, अतएव 'बृहती' का साङ्केतिक अर्थ होता है ३६,। इसके आगे सहस्र का सम्बन्ध जोड़ देने से' बृहतीसहस्र' का अर्थ होता है '३६ सहस्र'। आयुःप्राण ही प्राणियों का मित्र है, यही जीवन का स्वरूप रक्षक है। सम्पूर्ण विश्व, तथा विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित प्रजावर्ग का मित्र होने से ही यह 'आयुप्राण', किंवा 'बृहतीप्राण' 'विश्वामित्र' कहलाया है। जिस महर्षि ने सब से पहिले सौर इन्द्रतत्त्व की उपासना (परीक्षा) के द्वारा इस प्राण का साक्षात्कार किया, वे महर्षि भी 'विश्वामित्र' नाम से ही प्रसिद्ध हुए। विश्वामित्र ऋषि द्वारा दृष्ट इसी विश्वामित्र प्राण का दिग्दर्शन कराते हुए महर्षि 'ऐतरेय' कहते हैं :—

'विश्वामित्रं ह्येतदहः शंसिष्यन्तमिन्द्र उपनिषसाद। स हान्नमित्यभिव्याहृत्य बृहतीसहस्रं शशंस। तेनेन्द्रस्य प्रियं धामोपेयाय। तमिन्द्र उवाच—ऋषे! प्रियं वै धामोपागाः। स वा ऋषे द्वितीयं शंसेति। स हान्नमित्येवाभिव्याहृत्य बृहतीसहस्रं शशंस। तेनेन्द्रस्य प्रियं धामोपेयाय। तमिन्द्र उवाच—ऋषे! प्रियं वै धामोपागाः। स वा ऋषे! तृतीयं शंसेति। स हान्नमित्येवाभिव्याहृत्य बृहतीसहस्रं शशंस। तेनेन्द्रस्य प्रियं धामोपेयाय। तमिन्द्र उवाच—ऋषे! प्रियं

वै धामोपागाः वरं ते ददामीति। स होवाच—त्वामेव जानीयामिति। तमिन्द्र उवाच—प्राणो वा अहमस्मि-ऋषे! प्राणस्त्वं, प्राणः सर्वाणि भूतानि, प्राणोह्येष-य एष तपति। स एतेन रूपेण सर्वा दिशो विष्टोऽस्मि। तस्य मेऽन्नं मित्रं दक्षिणम्। तद्वैश्वामित्रमेष तपन्नेवास्मीति होवाच।

तद्वा इदं बृहतीसहस्रं सम्पन्नम्। तस्य यानि व्यञ्जनानि-तच्छरीरं, यो घोषः-स आत्मा, य ऊष्माणः-स प्राणः। एतद्ध स्म वै तद्विद्वान् वसिष्ठो वसिष्ठो बभूव, तत एतन्नामधेयं लेभे। एतदु हैवेन्द्रो विश्वामित्राय प्रोवाच। एतदु हैवेन्द्रो भरद्वाजाय प्रोवाच। तस्मात् स तेन बन्धुना यज्ञेषु हूयते।

तद्वा इदं बृहतीसहस्रं सम्पन्नम्। तस्य वा एतस्य बृहतीसहस्रस्य सम्पन्नस्य षट्त्रिंशतमक्षराणां सहस्राणि भवन्ति। तावन्ति शतसम्वत्सरस्याह्नां सहस्राणि भवन्ति। व्यञ्जनैरेव रात्रीराप्नुवन्ति, स्वरैरहानि।

तद्वा इदं बृहतीसहस्रं सम्पन्नम्। तस्य वा एतस्य बृहतीसहस्रस्य सम्पन्नस्य परस्तात् प्रज्ञामयो देवतामयो ब्रह्ममयोऽमृतमयः। सम्भूय देवता अप्येति य एवं वेद। तद्योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्। एतदु हैवोपेक्षेत, उपेक्षेत।

—ऐतरेयआरण्यक, २।२-३।

उक्त श्रुति का रहस्यार्थ तो 'सन्ध्याविज्ञानादि' में द्रष्टव्य है। यहां केवल इसी सामान्य अर्थ पर विश्राम कर लेना चाहिए कि, एकबार विश्वामित्र ने इन्द्रस्वरूप परिज्ञान के लिए बृहतीछन्द से छन्दित सहस्र मन्त्रों के द्वारा 'अविवाक्यमहः' नाम से प्रसिद्ध इन्द्रान्नभूत 'महाव्रत' नामक अहः का शंसन किया। विश्वामित्र के इस कर्म्म से इन्द्र प्रसन्न हुए, एवं प्रसन्न होकर विश्वामित्र के पास आकर कहने लगे कि, हे ऋषे! आपने महाव्रत अहः का शंसन करते हुए मुझे बहुत प्रसन्न किया है। मैं चाहता हूं कि आप दो बार उसी बृहती सहस्र से पुनः शंसन कर्म्म करें। विश्वामित्र ने ऐसा ही किया। महाव्रतात्मक इन बृहती-

सहस्रों से पूर्णरूपेण तुष्ट होते हुए इन्द्र कहने लगे कि, हे ऋषे ! आप मुझ से अभिलषित 'वर' मांगिए ! । विश्वामित्र ने उत्तर में "मैं आप को ही जान जाऊं" यह कहा । इन्द्र कहने लगे, ऋषे ! मैं (बृहतीसहस्रात्मक) प्राण ही हूं, तुम भी प्राण ही हो, सम्पूर्णभूत प्राणात्मक है, यह साक्षात् प्राणमूर्त्ति है, जो कि (सूर्य्य) तप रहा है । मैं अपने इसी प्राणरूप से सम्पूर्ण दिशाओं मे व्याप्त हो रहा हूं—(नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन)। मुझ प्राण का बृहतीसहस्रात्मक महाव्रत लक्षण अन्न परम मित्र है । इस अन्न से मैं विश्वामित्र बना हुआ हूं । इसी रूप से मैं तप रहा हूं । शब्दात्मक बृहतीसहस्र के व्यञ्जन शरीर है, स्वर आत्मा है, शब्दोपदान भूता ऊष्मा (अग्नि) प्राण है । इसी विश्वामित्र प्राण के परिज्ञान, तथा उपासना से वसिष्ठ वसिष्ठ (वसीयान्) हो गए हैं । स्वयं इन्द्र ने विश्वामित्र, तथा भरद्वाज के लिए इसी प्राण का स्पष्टीकरण किया है । इस बृहतीसहस्र के ३६००० अक्षर होते हैं । सौ वर्षों के दिन भी इतने हीं होते हैं । व्यञ्जनों से रात्रियों की प्राप्ति होती है, एवं स्वरों से दिनों की प्राप्ति होती है । बृहतीसहस्रात्मक यह प्राण प्रज्ञामय है, ब्रह्ममय है, अमृतमय है । जो प्राण के इस स्वरूप को जान जाता है, वह इन प्राणदेवताओं के द्वारा पूर्णायु प्राप्त करता है । इस प्राणाभेदसम्बन्ध से जो मैं (आध्यात्मिक प्राण) हूं, वही यह (सौर आध्यात्मिक प्राण) है, जो वह है सो ही मैं हूं । गुरुमुख से ही इस प्राण का गुप्त रहस्य जानना चाहिए, अवश्य ही जानना चाहिए" ।

श्रुति ने तीन बृहतीसहस्र बतलाए हैं । इस का तात्पर्य्य यही है कि, आयु से सम्पन्न होने वाला आत्मा मनः-प्राण-वाङ्मय है । एवं इस की प्रत्येक कला बृहतीसहस्र से युक्त है । मनः-प्राण-वाङ्मय सूर्य्य से हमें बृहतीसहस्र (३६०००) ही तो मन (ज्ञानकलाएं) मिलते हैं, बृहतीसहस्र ही प्राण (क्रियाकलाएं) मिलते हैं, एवं बृहतीसहस्र ही वाक्कलाएं (अर्थकलाएं) मिलतीं हैं । इन तीन बृहतीसहस्रों को लक्ष्य में रख कर ही श्रुति ने विश्वामित्र के द्वारा तीन वार बृहतीसहस्र का शंसन बतलाया है । मनः-प्राण वाक्, तीनों हीं कलाएं चूंकि अन्योऽन्य अविनाभूत हैं । अतएव आगे जाकर इन तीनों की तीन बृहतीसहस्रियां एक ही साहस्री रूप में परिणत हो जाती हैं । जैसा कि निम्न लिखित वाजसनेयश्रुति से स्पष्ट है—

तदिदं मनः सृष्टमाविरबुभूषत्—निरुक्ततरं मूर्त्ततरम् । तदात्मानमन्वैच्छत्, तत्तपोऽतप्यत, तत् प्रामूर्च्छत्, तत् षट्त्रिंशतं सहस्राण्यपश्यत्-आत्मनोऽग्नीनर्कान् मनोमयान् मनश्चितः+ + + + । सेयं वाक् सृष्टाराचि० । सा प्रामूर्च्छत्, सा

षट्त्रिंशतं सहस्राण्यपश्यत्० वाङ्मयान्० । सोऽयं प्राणः सृष्ट आवि० । स प्रामूर्च्छत्, स षट्त्रिंशतं सहस्राण्यपश्यत्० प्राणमयान्० । तेषामेकैक एव तावान्, यावानसौ पूर्वः ।

—शत० ब्रा० १०।५।३

मनः-प्राण वाङ्मय, बृहतीसहस्रपरिमित, आयुरूप सौरप्राण ही हमारी अध्यात्मसंस्था में प्रतिदिन (मनःप्राणवाङ्मय आत्मा की स्वरूप रक्षा के लिए) मनः-प्राण-वाङ्मय एक एक आयुःसूत्र प्रदान करता है। एक अहोरात्र में एक आयुसूत्र का उपभोग होता है। वहां चूंकि ऐसे छत्तीस हजार आयुःसूत्र हैं, अतः इतने दिन तक ही मनुष्य आयुःप्राण का उपभोग करने में समर्थ बनता है। अनन्तर निधन का साम्राज्य हो जाता है। ३६००० अहोरात्र के १०० वर्ष होते हैं, एवं यही मनुष्यायु का वेदोक्त परिमाण है। अपनी आयु के इन्हीं सौ वर्षों में इसे पूर्वोक्त ऋत्वर्थ-पुरुषार्थ लक्षण ज्ञानकर्म्मचतुष्टयी का स्वरूप सम्पादन करना है।

आश्रमविभाग की मौलिकता—

कर्म्म और ज्ञान, दोनों ही पुरुषार्थों का स्वरूप एक दूसरे से विभिन्न है। अतएव दोनों का सहानुष्ठान सर्वथा असम्भव है। इसी विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए उन विज्ञानवेत्ता महर्षियों ने मनुष्यायु के १०० वर्षों को ५०-५० के क्रम से आरम्भ में दो भागों में विभक्त कर डाला। पहिला विभाग कर्म्मप्रधान बनाया गया, दूसरा विभाग ज्ञानप्रधान माना गया। पाञ्चभौतिक विश्व में स्थूलकर्म्म का प्राथम्य है, एवं सूक्ष्मज्ञान कर्म्ममय विश्व के गर्भ में निगूढ़ है। इसी **'स्थूलारुन्धतीन्याय'** की अपेक्षा से कर्म्मानुष्ठान पहिले रक्खा गया, एवं ज्ञानानुष्ठान को कर्म्मानुष्ठान के अनन्तर स्थान दिया गया। इन दो विभागों के आधार पर ऋषियों ने यह सिद्धान्त निकाला कि, "अपने जीवन के सौ वर्षों को दो भागों में विभक्त कर, प्रथम विभाग में कर्म्मानुष्ठान द्वारा कर्म्मशक्ति का, द्वितीय विभाग में ज्ञानानुष्ठान द्वारा ज्ञानशक्ति का पूर्ण विकास करता हुआ मनुष्य अपने व्यक्तित्व को पूर्णरूप से स्वतन्त्र बना कर उस पूर्णेश्वर की पूर्णता से युक्त होता हुआ कृतकृत्य बन सकता है"।

अब यह सिद्ध हो गया है कि, द्विजाति को अपनी आयु के आरम्भ के ५० वर्षों में ईश्वरीय कर्म्मबल प्राप्त कर उसके द्वारा अपने आध्यात्मिक कर्म्मबल का पूर्ण विकास कर लेना चाहिए। परन्तु अभी एक समस्या और सुलझानी है, जिसका कि दिग्दर्शन तृतीयपरिच्छेद में कराया जा चुका है। कर्म्म, तथा ज्ञान, दोनों ही अपनी अपनी स्वरूपसिद्धि के लिए परस्पर

एक दूसरे के सहयोग की नित्य अपेक्षा रखते हैं। कर्म्म की प्रवृत्ति विना ज्ञान के नहीं होती, एवं ज्ञान का विकास विना कर्म्म के सम्भव नहीं। यदि कोई व्यक्ति शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, अथवा लौकिक ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, तो पहिले उसे तदुपयिक ग्रन्थावलोकन, गुरूपदेशश्रवण, आदि कर्म्मों का अनुगमन करना पड़ेगा। ये कर्म्म हीं ज्ञानोदय के कारण वनते हैं। इसके अतिरिक्त व्यक्ति के ये अध्ययनादि कर्म्म भी ज्ञान को मूल वना कर ही सम्पन्न होंगे। ग्रन्थावलोकन-उपदेशश्रवण लक्षण कर्म्म भी तभी सम्भव हैं, जव कि पहिले से ही आंशिक रूप से योग्यता लक्षण ज्ञान विद्यमान हो। व्यक्ति मे जितनी ज्ञानमात्रा होगी, वह तदनुरूप ही कर्म्म को विकसित कर सकेगा। ऐसी परिस्थिति में यह मान लेना पड़ेगा कि, पूर्वायु में यह व्यक्ति पुरुषार्थलक्षण जिस कर्म्म का अनुष्ठान करने वाला है, पहिले उसे इस कर्म्म की योग्यता के लिए ज्ञानसम्पादन करना आवश्यक होगा; कर्म्मचर्य्या में निपुणता प्राप्त करने के लिए पहिले ज्ञानचर्य्या का आश्रय लेना पड़ेगा। इसी प्राकृतिक स्थिति को लक्ष्य में रख कर ऋषियों नें पूर्वायु के ५० वर्षों को साधनलक्षणा ज्ञानचर्य्या, साध्यलक्षणा कर्म्मचर्य्या की अपेक्षा से २५-२५ के रूप में दो भागों में विभक्त कर डाला। आरम्भ की पञ्चविंशति में यह व्यक्ति कर्म्मकर्तृत्वयोग्यतालक्षण ज्ञान प्राप्त करेगा, यह सञ्चित ज्ञान कर्म्म का उपकारक वनता हुआ 'साधन' माना जायगा। एवं इस ज्ञान से उपकृत कर्म्म 'साध्य' कहा जायगा। साधन ज्ञान क्रत्वर्थ वनता हुआ गौण रहेगा, एवं साध्य कर्म्म पुरुपार्थ वनता हुआ प्रधान रहेगा।

ज्ञान ही को ब्रह्म कहा गया है। चूंकि पूर्वपञ्चविंशति में यह व्यक्ति इसी की चर्य्या का अनुगामी वना रहता है, अतएव इस प्रथमाश्रम को **'ब्रह्मचर्य्याश्रम'** कहा जाता है। इस आश्रम में द्विजातिवालक ऋषिकुल में रह कर विशेप नियमों का पालन करता हुआ ज्ञान सम्पादन करेगा। २५ वें वर्ष में समावर्त्तन संस्कार होगा। स्नातक वन कर घर लौट आवेगा, एवं सञ्चित ज्ञान के आधार पर पुरुपार्थलक्षण गृहस्थ-कर्म्म में प्रवृत्त होता हुआ **'गृहमेधी'** (गृहस्थी) वन जायगा। यह कर्म्मधारा दूसरी पञ्चविंशति की समाप्ति तक (५० वें वर्ष तक) प्रवाहित रहेगी। एवं यही दूसरा **'गृहस्थाश्रम'** कहलाएगा। गृहस्थकर्म्म की परिसमाप्ति पर इस का कर्म्मभाग कृतकृत्य हो जायगा।

इसी प्रकार ज्ञानानुगत उत्तर आयु के ५० वर्षों को भी दो ही भागों में विभक्त किया गया है। उन में पहिला विभाग **'वानप्रस्थाश्रम'** है, दूसरा विभाग **'संन्यासाश्रम'** है।

इस तरह ज्ञान कर्म्म के अन्योऽन्याश्रय से 'कर्म्माश्रम-ज्ञानाश्रम' इन दो आश्रमों के—साधनज्ञानाश्रम (ब्रह्मचर्य्याश्रम), साध्यकर्म्माश्रम (गृहस्थाश्रम), साधनकर्म्माश्रम (वानप्रस्थाश्रम), साध्यज्ञानाश्रम (सन्यासाश्रम), ये चार अवान्तर विभाग हो जाते हैं।

सब से पहिले कर्म्माश्रम की ही मीमासा कीजिए। "सब कर्म्मों का सब व्यक्तियों को समानाधिकार है" इस सिद्धान्त का (पूर्व के वर्णव्यवस्थाविज्ञान में) निराकरण किया जा चुका है। चारों वर्णों के व्यक्तियों के कर्म्म स्व स्व वर्णानुसार सर्वथा नियत हैं। चारों वर्णों मे से केवल द्विजातिवर्ग के लिए (ब्रा० क्ष० वै०) ही उक्त आश्रमव्यवस्था का विधान हुआ है। चौथा शूद्रवर्ग तत्तदाश्रमो मे प्रतिष्ठित तत्तद्वर्णों की परिचर्य्या से ही स्वपुरपार्थसिद्धि मे सफल हो जाता है, जैसा कि आगे जाकर सोदाहरण स्पष्ट कर दिया गया है।

कर्म्माश्रममीमासा—

किसी भी कर्म्म में प्रवृत्त होने के लिए तदनुकूल योग्यतालक्षण अधिकार होना चाहिए। यह अधिकारसमर्पण ही वैदिकपरिभापा मे 'दीक्षा' नाम से प्रसिद्ध है। दीक्षा से युक्त अधिकारी ही दीक्षित कहलाता है। चारो आश्रमों मे पहिला ब्रह्मचर्य्याश्रम ही दीक्षाश्रम माना गया है। इस आश्रम मे दीक्षित ब्राह्मण-गृहस्थ ब्राह्मणधर्म्मानुकूल यज्ञादि कर्म्मों में, क्षत्रियगृहस्थ शासनादि क्षात्रकर्म्मों मे, एव वैश्य-गृहस्थ कृपि-गोरक्षा-वाणिज्यादि विट्-कर्म्मों मे यथाधिकार प्रवृत्त रहता हुआ अपने अपने आधिकारिक पुरुपार्थकर्म्मों को सफल बनाने मे समर्थ होता है।

जो कर्म्म पुरुप का उपकार करते हैं, उन्हें पुरुपार्थकर्म्म' कहा जाता है। ये पुरुपार्थ कर्म्म आर्पसाहित्य में 'धर्म्म, अर्थ, काम, मोक्ष' भेद से चार भागों मे विभक्त माने गए हैं। यदि इन चारों पुरुपार्थकर्म्मों के तारतम्य का विचार किया जाता है, तो हमें इस निष्कर्प पर पहुँचना पडता है कि, धर्म्म, तथा अर्थ, ये दो कर्म्म तो साधनकोटि मे प्रतिष्ठित रहते हुए 'क्रत्वर्थकर्म्म' हैं, एव काम (सुख-समृद्धि), तथा मोक्ष (नि श्रेयस-शान्ति), ये दो कर्म्म साध्यकोटि में अन्तर्भूत होते हुए 'पुरुपार्थकर्म्म' हैं। धर्म्म-अर्थ, इन दोनो साधनों में से धर्म्म का विशेप महत्व है, क्योंकि धर्म्म से अर्थ, काम, मोक्ष, तीनों सम्पत्तियाँ प्राप्त हो जातीं हैं। उधर अर्थ से काम, तथा मोक्ष के साधनरूप धर्म्म का सम्पादन होता है। अर्थ से यथाकथञ्चित् कामप्राप्ति तो फिर भी सम्भव है, परन्तु यह धर्म्मवत् मोक्ष का साक्षात्‌रूप से साधन नहीं बन सकता।

एक सम्पत्तिशाली पुरुष दानादि पुण्य-कर्म्मों से मोक्षसाधन धर्म्मातिशय तो प्राप्त कर सकता है, परन्तु केवल वित्तवल के आधार पर यह अमृतलक्षण मोक्ष का अधिकारी कभी नहीं वन सकता, जैसा कि—'**नामृतत्त्वस्यत्वाशास्ति वित्तेन**' इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। हां, मोक्ष का हेतुभूत धर्म्म अवश्य ही अर्थ द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। अर्थ[1] से पुण्य-कर्म्म रूप धर्म्म, तद्द्वारा मोक्ष, इस प्रकार परम्परया अर्थ भी अवश्य ही मोक्ष का साधन बनता देखा गया है, परन्तु साक्षात् रूप से तो अर्थसम्पत्ति काम, तथा धर्म्म का ही कारण वनती है। धर्म्म सब का उपकारक बनता हुआ सर्वोत्तम है, सर्वज्येष्ठ-श्रेष्ठ है। धर्म्मिष्ठ पुरुष अपने आधिकारिक कर्म्मों में निष्कामभाव से संलग्न रहता हुआ जीविका-निर्वाह योग्य (आवश्यकतानुसार) अर्थ से भी वञ्चित नहीं रहता, कामरूप ऐहलौकिक सुख भी उसे मिल जाता है, कामरूप पारलौकिक स्वर्गादिसुख का भी वह अधिकारी वन जाता है, एवं अन्ततो-गत्वा (निष्कामभाव के अनुग्रह से) निःश्रेयसलक्षण मुक्ति का भी अनुगामी बन जाता है। अभ्युदय तथा निःश्रेयस, दोनों धर्म्म से सिद्ध हैं, अतएव औरों की तुलना में धर्म्म को 'परम-पुरुपार्थ' मान लिया गया है, जैसा कि वर्णव्यवस्थाविज्ञान के 'धर्म्मभेद' परिच्छेद में '**तस्माद्धर्म्मं परमं वदन्ति**' इत्यादि श्रौतवचन से स्पष्ट कर दिया गया है[2]।

उक्त चतुष्टयी में से 'काम' (सुख) नामक पुरुषार्थ '**ऐहिक-आमुष्मिक**' भेद से दो भागों में विभक्त है। लौकिक वैषयिकसुख 'ऐहिककाम' है, पारलौकिक स्वर्गसुख 'आमुष्मिककाम' है। 'मोक्ष' नामक आनन्द इन दोनों से पृथक् रहता हुआ '**निःश्रेयस**' नाम से प्रसिद्ध है। कामयुक्त मनुष्य धर्म्माचरण करता हुआ भी इस निष्कामलक्षण मोक्ष का अधिकारी नहीं बन सकता—'**न कामकामी**' (गी० २।७०)। मोक्षप्राप्ति का प्रधान, तथा एकमात्र हेतु तो निष्काम-धर्म्माचरण ही माना गया है।

---

१ अधनं दुर्वलं प्राहुर्धनेन बलवान् भवेत्।
सर्वं धनवता प्राप्यं सर्वं तरति कोशवान्॥ १॥
कोशेन धर्म्मः, कामश्च, परलोकस्तथा ह्ययम्।
तं च धर्म्मेण लिप्सेत नाधर्म्मेण कदाचन॥ २॥ —महाभारत शान्ति० १३०।४९-५०

२ ऊर्ध्ववाहुर्विरोम्येप न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्म्मादर्थश्च, कामश्च, स किमर्थं न सेव्यते॥ —व्यासः

इन चारों पुरुपार्थों मे धर्म्मतत्त्व बडा ही विलक्षण है। इस धर्म्म का लाक्षणिक स्वरूप धर्म्मभेद-परिच्छेद मे वतलाया जा चुका है। अब इसकी एक सर्वथा विलक्षण परिभाषा और सुन लीजिए। प्रत्येक कर्म्म के अनुष्ठान से आत्मा में ('प्रज्ञानात्मा' नाम से प्रसिद्ध सर्वेन्द्रिय, किंवा अनिन्द्रिय मन में) उसी तरह से एक कर्म्मजन्य अतिशय उत्पन्न हो जाता है, जैसे कि बालू के ढेर में थप्पी मारने से बालू पर एतत् कर्म्मजन्य 'छाप' रूप एक अतिशय उत्पन्न हो जाता है। यह कर्म्मजन्य अतिशय वहां (मन मे) बसता हुआ 'वासनासंस्कार' नाम से प्रसिद्ध होता है। इसी वासनासंकार का नाम 'धर्म्म' है। क्योंकि पूर्वजन्मकृत, तथा ऐहिक जन्मकृत इन सञ्चित संस्कारों के उक्थ (पुञ्ज) से ही हमारा स्वरूप धृत है। धृतिलक्षण यह धारकधर्म्म (वासनासस्कार) चूकि कर्म्म से उत्पन्न हुआ है, दूसरे शब्दों में यह कर्म्म की ही एक अवस्थाविशेप, किंवा दूसरी अवस्था है, अतएव इसे भी हम 'कर्म्म' ही कहेंगे। यह कर्म्म (धर्म्मरूपवासनासंस्कार) कर्म्मात्मा मे बीजरूप से प्रतिष्ठित होता हुआ ऐहिक-आमुष्मिक अर्थ-कामों का साधन बनता रहता है।

कितनें एक कर्म्म जहा ज्ञानपूर्वक (बुद्धिपूर्वक, सोच समझ कर) किए जाते हैं, वहा कितनें एक कर्म्म अपनी मानस-रुचि के प्रबलाकर्पण से अज्ञानपूर्वक (अज्ञानयुक्तज्ञानलक्षण मोहपूर्वक) भी हो पडते हैं। इन दोनों कर्म्मों से क्रमशः शुभ-अशुभ संस्कार उत्पन्न होते हैं, जैसा कि आगे के 'संस्कारविज्ञानप्रकरण' में विस्तार से वतलाया जानेवाला है। अज्ञान-युक्तकर्म्म अशुभवासनासंस्कारों के उत्पादक बनते हैं, एवं ज्ञानयुक्तकर्म्म शुभसंस्कारों के सम्पादक बनते है। शुभसस्कारात्मक सञ्चितकर्म्म आत्मसस्था के विकास के कारण बनते हुए—'धर्म्म' नाम से अलंकृत होते हैं, एवं अशुभसस्कारात्मक सञ्चितकर्म्म आत्मावनति के कारण बनते हुए 'अधर्म्म' कहलाते हैं।

इसी सम्बन्ध मे धर्म्माचार्य्य आदेश करते हैं कि, "तुम्हारे ऐहिक तथा आमुष्मिककर्म्म अज्ञानावृत ज्ञानलक्षण मोह के अनुग्रह से अशुभसस्कारों के जनक बनते हुए तुम्हारे सर्वनाश का कारण न बन बैठें, अपितु तुम्हारा प्रत्येक कर्म्म ज्ञान को आधार बनाता हुआ अभ्युदय-मूलक शुभसस्कारों के ही जनक बनें, एतदर्थ तुम्हें अपनी पूर्वायु के पूर्वभाग मे कर्म्मोपयिक ज्ञान का संग्रह करना चाहिए। वही ज्ञानोपासनाकाल तुम्हारा पहिला 'ब्रह्मचर्य्याश्रम' होगा। यदि तुमनें इस आश्रम में रहते हुए यथानुपूर्व ज्ञान-सङ्ग्रह न किया, तो तुम्हारा गार्हस्थ्य-कर्म्मकलाप प्रकृतिविरुद्ध बनता हुआ तुम्हारे आत्मपतन का ही कारण बन जायगा। इसलिए—

ज्ञात्वा कर्म्माणि कुर्वीत नाज्ञात्वा कर्म्म आचरेत् ।
अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्खलनं स्यात् पदे पदे ॥

पूर्व में वासनात्मक संस्कार को 'धर्म्म' कहा गया है। यही धर्म्म उक्थरूप में परिणत होता हुआ जाति-आयु-भोग, का प्रवर्त्तक बनता है। कर्म्मानुसार ही (वासनालक्षण-सञ्चित संस्कारात्मक-धर्म्मानुसार ही) उत्तम-मध्यम-अधम योनि मिलती है। कर्म्मानुसार ही भोग (अर्थ-काम) मिलते हैं, एवं कर्म्मानुसार ही आयु मिलती है। किस कर्म्म का क्या उदर्क (परिणाम) होता है ? इन कर्म्मों के कौन कौन अवान्तर भेद हैं ? इत्यादि प्रश्नों की मीमांसा आगे के प्रकरणों में की जायगी। अभी इस सम्बन्ध में यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, कर्म्मरूप पुरुपार्थ को शुभोदर्क बनाने के लिए आरम्भ की पञ्चविंशति में ज्ञान-लक्षण ब्रह्मचर्य्याश्रम का ही अनुगमन करना चाहिए। इस आश्रम की समाप्ति पर जब कर्म्मोपयिक-क्रत्वर्थ-लक्षण ज्ञान का भलीभांति संग्रह हो जाय, तो अनन्तर—

२६ वें वर्ष से 'गृहस्थाश्रम' में प्रवेश करना चाहिए। इस आश्रम में रहता हुआ द्विजाति विद्यासापेक्ष यज्ञ-तप-दान लक्षण प्रवृत्ति कर्म्मों के द्वारा देवस्वर्ग की, विद्यानिरपेक्ष इष्ट-आपूर्त्त-दत्त लक्षण प्रवृत्ति कर्म्मों के द्वारा पितृस्वर्ग की, एवं लौकिक-कौटुम्बिक, सामाजिक, तथा राष्ट्रीय कर्म्मों द्वारा कुटुम्बादि की समृद्धि की कामना करता हुआ ज्ञानपूर्वक इन गृह्य कर्म्मों में प्रवृत्त रहेगा। इस क्रम से ५० वर्ष की समाप्ति पर इस की यह कर्म्मसम्पत्ति पूर्ण हो जायगी। आध्यात्मिक कर्म्म में ईश्वरीय कर्म्म-वीर्य्य का पूर्णरूप से आधान हो जायगा। आत्मा का कर्म्म भाग सर्वात्मना परिपूर्ण बन जायगा, कर्म्माश्रम सफल हो जायगा, एवं यहीं आयु का आधा भाग समाप्त हो जायगा।

ज्ञानाश्रममीमांसा—

कर्म्माश्रम के अनन्तर 'ज्ञानाश्रम' सामने आता है। अपनी आयु के उत्तरभाग में इस साधक को ज्ञान साधना करनी है। जिस तरह बिना ज्ञान के कर्म्म अनुपपन्न था, तथैव ज्ञान भी कर्म्म के बिना अनुपपन्न रहता है। पुरुपार्थरूप इस साध्य ज्ञान की सिद्धि के लिए साधक को क्रत्वर्थरूप कर्म्म का अनुगमन करना पड़ेगा। ज्ञानसाधक इस कर्म्माश्रम को 'वानप्रस्थाश्रम' कहा जायगा। यहां कर्म्म गौण रहेगा, ज्ञान प्रधान रहेगा। वानप्रस्थाश्रम में उन्हीं कर्म्मों का अनुगमन किया जायगा, जिन से कि आत्मा उत्तरोत्तर निष्कामभाव की ओर अग्रसर होता हुआ ज्ञान के सन्निकट पहुंचेगा। इसी आधार पर वानप्रस्थाश्रम सम्बन्धी कर्म्म-कलाप को 'कर्म्म' न कह कर 'तप'

किंवा 'तपश्चर्य्या' नामों से व्यवहृत किया गया है। गृहस्थाश्रम-सम्बन्धी कर्म्म भी कर्म्मत्वेन कर्म्म हैं, एवं वन्य कर्म्म भी कर्म्मत्वेन कर्म्म ही हैं। परन्तु वे कर्म्म कर्म्मलक्षण कर्म्म हैं, एवं ये कर्म्म तपोलक्षण कर्म्म हैं, और दोनों के स्वरूप में भी बड़ा अन्तर है। गृह्यकर्म्म 'सकाम' हैं, तो वन्य कर्म्म 'निष्काम' हैं। गृह्यकर्म्मों में पुत्र-कलत्र-बन्धु-बान्धव-जाति-समाज-राष्ट्र इत्यादि वाङ्मय भौतिक परिग्रहों का संग्रह है, तो वन्यकर्म्म इन सब परिग्रहों से निर्मुक्त हैं। गृह्यकर्म्म संसार की वस्तु है, 'समाजकलकलसापेक्ष' हैं, तो वन्यकर्म्म समाजकलकल से पृथक् हैं—'अरतिर्जनसंसदि'।

कामनाभाव 'वाक्' का अनुग्राहक बनता हुआ वाङ्मय सकाम कर्म्मों का प्रवर्त्तक बन जाता है, एवं यही वाङ्मय कर्म्म 'श्रम' नाम से प्रसिद्ध है। निष्कामभाव में वाक्प्रपञ्च में आसक्ति नहीं होती। केवल प्राणप्रधान कर्म्म का संग्रह रहता है। विशुद्ध प्राण असङ्ग है, अतएव तत्प्रधान वन्यकर्म्म भी असङ्ग ही माना जायगा। प्राणव्यापारलक्षण, त्यागोपयिक यही कर्म्म 'तप' कहलाया है। यद्यपि प्रकरणारम्भ में 'आश्रम' शब्द का निर्वचन करते हुए हमने आश्रमानुबन्धी सभी कर्म्मों को तपोलक्षण बतलाया है, परन्तु वह व्याप्ति अव्यवस्थित-अशास्त्रीय-विशुद्ध भौतिक-अतएव विशुद्ध वाङ्मय-अतएव च विशुद्ध श्रमरूप लौकिक कर्म्मों की अपेक्षा से ही सम्बन्ध रखती है। इन श्रमरूप लौकिक कर्म्मों की अपेक्षा से तो अवश्य ही आश्रमानुबन्धी सभी कर्म्मों को तपःकर्म्म माना जायगा। परन्तु जब स्वयं आश्रम कर्म्मों का तारतम्य देखा जायगा, तो उस दशा में गृह्यकर्म्मों को श्रमलक्षण कर्म्म माना जायगा, एवं वन्यकर्म्मों को तपोलक्षण कर्म्म कहा जायगा। श्रमरूप गृह्यकर्म्म आदानलक्षण हैं, एवं तपोरूप वन्यकर्म्म त्यागलक्षण हैं, जैसा कि—'एतद्वै तप इत्याहुर्यत् स्वं ददाति' इस श्रौत तपोलक्षण से स्पष्ट है।

वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करता हुआ तपस्वी लोकसंग्रह-दृष्टि से ऐहिक-आमुष्मिक सभी कर्म्मों में प्रवृत्त रह सकता है, परन्तु निष्कामभाव से। क्योंकि बिना निष्कामभाव के ज्ञानोदय असम्भव है। निष्कामभावमूलक यह तपःकर्म्म निवृत्तिप्रधान बनता हुआ एक प्रकार की ज्ञानोपासना ही मानी जायगी। एवं इसके अनुगमन से यह तपस्वी अधिकाधिक ज्ञान के समीप पहुँचता जायगा। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि, गृह्यकर्म्म 'कर्म्मकाण्ड' है, तो वन्यकर्म्म 'उपासनाकाण्ड' है। पहिला 'प्रवृत्तिमार्ग' है, तो दूसरा 'निवृत्तिपथ' है। एवं मनु के शब्दों में दोनों ही कर्म्ममार्ग वेदशास्त्रसिद्ध हैं।

चूंकि वन्यकर्म्म ज्ञानार्थ हैं, ज्ञानोदय के साधक हैं, अतएव ये कभी बन्धन के कारण नहीं वनते। क्योंकि असङ्गज्ञान से संश्लिष्ट रहने के कारण ये कभी 'संस्कारलेपवन्धन' के कारण नहीं वन सकते। जब कि तपश्चर्य्यात्मक वन्यकर्म्म ज्ञानार्थ आदिष्ट हैं, तो इस दृष्टि से यद्यपि इन्हें निष्काम नहीं कहना चाहिए था, तथापि ज्ञानरूप नैष्कर्म्यसम्पत्ति के साधक होने से 'ताच्छब्द्यन्याय' से इन्हें निष्काम कहने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। अपिच 'सर्वं कामस्य चेष्टितम्' इस मानवसिद्धान्त के अनुसार जब कोई भी कर्म्म बिना कामना के सम्भव नहीं, तो वन्यकर्म्मों का भी इस प्राकृतिक-दृष्टि से यद्यपि सकामत्त्व ही सिद्ध होता है, तथापि कामना का जो आसक्तिफल है उस का चूंकि इन कर्म्मों में अभाव है, अतएव इन्हें निष्काम कहना अन्वर्थ वन जाता है।

एक सद्गृहस्थ अपने गृहस्थाश्रम की मर्य्यादा का यथाशास्त्र पालन करता हुआ जब ५० वर्ष की आयु पर पहुंचता है, तो इस का पुत्र ब्रह्मचर्य्याश्रम समाप्त कर घर लौट आता है। आज यह पुत्र कर्म्ममार्ग के लिए पूर्ण योग्य वनता हुआ गृह्यकर्म्म का अधिकारी वन गया है। 'अनायका विनश्यन्ति नश्यन्ति वहुनायकाः' इस नैतिक सिद्धान्त के अनुसार जिन गृह्यसंस्थाओं में अनेक शासक हो जाते हैं, अथवा जहां कोई भी शासक नहीं रहता, वह संस्था अवश्य ही नष्ट हो जाती है। इस नैतिक दृष्टि से भी हमारे इस तीसरे आश्रम का बड़ा महत्त्व है। जब एक व्यक्ति प्राप्तवयस्क वन जाता है, जब इस का व्यक्तित्व कर्म्मा-पेक्षया पूर्ण विकसित हो जाता है, तो वह अपने कर्म्ममार्ग में दूसरे का अनुचित नियन्त्रण सहन नहीं कर सकता। गृहस्थाश्रम का सम्बन्ध प्रधानतः लौकिक वैभव से है। लौकिक वैभव ही गृहस्थाश्रम की प्रतिष्ठा माना गया है। एक घर में यदि एक से अधिक नियन्ता हो जाते हैं, तो वहां कलह का सूत्रपात हो जाता है। युवा पुत्र चाहता है, मैं इस घर का अध्यक्ष माना जाऊँ, उधर प्रौढ़ पिता अपनी आसक्ति नहीं छोड़ना चाहते। परिणाम स्वरूप एक ही वित्त के इन दो भोक्ताओं में प्रतिस्पर्द्धा के भाव जागृत हो जाते हैं। यही प्रतिस्पर्द्धा आगे जाकर कुटुम्ब-क्लेश की जननी वनती देखी गई है। ऐसी दशा में यह बहुत ही आवश्यक है कि, जब योग्य युवापुत्र समावर्त्तनसंस्कार से ससंस्कृत वन कर घर पर आ जाय, तो गृहस्थसुखों का पूर्ण सुख भोग चुकने वाला पिता अपना अधिकार पुत्र को प्रदान कर दे, एवं 'वनं पञ्चाशतो व्रजेत्' सिद्धान्त का अनुगमन करता हुआ वानप्रस्थाश्रम में प्रवृत्त हो जाय। इस विनिमय से गृह्यसंस्था में कभी किसी प्रकार के विवाद की आशङ्का नहीं रह सकती।

अर्थविभीषिका से उत्पीडित आज का भारतीय समाज जिस सन्ततिनिग्रह (Birth Control) के लिए आकुल है, वह प्रयोजन भी हमारी इस आश्रम व्यवस्था से चरितार्थ हो रहा है। "दुर्बल सन्तान, वहुसन्तान, अल्पायुसन्तान, रुग्णसन्तान, समाज के लिए घातक है। उपकार के स्थान मे समाज का ऐसी अयोग्यसन्तानों से अपकार ही होता है"। इन्हीं कुछ हेतुओं के आधार पर हमारे अभिभावकों ने 'सन्ततिनिग्रह' की आवश्यकता स्वीकार की है। परन्तु इस सम्बन्ध मे हम अपने इन अभिभावकों से यह कहे विना नहीं रहेंगे कि, आश्रम मर्य्यादाओं के उच्छेद से उन की यह निग्रह-औषधि रोगनाश के स्थान में सर्वनाश का ही कारण सिद्ध हो रही है।

आहार-विहारादि की अनियमितता, ज्ञानचर्य्या का ऐकान्तिक अभाव, कामना-उत्तेजक भौतिक सम्पत्ति की दुर्दान्त लालसा, इन्द्रियसयम से एकान्ततः पराङ्मुखता, काम-भोग-परायण, वैपयिक, बुद्धिमानों की असीम कृपा से यत्र-तत्र-सर्वत्र विराजमान कामोत्तेजक आविष्कारो का प्राचुर्य्य, ये ही सब कारणमूर्द्धन्य 'सन्ततिनिग्रह' का दुरुपयोग करने वाले सिद्ध हो रहे हैं। यही क्यों, आज तो परोक्षविधि से यह साधन विषय-वासनाओं की समृद्धि का ही कारण वन रहा है। 'मातृपद' के अन्यतम शत्रु, स्त्री-पुरुषों के वचे खुचे वीर्य्य का नाश करने वाला साधन ही यदि 'सन्ततिनिग्रह' है, तो कहना पडेगा कि—'प्रायः समापन्नविपत्तिकाले धियोऽपि पुसां मलिना भवन्ति'।

आश्रमव्यवस्था का कौशल देखिए। वाल अवस्था से आरम्भ कर पचीस वर्ष तक वह व्यक्ति ऋषिकुलों के उन शान्त वातावरणों मे पुष्पित-पल्लवित होता है, जहा कि कुत्सित वासनाओं का प्रवेश एकान्तत निषिद्ध है। शुक्र रक्षा के अन्यान्यसाधनों के अतिरिक्त 'ज्ञानयज्ञ' (स्वाध्याय) ही सर्वोत्कृष्ट तथा अन्यतम साधन है। भुक्त अन्न रसा-सृङ्-मासादि धातुओं मे परिणत होता हुआ सातवीं श्रेणि मे शुक्ररूप में परिणत होता है। इस शुक्र-विनिर्गम के तीन द्वार माने गए है। योषित्-अग्नि (शोणिताग्नि) भी शुक्र सोम का आहवनीयकुण्ड है, प्राणाग्नि (शरीरस्थ वैश्वानरअग्नि) भी आहवनीयकुण्ड है, एव ज्ञानाग्नि (बुद्धिरूप सौरसावित्राग्नि) भी आहवनीयकुण्ड है। योषिदग्नि, तथा शुक्र के समन्वय से 'प्रजोत्पत्ति' होती है, एवं ऐसे व्यक्ति 'अधोरेता' कहलाते हैं। प्राणाग्नि, तथा शुक्र के समन्वय से 'शरीरपुष्टि' होती है, एव ऐसे व्यक्ति 'तिर्य्यग्रेता' कहलाते हैं। ज्ञानाग्नि, तथा शुक्र के मिथुन से 'ज्ञानवृद्धि' होती है, एवं ऐसे ही पुरुषपुङ्गव 'ऊर्ध्वरेता' कहलाते है।

आश्रम-व्यवस्था का कौशल—

शुक्र को यदि अधोमार्ग, तथा तिर्य्यक् मार्ग से रोक लिया जाता है, तो वह अवरुद्ध शुक्र आगे जाकर 'ओज' रूप मे परिणत हो जाता है। एवं यह ओज ही ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी की मूलप्रतिष्ठा बनता है। ओज की उत्तरावस्था सौम्य-मन है। शुक्र की तृतीयावस्थारूप मन ज्ञानशक्तिमय 'विज्ञान' (बुद्धि) के सहारे ज्ञानाग्नि में आहुत होता रहता है। यदि अन्य मार्गों के द्वारा शुक्र क्षय होता रहेगा, तो ओज का अभाव-सा हो जायगा, मानस विकास अवरुद्ध हो जायगा, ज्ञानयज्ञ असम्भव बन जायगा। इसी आधार पर इस 'ब्रह्म-(ज्ञान)-चर्य्याश्रम' मे शुक्ररक्षा को विशेष महत्त्व दिया गया है। यही कारण है कि, ज्ञानचर्य्या का वाचक ब्रह्मचर्य्य लोक मे शुक्ररक्षा का द्योतक बन गया है। वस्तुत 'ब्रह्मचर्य्य' का अर्थ है—'ज्ञानचर्य्या'। कहना यही है कि, पूर्णसयम के साथ यह व्यक्ति अपनी आयु के पचीस वर्ष इस ज्ञानयज्ञ मे विता देता है। पूर्ण युवा बन कर गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करता है, यथाशास्त्र दाम्पत्यभाव का अनुगमन करता है, नियत कर्म्मों से अपने समय को नियमित बनाता हुआ अकर्म्म-विकर्म्म मूलक दुर्व्वासनाओं से बचा रहता है। पुरंध्रिता-समाप्ति के अनन्तर ही अरण्यानुगामी बन जाता है। इस व्यवस्था के अनुसार जीवनयात्रा का अनुगमन करने से कुसन्तति, निर्बलसन्तति, बहुसन्तति आदि प्रश्नों को उपस्थित होने का अवसर ही नहीं मिलता।

अरण्यानुगमन द्वारा इस तपस्वी ने आत्मविशुद्धिपूर्वक चौथे सन्यासाश्रम का अधिकार प्राप्त किया। इस आश्रम के सम्यक्-अनुष्ठान से आत्मज्ञान का पूर्ण उदय हो जाता है, शान्तिलक्षण निरतिशयानन्द मे इसका आत्मा लीन हो जाता है। तपश्चर्य्या में जहा ज्ञानफल की कामना रहती है, वहा इस चौथे आश्रम में सर्वकर्म्मफलत्याग है। दूसरे शब्दो मे यों समन्वय कीजिए कि, गृहस्थ मे काम्य-कर्म्मों की प्रधानता है, वानप्रस्थ मे कामना (ज्ञानकामना) रहती है, परन्तु संन्यास में—'ज्ञानाग्निः सर्वकर्म्माणि भस्मसात् कुरुते' (गी० ४। ३७) इस स्मार्त्त सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण कर्म्म (काम्यकर्म्म, तथा कामनारूप मानसिक कर्म्म) नष्ट हो जाते हैं।

शिखा-सूत्रादि परिग्रह काम्य कर्म्म फलों के सूचक हैं। कर्म्मजनित अनुशय किट्ट है, मल है, धूम है। इसी के परिचय के लिए वानप्रस्थाश्रम पर्य्यन्त शिखा सूत्रादि परिग्रह व्यवस्थित बने रहते हैं। संन्यासपथ में प्रज्वलितज्ञानाग्नि कर्म्मसस्कारों को निःशेष कर देता है। सम्पूर्ण परिग्रह 'अहिःकंचुकिनत्' (सांप की कांचली की तरह) अपने आप छूट जाते हैं, इसी वृत्ति को व्यक्त करने के लिए इस तुरीय आश्रम में शिखा सूत्रादि बाह्यपरिग्रहों का परि-

त्याग कर दिया जाता है। इस प्रकार उत्तरवय के वानप्रस्थ, तथा संन्यास, इन दो आश्रमों से यह व्यक्ति ज्ञानशक्ति का पूर्णविकास करता हुआ ईश्वरीय ज्ञानविभूति का भी सत्पात्र बन जाता है। ज्ञानाश्रम चरितार्थ हो जाता है, एवं यही इस की कृतकृत्यता है, यही इसका जन्मसाफल्य है, यही पुरुषार्थसिद्धि है, जिस के लिए कि चातुराश्रम्य स्थापित हुआ है।

आश्रमविभाग के अनुसार ही प्रतिष्ठाशास्त्रों का भी विभाग हुआ है। ब्रह्मचर्य्याश्रम में वेद का 'संहिता' भाग प्रधान प्रतिष्ठा बनता है, कर्म्मप्रधान गृहस्थाश्रम में वेद का 'विधि' भाग (ब्राह्मणभाग) प्रधान प्रतिष्ठा बनता है, उपासनाप्रधान वानप्रस्थाश्रम मे उपासनातत्त्व प्रतिपादक वेद का 'आरण्यक' भाग प्रधान प्रतिष्ठा बनता है, एवं ज्ञानप्रधान सन्यासाश्रम मे ज्ञानप्रतिपादक वेद का 'उपनिषत्' भाग प्रधान प्रतिष्ठा बनता है। इस प्रकार यथाशास्त्र, यथाकाल ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ वानप्रस्थ, तीनों आश्रमों का सम्यक् आचरण करता हुआ द्विजाति संन्यास आश्रम मे प्रवेश कर आत्मा की ज्ञानशक्ति मे ईश्वरीयज्ञानशक्ति का वीर्य्याधान करता हुआ पराशान्ति-लक्षण शाश्वत-आनन्द प्राप्त कर लेता है।

प्रतिष्ठाशास्त्रों का विभाजन–

आश्रमचतुष्टयीपरिलेख—

१—ब्रह्मचर्य्याश्रम — ज्ञानचर्य्या	(कर्म्मोपयिककृत्वर्थज्ञान—साधनरूप)	}	–'कर्म्माश्रम'
२—गृहस्थाश्रम — कर्म्मचर्य्या	(ज्ञानसहकृतपुरुपार्थकर्म्म—साध्यरूप)	}	
३—वानप्रस्थाश्रम—कर्म्मचर्य्या	(ज्ञानोपयिककृत्वर्थकर्म्म — साधनरूप)	}	–'ज्ञानाश्रम'
४—संन्यासाश्रम— ज्ञानचर्य्या	(कामविरहितपुरुपार्थज्ञान—साध्यरूप)	}	

१— १—२५ (२५)—प्रथमाश्रम—(योग्यतासम्पादनात्मक) - 'संहिता' मूलप्रतिष्ठा।
२—२६—५० (२५)—द्वितीयाश्रम—(कर्म्मकाण्डात्मक)— 'विधि' मूलप्रतिष्ठा।
३—५१—७५ (२५) तृतीयाश्रम—(उपासनाकाण्डात्मक)— 'आरण्यक' मूलप्रतिष्ठा।
४—७६—१०० (२५)—चतुर्थाश्रम—(ज्ञानकाण्डात्मक)— 'उपनिषत्'-मूलप्रतिष्ठा।

यह कहा जा चुका है कि, शूद्रवर्ग के लिए आश्रमव्यवस्था अव्यवहार्य्य है। शूद्रवर्ग आश्रमी (द्विजातिवर्ग) की परिचर्य्यामात्र से, विना किसी अन्यप्रयास के ही (द्विजातिवर्ग

द्वारा प्राप्त भक्तिबल के प्रभाव से) मुक्त हो जाता है, एवं इस व्यवस्था में एकमात्र शास्त्र ही शरण है। द्विजातिवर्ग साक्षात् रूप से आत्मविकास करता हुआ जैसे मुक्त हो जाता है, तथैव द्विजाति का भक्त (अवयव) बना हुआ शूद्र भी परम्परया आत्मानुग्रह प्राप्त करता हुआ स्वपुरुपार्थसाधन में सफल हो जाता है। लोक में ही इस पारम्परिक उद्धार क्रम का प्रत्यक्ष कर लीजिए। एक निर्धन मनुष्य धनिक की परिचर्य्या से उदरपूर्त्ति कर लेता है, धनिक व्यक्ति राज्याश्रय से सम्पत्ति रक्षा में समर्थ बना रहता है, राजा सम्राट् के अनुशासन में चलता हुआ स्वविकास में समर्थ बना रहता है, एवं स्वयं सम्राट् नीतितन्त्र का आश्रय लेकर स्वरूप रक्षा में समर्थ रहता है। इस प्रकार अधिकारी भेद से सब यथास्थान सुव्यवस्थित रहते हुए साक्षात्, एवं परम्परया पुरुपार्थसिद्धि में सफल हो जाते हैं। यही भारतीय आश्रम-व्यवस्था की मौलिकता है। एक ही व्यक्ति समय भेद से चार काम करता हुआ जिस व्यवस्था के आधार पर परमपद प्राप्त करने में समर्थ बन जाता है, वही व्यवस्था—'चातुराश्रम्य' नाम से प्रसिद्ध है। एवं मानवसमाज-समाजसापेक्ष भिन्न भिन्न चार कामों को वर्णाधिकारानुसार विभक्त कर उन में वीर्य्यसम्पादन करता हुआ, ऐहिक-आमुष्मिक सुख-शान्ति का अधिकारी बनता हुआ जिस व्यवस्था से समाज प्रतिष्ठा द्वारा राष्ट्र-प्रतिष्ठा सुरक्षित रखने में समर्थ होता है, वही व्यवस्था 'चातुर्वर्ण्य' नाम से प्रसिद्ध है।

विश्वामित्र-वसिष्ठ-कश्यप-अत्रि-मरीचि-भृगु-अङ्गिरा-जमदग्नि-कपिल-कणाद–व्यास-जैमिनि-जैसे अतीतानागतज्ञ, विदित-वेदितव्य महर्पियों का लोकोत्तर विद्याबल (ज्ञानबल), विवस्वान्-इक्ष्वाकु-भरत-जनक-कुरू-हरिश्चन्द्र-शिवि-रघु-मान्धाता आदि क्षत्रिय पुरुपपुङ्गवों का पराक्रम, भलन्दनादि वैश्य महाभागों का अर्थबल, धर्म्मव्याधादि शूद्र महानुभावों का सेवाबल सुन सुन कर आधुनिक पाश्चात्य जगत्, एवं तदनुयायी भारतीय समाज जो इन वर्णों के लोकोत्तर चरित्रों को असम्भव मान रहा है, इस का एकमात्र कारण चातुर्वर्ण्य, तथा चातुराश्रम्य के महत्व परिज्ञान से वञ्चित रहना ही है। इन्हीं दोनों व्यवस्थाओं के आधार पर अतीत भारत ने सब क्षेत्रों में सर्वोच्चासन प्राप्त किया था।

आज भी जो भारतवर्ष के सच्चे हितैषी बनने का दम भरते हैं, भारतीय इतिवृत्त से अपना अविश्वास दूर करना चाहते हैं, दावानल की तरह एक छोर से दूसरे छोर तक व्याप्त अशान्ति-ज्वाला को शान्त कर विश्वशान्ति के दर्शन करना चाहते हैं, उन्हें अपनी सारी शक्ति (संसर्गदोष से विलुप्तप्राय बनी हुई) उक्त दोनों व्यवस्थाओं के पुनरुद्धार में ही लगा देनी चाहिए। स्मरण रखिए! वर्णाश्रमरूप, प्रकृतिसिद्ध, नित्यधर्म्म (सनातनधर्म) है

एकान्ततः विरोध रखनेवाले शास्त्रविरुद्ध अवर्णस्पर्श, विधवापरिणय, सहभोज, अन्तर्जातीय विवाह, वर्णमर्य्यादासाङ्कर्य्य, आदि आदि कुकाण्ड धर्म्मप्राण भारतवर्ष का कभी कल्याण नहीं कर सकते। ऐसे विरुद्ध कर्म्म करनेवाले अखिल भूमण्डलाधिनायक 'वेन' जैसे समर्थ सम्राट् क्षणमात्र में ब्रह्मबल द्वारा भस्मसात् हो गए। वैदिक व्यवस्थाओं का परिहास करने वाला नास्तिक दल भगवान् शङ्कराचार्य्य द्वारा भारतवर्ष से बाहिर निकाल दिया गया। मधु-कैटभ, शुम्भ-निशुम्भ, महिष, रक्तबीज, कालकेय, दौर्हृद, मौर्य्य, शालकटङ्कट, विद्यु-न्माली, अम्बुजाक्ष तारक, त्रिपुर, त्वष्टा, वृत्र, नमुचि, किलाताकुली, स्लाव, अरुरु, रावण, कंस जैसे धर्म्मविरोधियों का आज नाम शेष भी न रहा। परन्तु ईश्वराज्ञासिद्ध अपौरुषेय वेद, एवं वेदसिद्ध वर्णाश्रमधर्म्म आज के इस मदान्ध युग में भी यत्र तत्र पुष्पित तथा पल्लवित हो रहा है। सर्वतोभावेन—मनसा, वाचा, कर्म्मणा, इस का अनुगमन ही हमारे लिए एकमात्र श्रेयःपन्था है। हमारा यह श्रेयःपन्था आज क्यों अपने पुष्पित-पल्लवित रूपों का दर्शन नहीं दे रहा ? यह 'संस्कार' की बात है। जिस के स्पष्टीकरण के लिए अगला प्रकरण पाठकों के सम्मुख उपस्थित होने जा रहा है।

इति—आश्रमव्यवस्थाविज्ञानम्।

* *

*

६—संस्कारविज्ञान

वर्णव्यवस्था प्रकृतिसिद्ध है, तदनुगामिनी आश्रमव्यवस्था भी प्रकृतितन्त्र से कम महत्व नहीं रखती। यह भी सिद्ध विषय है कि समाज, किंवा राष्ट्रसमृद्धि के लिए वर्णव्यवस्था के अतिरिक्त, तथा व्यक्तिविकास के लिए आश्रमव्यवस्था के अतिरिक्त और कोई अन्य मार्ग नहीं है। यह भी ठीक है कि, भारतीय प्रजा ने जब से इन दोनों व्यवस्थाओं की उपेक्षा की है, तभी से इस के दुर्दिन का श्रीगणेश हो गया है। यह सब कुछ ठीक ठीक होते हुए भी, ठीक ठीक मानते हुए भी इस सम्बन्ध में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि,—"जब वर्णाश्रमव्यवस्था का दुर्ग ऐसा सुदृढ़ था, जब स्वयं प्रकृतिदेवी इस दुर्ग की रक्षा कर रही थी, तो फिर सहसा यह किस आक्रमण से हीनाङ्ग बन गया? दोपलक्षण अव्यवस्थाएं इसमें क्यों प्रविष्ट हो गईं? ब्राह्मण कैसे शूद्रवृत्ति के अनुयायी बन गए? शूद्र किस अविद्या से धर्म्मध्वजी बन गए? सूर्य्य-चन्द्र-अग्निवंशाभिमानी क्षत्रिय वीरों का स्वाभाविक पराक्रम कैसे सहसा विलीन हो गया? वैश्यों नें अपने सहजसिद्ध कृषि-गोरक्षा-वाणिज्य कर्म्मों से क्यों हाथ खेंच लिया?

संस्कार की बात—

प्रश्न जितनें हीं जटिल प्रतीत होते हैं, इन का उत्तर उतना ही अधिक सरल है। इन प्रश्नों के समाधान के लिए किसी तत्त्वदर्शी विद्वान् के पास जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। अपितु भारतीय सामान्य प्रजा ही इन प्रश्नों का यथावत् समाधान कर सकती है, कर रही है। और वह समाधान है, सुप्रसिद्ध—'संस्कार की बात'। आप किसी से भी पूंछ देखिए, अमुक ब्राह्मण कुकर्म्म क्यों करने लग गया? तत्काल उत्तर मिलेगा—'संस्कार की बात'। अमुक व्यक्ति मूर्ख होता हुआ भी धनिक क्यों बन गया?—'संस्कार की बात'। आस्तिक कहलाने वाले समाज के अभिभावक भी वर्णाश्रम की निन्दा क्यों करते हैं—'संस्कार की बात'। अयोग्य व्यक्ति राष्ट्र के कर्णधार कैसे बन गए?—'संस्कार की बात'। शिक्षक, रक्षक ब्रह्म क्षत्रवीर्य्यों का आसन रक्षित-सेवक वैश्य-शूद्रों ने कैसे छीन लिया?—'संस्कार की बात'। धर्म्मव्याज में अतुलसम्पत्ति की आहुति देनेवाला धनिक समाज धर्म्मरक्षा के प्रधान साधन, विज्ञानानुमोदित, आर्षधर्म्म प्रतिष्ठारूप, वैदिक साहित्य के प्रचार-प्रसार सम्बन्ध में आदर्श कृपण क्यों बन गया? 'संस्कार की बात'। शिक्षा, रक्षा, अर्थ, प्रवर्ग्यादि सभी

साधनों के रहते हुए भी सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भारत कैसे परतन्त्र हो गया ? 'संस्कार की बात'। सन्त, महन्त, आचार्य, उपदेशक, मन्दिर, गुरुकुल, ऋषिकुल, तीर्थ, उपवास, आदि आदि धर्म्मरक्षक असंख्य साधनों के विद्यमान रहते हुए भी प्रजावर्ग की धर्म्म पर क्यों अनास्था होती जाती है ?—'संस्कार की बात'। जनपदविध्वंसिनी, दुष्काल, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, शिशुधन क्षय, अप्रत्याशित रोग, आदि प्रकृति के कोपों का क्यों विशेष अनुग्रह हो रहा है ?—'संस्कार की बात'। भाई भाई में खड़ाछक, पति-पत्नी में प्रेमाभाव, स्वामी-सेवक में विरोध, पिता-पुत्र में वैर, मित्रों मित्रों में कृतघ्नता, ईर्ष्या, छल, कपट, दम्भ, लिप्सा, मद, मात्सर्य्य, आदि आदि आसुरी विभूतियां आज किस आधार पर पुष्पित-पल्लवित हो रहीं हैं ? 'संस्कार की बात'। पवित्र, शुभ, शास्त्रीय अनुष्ठानों का शास्त्रभक्तों की ओर से ही प्रबल विरोध क्यों होने लगता है—'संस्कार की बात'। इस प्रकार खाते, सोते, उठते, बैठते, रोते, हंसते, चलते, फिरते, सभी व्यवहारों में आप 'संस्कार की बात' का सम्पुट देखेंगे। सर्वत्र 'संस्कार की बात' का साम्राज्य उपलब्ध होगा। नहीं, नहीं, हम थोड़ी भूल कर रहे है। 'संस्कार की बात' का साम्राज्य नहीं, अपितु 'कुसंस्कार की बात' का साम्राज्य।

वर्णाश्रम-व्यवस्था प्रकृतिसिद्ध है, जातिगत है, वंशानुगत है, इसमें कोई सन्देह नहीं। साथ ही आज भी तत्तद्वर्णों में (कुछ एक अपवादस्थलों को छोड़ कर) यह व्यवस्था बीजरूप से अक्षुण्ण है, यह भी निःसंदिग्ध है। भविष्य में भी इसकी बीजावस्था सुरक्षित रहेगी, यह भी माना जा सकता है। परन्तु (कु)—संस्कारवश समय समय पर कभी कभी इसका अभिभव होता रहता है, और इस अभिभव का प्रधान कारण है—'ब्रह्मबल की सुषुप्ति'। संस्कारवश जब ब्रह्मबल सुषुप्ति-अवस्था में आ जाता है, तो ज्ञानकोश तिरोहित हो जाता है। ज्ञान के मुकुलित बनते ही इतरवर्ण उच्छृङ्खल बनते हुए अपने प्राकृतिक, तथा कृत्रिम संस्कार बिगाड़ लेते हैं। समाज में विप्लवयुग का दृश्य उपस्थित हो जाता है। भारतीय ऐतिह्य-ग्रन्थों में बड़े विस्तार के साथ इन युगों का इतिवृत्त उद्धृत हुआ है।

इन्द्रपदाभिमानी नहुष ने एक बार अविवेक में पड़ कर 'इन्द्राणी' के साथ दाम्पत्यभाव की कामना प्रकट की। तत्समय में ब्रह्मबल चूंकि सुप्तप्राय था, अतएव नहुष को ऐसे पाप-कर्म्म में प्रवृत्त होने का साहस हुआ। तत्काल 'ब्रह्मपर्षत्' का आमन्त्रण हुआ, एवं सर्वसम्मति से यह निर्णय किया गया कि, नहुष की इस अत्याचार-प्रवृत्ति को रोकने के लिए शीघ्र से शीघ्र ब्रह्मबल का उद्बोधन होना चाहिए। फलस्वरूप इन्द्राणी के पास पर्षत् की ओर से यह सन्देश

भेजा गया कि, आप नहुष का आमन्त्रण स्वीकार करतीं हुई उसे यह कहला भेजें कि, "यदि तुम अपनी 'शिविका' (पालकी) सप्तर्पियों के कन्धों पर रखवाकर मेरे पास आ सकते हो, तो मुझे तुम्हारे साथ रहना स्वीकार है"। अविवेकी, कामान्ध, मदान्ध नहुप ने सप्तर्पियों को वाहन बनाकर झटिति प्रस्थान कर ही तो दिया। मार्ग में चलता हुआ वह सप्तर्पियों को वार वार 'सर्प-सर्प' (जल्दी चलो, जल्दी चलो) कहता जाता था। दो चार बार के कथन से तो महर्पियों का ध्यान इस ओर न गया। परन्तु सतत-प्रेरणा से प्रत्याहत बन कर सहसा ब्रह्मबल प्रदीप्त हो पड़ा। फिर क्या विलम्ब था। 'सर्प-सर्प' का निनाद करने वाले नहुप के लिए ऋपियों के मुख से 'सर्पो भव' ! अभिशाप निकल पड़ा। नहुप अविलम्ब सर्पयोनि में परिणत होकर शिविका से नीचे आ गिरा। इस प्रकार ब्रह्मवल की जागृति से वर्णाश्रम-मूला धर्म्ममर्य्यादा पुनः प्रतिष्ठित हुई।

यही दशा सुप्रसिद्ध क्षत्रियराजा राजर्पि 'पृथु' के पिता सम्राट्—'वेन' की हुई थी। नहुप और वेन ही क्या, जब जब ब्रह्मबल सुप्त हुआ, तब तब वर्णाश्रमधर्म्म पर आक्रमण हुए, एवं तब तब ही ब्रह्मवल के उत्थान द्वारा धर्म्मग्लानि दूर की गई। वैसा ही समय आज उपस्थित है। वैसा ही क्यों, उस से भी कहीं भयङ्कर। ब्रह्मबल का जैसा अधःपतन आज हो रहा है, उसे देख कर हृत्कम्प हो पड़ता है। ब्रह्मबल का पतन ही क्षत्रबल के पतन का कारण बना है। ब्रह्मबल (विद्यावल, एवं तत्प्रधान ब्राह्मणवर्ण), तथा क्षत्रबल (पौरुप, एवं तत्प्रधान क्षत्रियवर्ण) दोनों की सुपुप्ति, विट्-तथा शूद्रबल का प्रभुत्व ही वर्णाश्रमधर्म्म विपर्य्यय के मुख्य कारण हैं। सर्वानुशासक ब्रह्मबल आज उन शासितों से अनुशासित हो रहा है। पथानुगामी पथप्रदर्शक बन रहे हैं, पथप्रदर्शक पथानुगामी बन रहे हैं। और निश्चयेन इस पतन का मूल कारण है, वही—'संस्कार की बात'। श्रौत-स्मार्त्त संस्कारों का अभाव, नाममात्र के लिए होने वाले संस्कारों का दुरुपयोग, इसी संस्कार की बात ने वर्णाश्रमधर्म्म-व्यवस्थाओं में साङ्कर्य्य उत्पन्न किया है। जिस प्रकार समाजरक्षा वर्णव्यवस्था पर निर्भर है, व्यक्तिरक्षा आश्रम व्यवस्था पर प्रतिष्ठित है, तथैव ये दोनों व्यवस्थाएं 'संस्कार' मर्य्यादा पर प्रतिष्ठित हैं। विना संस्कार के रहता हुआ भी प्राकृतिक-वर्णोचित वीर्य्य उसी तरह स्वशक्ति-विकास में असमर्थ रहता है, जैसे कि विना अप्संस्कार (पानी की सिंचाई) के रहती हुई भी वीजशक्ति अङ्कुरित नहीं होती।

पाठकों को स्मरण होगा कि, भूमिका-प्रथमखण्ड के 'संस्कारशब्दनिर्वचन' नामक प्रकरण में यह स्पष्ट किया गया था कि, 'दोपमार्जन-अतिशयाधान-हीनाङ्गपूर्त्ति' भेद से संस्का-

रिक कर्म्म तीन भागों में विभक्त हैं। एवं प्रकरण का उपसंहार करते हुए वहीं यह प्रतिज्ञा भी की गई थी कि, कर्म्मयोग-परीक्षा प्रकरण में इस विषय का विशद विवेचन होगा। (देखिए- गी० भू० प्रथमखण्ड १७ पृ०)। संस्कारवश उसी वचन की रक्षा के लिए प्रकृत संस्कार-प्रकरण पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है। संस्कार प्रकरणारम्भ से पहिले इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, यदि किसी वर्ण का कोई भी संस्कार न होगा, तो वह वर्ण स्थूणवत् ज्यों का त्यों अविकसित (मुकलित) बना रहेगा। यदि वर्णधर्म्म-विरुद्ध संस्कार होंगे, तो प्राकृतिक वर्णवीर्य्य दूषित हो जायगा। एवं उस दशा में वह वर्ण उसी प्रकार विपरीत धर्म्म का अनुगामी बन जायगा, जैसे कि 'कलम' रूप विपरीत संस्कार से एक आम्र फल अपने प्राकृतिक स्वरूप को छोड़ कर सङ्करता में परिणत हो जाया करता है।

संस्कार पर आक्षेप, एवं उस का समाधान—

अपने आप को मनोविज्ञान के विश्लेषक मानने वाले, मानस-स्वतन्त्रता को ही आत्म-विकास का मुख्य कारण बतलाने वाले, वर्णधर्म्मों के अनुपालन में स्वेच्छावृत्ति का ही प्राधान्य स्वीकार करने वाले कुछ एक महानुभावों का इस सम्बन्ध में यह कहना है कि,—"अपनी इच्छा के विरुद्ध जो कर्म्म किया जाता है, मनोविज्ञान-सिद्धान्त के अनुसार उस इच्छा-विरुद्ध कर्म्म में प्रवृत्त होने वाले कर्म्मठ को कभी सफलता नहीं मिल सकती।" अपने इसी सिद्धान्त का वे मनुभाव निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टी करण किया करते हैं। "मानलीजिए! एक व्यक्ति जात्या ब्राह्मण है। परन्तु हम देखते हैं कि उस की स्वाभाविक प्रवृत्ति शिल्प, किंवा वाणिज्य की ओर है। यदि ब्राह्मणत्व के अभिमानी इस व्यक्ति की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति का निरोध कर इसे विद्या की ओर आकर्पित करेंगे, तो इस बलवदाकर्पण से अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को रोक कर यथाकथंचित् विद्याक्षेत्र की ओर आकर्पित होता हुआ भी यह व्यक्ति स्वभाव-विरोध के कारण विद्याक्षेत्र में पूर्ण सफल न होगा। इसी प्रकार एक शूद्र बालक की प्रवृत्ति यदि विद्या-क्षेत्र की ओर है, तो उस का शिल्पादि की ओर आकर्षण करना प्रकृतिविरुद्ध होगा। परि-णाम इस बलात्कार का यह होगा कि, स्वाभाविक प्रवृत्ति से विरुद्ध गमन करने के कारण परक्षेत्रों में तो इसे पूर्ण सफलता मिलेगी नहीं, हाँ स्वक्षेत्र-विकास से ये वर्ण अवश्य वञ्चित हो जायँगे।

अपिच—मानवीय मन सदा नवीनता का इच्छुक बना रहता है। ऐसी दशा में यदि इस पर जातीय अर्गला लगा दी जायगी, तो जीवनपर्य्यन्त एक ही कर्म्म में लगे रहना इसकी रुचि के अनुकूल न होगा। परिणामतः इसका व्यक्तित्व अशान्त बना रहेगा। यदि इसे

रुचि के अनुसार विभिन्न कर्म्मों का अनुगामी बनाया जायगा, तो अवश्य ही इसके व्यक्तित्व का भी पूर्ण विकास होगा, एवं कर्म्मानुष्ठानों में भी इसे पूर्ण सफलता मिलेगी। हम देखते हैं कि, जो व्यक्ति जिन कर्म्मों में रुचि के अनुसार प्रवृत्त होते हैं, वे उन कर्म्मों में पूर्ण सफल होते हैं। ठीक इस के विपरीत जिन की इस स्वाभाविक रुचि का नियन्त्रण कर दिया जाता है, वे सदा हीनवीर्य्य-अकृतकार्य्य-तथा मुकुलितमना बने रहते हैं। इन्हीं सब प्रत्यक्षतम कारणों के आधार पर हमें मानना पड़ेगा कि, कर्म्मप्रवृत्ति का मूल आलम्बन स्वरुचि, किंवा स्वेच्छा ही है। इसी आधार पर धर्म्माचार्य्यों ने भी—'**स्वस्य च प्रियमात्मनः**' इसी धर्म्मलक्षण को सर्वसम्मत माना है। '**नात्मानमवसादयेत्**' कहते हुए भगवान् भी स्वेच्छानुकूल कर्म्मों में प्रवृत्त होना ही आवश्यक, तथा उपादेय मान रहे हैं। जब कि प्रत्येक व्यक्ति स्व-स्व रुचि के अनुसार कर्म्मों में प्रवृत्त होता हुआ पुरुषार्थ लाभ कर सकता है, तो उस दशा में जाति-नियन्त्रणमूलक संस्कार-नियन्त्रणों की क्या आवश्यकता रह जाती है। ठीक इस के विपरीत संस्कार तो स्वाभाविक प्रवृत्ति के निरोधक बनते हुए अनुपयुक्त ही सिद्ध होते हैं।"

युक्ति बड़ी सुन्दर है, साथ ही लोक-तथा शास्त्रसम्मत भी। अवश्य ही इच्छानुकूल कर्म्मों में प्रवृत्त होने से पूर्ण सफलता मिलती है, एवं बलानुरोध से अनिच्छा पूर्वक कृत कर्म्म असफलता का ही कारण बनता देखा गया है। सब को अपने आत्मा की स्वाभाविक इच्छा के अनुकूल ही कर्म्मों में प्रवृत्त होना चाहिए। परन्तु जिस युक्ति को, जिस रुचिभाव को आगे करता हुआ वादी संस्कारों की उपयोगिता पर आक्षेप कर रहा है, वही युक्ति, वही रुचिभाव संस्कार-कर्म्म की आवश्यकतम उपयोगिता का ही समर्थन कर रहा है। "प्रत्येक व्यक्ति को स्वभावानुकूल कर्म्मों में प्रवृत्त होना चाहिए" हमारा भी तो यही आग्रह है, एवं इसी प्राकृतिक-आग्रह की सफलता के लिए ही तो हम संस्कार-कर्म्म का अनुष्ठान अत्यावश्यक समझते हैं।

स्वभाव-स्वरुचि-स्वेच्छाभावों की मूलप्रतिष्ठा ब्रह्म-क्षत्र-आदि वीर्य्य ही बनते हैं, यह पूर्व के वर्णाश्रमव्यवस्था-प्रकरणों में विस्तार से बतलाया जा चुका है। ब्राह्मण-दम्पती (ब्राह्मण माता-पिता) से उत्पन्न ब्राह्मण बालक भूलकर भी स्वभावविरुद्ध (ब्राह्मणत्व से विरुद्ध) वैश्यादि कर्म्मों की इच्छा न करेगा। सङ्गदोष, विपरीत शिक्षादोष, अन्नदोष, अन्यान्य आकस्मिक सामयिक दोष, आदि आगन्तुक दोषों के आगमन से यदि कुछ समय के लिए वह ब्राह्मण बालक स्वभावविरुद्ध (वर्णधर्म्मविरुद्ध) कर्म्मों की इच्छा करेगा भी, तो न इस की यह इच्छा स्वाभाविक इच्छा ही मानी जायगी, न इस आगन्तुक, अतएव परेच्छा में

स्थिरता ही रहेगी, एवं न ऐसी अस्थिर-तात्कालिक-दोषावह-परेच्छा से कृत कर्म्मों में इसे पूर्ण सफलता ही मिलेगी। परेच्छा इसे जब जब परधर्म्म की ओर आकर्षित करेगी, तब तब ही स्वेच्छा (प्राकृतिक इच्छा) इसका निरोध करेगी, जैसा कि—'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति' 'करिष्यस्यवशोऽपि तत्' इत्यादि भगवद्वचनों से स्पष्ट है।

स्वेच्छा-स्वभाव-स्वरुचि-स्वप्रकृति, इन सब समानार्थक भावों की परिभाषा स्ववीर्य्य के अतिरिक्त दूसरी नहीं हो सकती। अपने अपने वीर्य्य-गत धर्म्मों से सम्बन्ध रखने वाली इच्छाएं हीं 'स्वेच्छा स्वभाव-स्वरुचि' आदि कहलाएगीं। यदि किसी वर्ण में वर्णस्वरूप-सम्पादक स्ववीर्य्यधर्म्म से विपरीत इच्छा देखी जायगी, तो उस इच्छा को स्वभाव-स्वेच्छा-स्वरुचि-प्रकृति न कह कर परभाव-परेच्छा-पररुचि-विकृति आदि ही माना जायगा। एक ब्राह्मण बालक जन्म से यद्यपि वीर्य्यानुबन्धी ब्राह्मण्य से ही युक्त है। परन्तु उक्त आगन्तुक दोषों से उस का वह स्वाभाविक वीर्य्यधर्म्म मेघाच्छन्न सूर्य्यवत् आवृत हो रहा है। इसी दोष से उस की परधर्म्मों की ओर प्रवृत्ति होने लगती है। यदि कोई ब्राह्मण स्वभावसिद्ध विद्या-धर्म्म से विमुख बनता हुआ शिल्प वाणिज्यादि शूद्र-वैश्यकर्म्मों की ओर अनुधान करता देखा जाता है तो आप को स्वीकार करना पड़ेगा कि, यह उस की परेच्छा है, रुचि के विपरीत कर्म्म है, भयावह परधर्म्म की ओर प्रवृत्ति है। स्वेच्छा न रहने पर भी एक अश्व को कशाघात (कोड़े) के भय से जैसे अश्वारोही की इच्छा के अनुकूल चलना पड़ता है, एवमेव स्वाभाविक स्वधर्म्मेच्छा न रहने पर भी बलवत् परधर्म्मेच्छा के आकर्षण से आकर्षित इन्द्रियाश्व परधर्म्मों की ओर प्रवृत्त होने लगते हैं[1]।

विश्वास कीजिए! परधर्म्म से आक्रान्त एक ब्राह्मण कभी इतर-वृत्तियों में सफल नहीं हो सकता। कुछ एक अपवाद स्थलों को छोड कर (जिन्हे कि सामान्य नियम के पोषक नहीं माना जा सकता), आज तक कोई भी ब्राह्मण अपने स्वभावधर्म्म के विरुद्ध वाणिज्यादि व्यवसायों से सम्पन्न न बन सका। कोई वैश्य स्वभावधर्म्म विरुद्ध विद्यातिशय में पारङ्गत न देखा गया। आज के इस हीन युग में भी विद्याक्षेत्र में ब्राह्मणों की ही परिगणना होती

१ "यततो ह्यपि कौन्तेय। पुरुषस्य विपश्चित।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मन ॥ (गीता २।६०)
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय। बलादिव नियोजित ॥ (गीता ३।३६)

है, एवं वित्तक्षेत्र में वैश्यों का ही नाम-श्रवण होता है। ब्राह्मण कभी अर्थसञ्चय में सफल नहीं हो सकता, एवं वैश्य कभी व्यासगद्दी पर बैठ कर विद्याक्षेत्र का आचार्य नहीं बन सकता। यदि मोहवश ब्राह्मण अर्थक्षेत्र में पैर बढ़ाएगा, तो ठोकर खाएगा, उभयतः भ्रष्ट होगा। यदि वित्ताभिमानी वैश्य विद्याक्षेत्र पर भी अधिकार करना चाहेगा, 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' को चरितार्थ करेगा। कहना न होगा कि, वर्त्तमान युग में ब्राह्मणवर्ण की विद्याशून्यता का, वैश्यवर्ण के अर्थक्षय का, क्षत्रियवर्ण की पौरुषहानि का, एवं शूद्रवर्ण के शिल्प-विकासाभाव का मुख्य कारण यही परधर्म्माश्रय है। और यही परधर्म्माश्रय मुख्य हेतु है—भारतश्रीह्रास का। क्या वादी महोदय इसी को स्वेच्छा-स्वरुचि कह रहे हैं?

आज वर्णों में जो इच्छा-विपर्य्यय देखा सुना जाता है, वह सब परभावाक्रान्त है। हमारा वर्ण-समाज आगन्तुक दोषों से, प्रधानरूप से शिक्षादोष-अन्नदोष-कालदोष, इन तीन दोषों के आगमन से त्रिदोपलक्षण सन्निपात का सत्पात्र बन रहा है। स्थूलत्रिदोष, तथा सूक्ष्म-त्रिदोष के समतुलन से सब कुछ स्पष्ट हो जाता है। वात-पित्त-कफ के विकृत होने से, असम बनने से स्थूलत्रिदोष का प्रादुर्भाव होता है। उधर शिक्षादोष से सूक्ष्मवातधातु कुपित होता है, वातावरण बिगड़ जाता है। अन्नदोष से सूक्ष्म श्लेष्माधातु कुपित हो जाता है, मनः-शुद्धि पलायित हो जाती है। एवं शिक्षा-अन्नदोष से कुपित कालाग्नि सूक्ष्म पित्तधातु-प्रकोप का कारण बन जाता है। त्रिदोपाक्रान्त समाज की परेच्छाओं को ही स्वेच्छा-आत्मेच्छा मान कर समाज को ऐसी परेच्छाओं की ओर प्रोत्साहित करने वाले वादी महोदय क्या समाज-स्वरूप-नाश के कारण नहीं बन रहे?। एक सन्निपात के रोगी को अन्न की इच्छा होती है। परन्तु सद्वैद्य समझता है कि, इसकी इस समय की अन्नादानेच्छा स्वेच्छा नहीं, अपितु परेच्छा है। फलतः इसकी इस आगन्तुक इच्छा का नियन्त्रण कर दिया जाता है। रोगी कालान्तर में स्वस्थ हो जाता है। ठीक यही दशा आज हमारे वर्णसमाज की है। वर्णों की ये सङ्कर इच्छाएं दोषों की इच्छाएं हैं, परेच्छाएं हैं। समाज के शिष्ट पुरुषों का यह कर्त्तव्य होगा कि, वे इन परेच्छाओं का बलवत् नियन्त्रण करें। हीन-रुचिलक्षण कुरुचि को स्वरुचि मानने वाले वादियों की भूल का सुधार करें। तभी समाज, तथा राष्ट्र का अभ्युदय सम्भव है। अन्यथा तो सभी अन्यथा है।

अब यह सर्वात्मना सिद्ध हो चुका है कि, यदि कोई व्यक्ति वर्णधर्म्मविरुद्ध कर्म्मों की ओर रुचि रखता है, तो ऐसी विपरीत-रुचि कभी आत्मतुष्टि का कारण नहीं मानी जा सकती। एवं परधर्म्ममयी ऐसी आत्मतुष्टि को कभी धर्म्ममूल (कर्म्ममूल) नहीं कहा जा

सकता। उदाहरण के लिए गीतापात्र अर्जुन की इच्छा का ही विचार कीजिए। अर्जुन जन्मतः क्षत्रियवर्ण था। विरोधी शत्रु को सामने आया देख कर एक ब्राह्मण अपने ब्राह्मण्य के प्रभाव से उसे शान्त कर देगा, उस का भला बुरा सह लेगा। क्योंकि प्रतिद्वन्द्वितामूलिका प्रतिस्पर्द्धा ब्राह्मण का स्वधर्म्म नहीं है। 'क्रुध्यन्तं प्रति न क्रुध्येत्, आक्रुष्टः कुशलं वदेत्' ही इस का प्रातिस्विक स्वभाव है। अविद्याजनित मोह के आकस्मिक आक्रमण से थोड़ी देर के लिए अर्जुन में भी क्षत्र-स्वभाव-विरुद्ध कारुण्य का उदय हो जाता है, फलतः वह स्वधर्म्मानुगत युद्धकर्म्म से उपरत हो जाता है। आगे जाकर गीतोपदेश क्या करता है? यह सर्वविदित है। भगवान् नें उसी स्वधर्म्म को, वर्णधर्म्म के उसी तात्विक स्वरूप को सामने रखते हुए अर्जुन को स्वधर्म्मोचित युद्धकर्म्म के लिए प्रोत्साहित किया। भगवान् ने बड़े आटोप के साथ यह प्रतिपादन किया कि, अर्जुन! वर्ण-धर्म्मविरोधी इस युद्धोपरति से तू स्वधर्म्म से भी विमुख होगा, एवं लोक में भी तेरी निन्दा होगी। यदि थोड़ी देर के लिए तू इस आगन्तुक परेच्छा का अनुगामी बना भी रहा, तो भी कभी न कभी तुझे अपनी प्रकृति पर आना ही पड़ेगा। क्योंकि अपने वर्णानुबन्धी स्वभाव के विरुद्ध मनुष्य जा नहीं सकता। इसलिए—

१—यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥

—गी० १८।५९।

२—स्वभावजेन कौन्तेय! निबद्धः स्वेन कर्म्मणा।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥

—गी० १८।६०।

अब इस सम्बन्ध में प्रश्न केवल यह बच रहता है कि, वर्णाश्रमव्यवस्थाओं जैसी प्राकृतिक सुदृढ़ व्यवस्थाओं से नियन्त्रित वर्णप्रजा का सहजसिद्ध ब्रह्म-क्षत्र-विड् वीर्य्य किन कारणों से, किन दोषों से परधर्म्माक्रान्त बनता हुआ वर्ण-धर्म्मविरोधिनी परेच्छाओं का अनुगामी बन जाता है? इस प्रश्न का समाधान एकमात्र 'संस्कारस्वरूपपरिचय' पर ही निर्भर है, जिसका संक्षिप्त निदर्शन कराना आवश्यक हो जाता है।

'गुणदोपमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी' इस न्याय के अनुसार प्रकृतिदेवी से उत्पन्न होनें वाले यच्चयावत् पदार्थ देवप्राणमूला गुणसम्पत्ति, एवं असुरप्राणमूला दोपसम्पत्ति, दोनों से नित्य युक्त रहते हैं। खेत में उत्पन्न होने वाले अनाज को ही लीजिए। इस की प्राकृतिक अवस्था गुण-दोप, दोनों भावों से युक्त है। मनुष्यप्रजा अपने ज्ञानवल के सहारे अनाज के दोपों को निकाल कर, इसे सुसंस्कृत वना कर ही अपने उपयोग में लाती है। यही परिस्थिति स्वयं मनुष्य की है। मनुष्य भी प्रकृतिमण्डल का ही एक अवयव-विशेप है। अतएव इस में भी गुण-दोपों का समन्वय अनिवार्य्य है। जवतक इस का स्वाभाविक वर्ण-वीर्य्य प्रकृति-विकृतिसिद्ध दोपों से आवृत रहता है, तव तक यह भी असंस्कृत रहता हुआ अपने स्वाभाविक-वर्ण वीर्य्य-के गुणविकास से वञ्चित रहता है। इसी दोपपरिमार्ज्जन के लिए द्विजातिवर्ण का संस्कार आवश्यक माना गया है। मनुष्य क्या है ? एवं इस में किन किन दोपों का साम्राज्य रहता है ? पहिले इन्हीं प्रश्नों की मीमांसा कीजिए !

संस्कारस्वरूपपरिचय—

पूर्व के 'आश्रमव्यवस्थाविज्ञान' में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, जीवात्मा ईश्वर-प्रजापति का 'अंश' है। 'प्रजापति' शब्द में—'प्रजा—तत्पति—सम्वन्धसूत्र' ये तीन भाव समाविष्ट हैं। प्रजा के सम्वन्ध से ही प्रजापति प्रजापति कहलाया है। स्वयं प्रजापति एक पर्व है, प्रजापति की प्रजा दूसरा पर्व है, एवं जिस वन्धन सूत्र के द्वारा प्रजापति अपनी प्रजा के साथ अविच्छिन्न सम्वन्ध वनाए रखता है, वह सूत्र ही तीसरा पर्व है। तीनों मिल कर एक 'प्राजापत्यसंस्था' है। प्रजावर्ग उस प्रजापति का 'पशु' भाग है, सम्वन्धसूत्र 'पाश' भाग है, एवं स्वयं प्रजापति 'पशुपति' है। 'पशु—पाश—पशुपति' का समन्वितरूप ही 'प्रजापति' है। स्वयं पशुपति 'आत्मा' है, यही मुख्य है। पाश इस आत्मा का 'प्राण' है। एवं इस दृष्टि से 'आत्मा-प्राण-पशु' समष्टि को भी प्रजापति कहा जा सकता है। आत्मा मनःप्रधान वनता हुआ ज्ञानप्रधान है, प्राणरूपपाश प्राणप्रधान वनता हुआ क्रियाप्रधान है, एवं पशु वाक्प्रधान वनता हुआ अर्थप्रधान है। अर्थरूप पशुवर्ग 'आधिभौतिक' प्रपञ्च है, क्रियात्मक पाशवर्ग 'आधिदैविक' प्रपञ्च है। ज्ञानप्रधान आत्मवर्ग 'आध्यात्मिक' प्रपञ्च है। एवं तीनों की समष्टि 'तदिदं सर्वम्' है।

प्रजापति के, किंवा प्राजापत्यसंस्था के ये ही तीनों पर्व विज्ञानभाषा में 'उक्थ—अर्क—अशिति' नामों से प्रसिद्ध हैं। आत्मा 'उक्थ' (मूलविम्व) है, प्राण 'अर्क' (मूलविम्व से

सकता। उदाहरण के लिए गीतापात्र अर्जुन की इच्छा का ही विचार कीजिए। अर्जुन जन्मतः क्षत्रियवर्ण था। विरोधी शत्रु को सामने आया देख कर एक ब्राह्मण अपने ब्राह्मण्य के प्रभाव से उसे शान्त कर देगा, उस का भला बुरा सह लेगा। क्योंकि प्रतिद्वन्द्वितामूलिका प्रतिस्पर्द्धा ब्राह्मण का स्वधर्म्म नहीं है। 'क्रुध्यन्तं प्रति न क्रुध्येत्, आक्रुष्टः कुशलं वदेत्' ही इस का प्रातिस्विक स्वभाव है। अविद्याजनित मोह के आकस्मिक आक्रमण से थोड़ी देर के लिए अर्जुन में भी क्षत्र-स्वभाव-विरुद्ध कारुण्य का उदय हो जाता है, फलतः वह स्वधर्म्मानुगत युद्धकर्म्म से उपरत हो जाता है। आगे जाकर गीतोपदेश क्या करता है? यह सर्वविदित है। भगवान् ने उसी स्वधर्म्म को, वर्णधर्म्म के उसी तात्विक स्वरूप को सामने रखते हुए अर्जुन को स्वधर्म्मोचित युद्धकर्म्म के लिए प्रोत्साहित किया। भगवान् ने बड़े आटोप के साथ यह प्रतिपादन किया कि, अर्जुन! वर्ण-धर्म्मविरोधी इस युद्धोपरति से तू स्वधर्म्म से भी विमुख होगा, एवं लोक में भी तेरी निन्दा होगी। यदि थोड़ी देर के लिए तू इस आगन्तुक परेच्छा का अनुगामी बना भी रहा, तो भी कभी न कभी तुझे अपनी प्रकृति पर आना हीं पड़ेगा। क्योंकि अपने वर्णानुबन्धी स्वभाव के विरुद्ध मनुष्य जा नहीं सकता। इसलिए—

१—यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥

—गी० १८।५९।

२—स्वभावजेन कौन्तेय! निबद्धः स्वेन कर्म्मणा।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥

—गी० १८।६०।

अब इस सम्बन्ध में प्रश्न केवल यह बच रहता है कि, वर्णाश्रमव्यवस्थाओं जैसी प्राकृतिक सुदृढ़ व्यवस्थाओं से नियन्त्रित वर्णप्रजा का सहजसिद्ध ब्रह्म-क्षत्र-विड् वीर्य्य किन कारणों से, किन दोषों से परधर्म्माक्रान्त बनता हुआ वर्ण-धर्म्मविरोधिनी परेच्छाओं का अनुगामी बन जाता है? इस प्रश्न का समाधान एकमात्र 'संस्कारस्वरूपपरिचय' पर ही निर्भर है, जिसका संक्षिप्त निदर्शन कराना आवश्यक हो जाता है।

'गुणदोषमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी' इस न्याय के अनुसार प्रकृतिदेवी से उत्पन्न होनें वाले यच्चयावत् पदार्थ देवप्राणमूला गुणसम्पत्ति, एवं असुरप्राणमूला दोषसम्पत्ति, दोनों से नित्य युक्त रहते हैं। खेत में उत्पन्न होने वाले अनाज को ही लीजिए। इस की प्राकृतिक अवस्था गुण-दोष, दोनों भावों से युक्त है। मनुष्यप्रजा अपने ज्ञानबल के सहारे अनाज के दोषों को निकाल कर, इसे सुसंस्कृत बना कर ही अपने उपयोग में लाती है। यही परिस्थिति स्वयं मनुष्य की है। मनुष्य भी प्रकृतिमण्डल का ही एक अवयव-विशेष है। अतएव इस में भी गुण-दोषों का समन्वय अनिवार्य्य है। जबतक इस का स्वाभाविक वर्ण-वीर्य्य प्रकृति-विकृतिसिद्ध दोषों से आवृत रहता है, तब तक यह भी असंस्कृत रहता हुआ अपने स्वाभाविक-वर्ण वीर्य्य-के गुणविकास से वञ्चित रहता है। इसी दोषपरिमार्जन के लिए द्विजातिवर्ण का संस्कार आवश्यक माना गया है। मनुष्य क्या है? एवं इस में किन किन दोषों का साम्राज्य रहता है? पहिले इन्हीं प्रश्नों की मीमांसा कीजिए!

संस्कारस्वरूपपरिचय—

पूर्व के 'आश्रमव्यवस्थाविज्ञान' में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, जीवात्मा ईश्वर-प्रजापति का 'अंश' है। 'प्रजापति' शब्द में—'प्रजा—तत्पति—सम्बन्धसूत्र' ये तीन भाव समाविष्ट हैं। प्रजा के सम्बन्ध से ही प्रजापति प्रजापति कहलाया है। स्वयं प्रजापति एक पर्व है, प्रजापति की प्रजा दूसरा पर्व है, एवं जिस बन्धन सूत्र के द्वारा प्रजापत्ति अपनी प्रजा के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध बनाए रखता है, वह सूत्र ही तीसरा पर्व है। तीनों मिल कर एक 'प्राजापत्यसंस्था' है। प्रजावर्ग उस प्रजापति का 'पशु' भाग है, सम्बन्धसूत्र 'पाश' भाग है, एवं स्वयं प्रजापति 'पशुपति' है। 'पशु—पाश—पशुपति' का समन्वितरूप ही 'प्रजापति' है। स्वयं पशुपति 'आत्मा' है, यही मुख्य है। पाश इस आत्मा का 'प्राण' है। एवं इस दृष्टि से 'आत्मा-प्राण-पशु' समष्टि को भी प्रजापति कहा जा सकता है। आत्मा मनःप्रधान बनता हुआ ज्ञानप्रधान है, प्राणरूपपाश प्राणप्रधान बनता हुआ क्रियाप्रधान है, एवं पशु वाक्प्रधान बनता हुआ अर्थप्रधान है। अर्थरूप पशुवर्ग 'आधिभौतिक' प्रपञ्च है, क्रियात्मक पाशवर्ग 'आधिदैविक' प्रपञ्च है। ज्ञानप्रधान आत्मवर्ग 'आध्यात्मिक' प्रपञ्च है। एवं तीनों की समष्टि 'तदिदं सर्वम्' है।

प्रजापति के, किंवा प्राजापत्यसंस्था के ये ही तीनों पर्व विज्ञानभाषा में 'उक्थ—अर्क—अशिति' नामों से प्रसिद्ध हैं। आत्मा 'उक्थ' (मूलबिम्ब) है, प्राण 'अर्क' (मूलबिम्ब से

निकलनेवाली रश्मियाँ) है, पशु 'अशिति' (रश्मियों से परिगृहीत 'अन्न') है। इन तीनों प्राजापत्य-पर्वों में से उक्थलक्षण आत्मपर्व, तथा अर्कलक्षण प्राणपर्व दोनों में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस प्रकार उक्थरूप सूर्य्य, एवं अर्करूप सौर रश्मियाँ अभिन्न हैं, एवमेव उक्थरूप आत्मा, तथा अर्करूप प्राण परस्पर तादात्म्यभावापन्न हैं। तीसरे अशिति भाग की प्रतिष्ठा जहां अर्करूप प्राण है, वहां उक्थरूप आत्मा इस प्रतिष्ठालक्षण प्राण की भी प्रतिष्ठा बनता हुआ 'प्रतिष्ठानां प्रतिष्ठा' बन कर 'सर्वप्रतिष्ठा' है, 'सर्वालम्बन' है

'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' (शत० ६।१।१।८) के अनुसार सप्तपुरुषपुरुषकृतमूर्त्ति यह उक्थ आत्मा—'ब्रह्म' है, अर्कात्मक प्राण 'देवता' है, एवं अशितिरूप पशुभाग 'भूत' है। ब्रह्मलक्षण आत्मा, देवलक्षण प्राण, भूतलक्षण पशु, तीनों की समष्टि ही ईश्वरप्रजापति है, और ऐसे ही प्रजापति के अंश अस्मदादि जीवात्मा हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि, विशुद्ध-निर्गुण-सर्वव्यापक-ब्रह्मपदार्थ इस त्रिकल, साञ्जन, सगुण, मायावच्छिन्न प्रजापति से सर्वथा पृथक्तत्त्व है, जिसका कि संस्कार-मर्य्यादा से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह असंस्कृत-संस्कृत सब प्राणियों में समान है। इस तुरीय, अव्यवहार्य, प्रपञ्चोपशम, अमात्रलक्षण अमृतधरातल पर प्रपञ्चप्रवर्त्तक, मात्रा-लक्षण, अमृत-मृत्युमय, त्रिकल, सोपाधिक ईश्वर-प्रजापति प्रतिष्ठित हैं, एवं ये ही हमारे सर्वस्व हैं।

१—"प्रजापते! न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिता बभूव।
यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥" —यजुःसं० २३।६५
२—"प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च" —श्रा०

१	पशुपतिः	आत्मा	मनोमयः	ज्ञानप्रधानः	उक्थम्	अध्यात्मम्-	ब्रह्म
२	पाशः	प्राणाः	प्राणमयाः	क्रियाप्रधानाः	अर्काः	अधिदैवतम्-	देवाः
३	पशुः	पशवः	वाङ्मयाः	अर्थप्रधानाः	अशितमयः	अधिभूतम्-	भूतानि

जब कि जीवप्रजापति—'आत्मप्राणपशुसमष्टित्वं प्रजापतित्वम्' लक्षणयुक्त ईश्वर प्रजापति का अंश है, तो सुतरां जीवात्मासंस्था में भी इन तीनों पर्वों की सत्ता सिद्ध हो जाती है, जिन का स्पष्टीकरण यों किया जा सकता है। पहिले जीवसंस्था के 'आत्मा-शरीर' भेद से दो विभाग कीजिए, जो कि दोनों विभाग सर्वविदित हैं। इन दोनों के मध्य में दोनों का सम्बन्ध कराने वाला एक तीसरा विभाग और माना गया है, एवं वही 'देवता' नाम से प्रसिद्ध है। चूंकि यह मध्य में प्रतिष्ठित है, अतएव 'देहलीदीपकन्याय' से इस का आत्मा से भी सम्बन्ध रहता है, एवं शरीर से भी सम्बन्ध माना गया है। इसीके अनुग्रह से शरीर का भी आत्मा-देवता, दोनों के साथ, तथा आत्मा का भी देवता, तथा शरीर, दोनों के साथ सम्बन्ध हो रहा है। पृथिव्यादि पञ्च महाभूतों की समष्टि 'शरीर' है। वाक्-प्राणादि पञ्चेन्द्रियों की समष्टि 'देवता' है। एवं प्रज्ञान-विज्ञान-महत्-अव्यक्तयुक्त वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञकृतमूर्त्ति प्राणात्मा 'ब्रह्म' है। पञ्चभूतों की प्रतिष्ठा 'वागग्नि' है, पञ्च देवप्राणों की प्रतिष्ठा 'प्रज्ञानमन' है, प्रज्ञानमन की प्रतिष्ठा हृदयस्थ 'विज्ञानात्मा' है, विज्ञानात्मा की प्रतिष्ठा 'महानात्मा' है, महानात्मा की आलम्बनभूमि 'अव्यक्तात्मा' है, एवं सर्वप्रतिष्ठा कर्म्मभोक्ता 'प्राणात्मा' है। भूतयुक्त वागग्निप्रपञ्च—'स्थूलशरीर' है, मनोयुक्त देवप्रपञ्च (इन्द्रिय प्रपञ्च) 'सूक्ष्मशरीर' है, इसी को 'सत्त्व' कहा जाता है। एवं प्रज्ञानादि सहकृत प्राणात्मा 'कारणशरीर' है, यही 'आत्मा' नाम से प्रसिद्ध है। आत्मा (कारणशरीर), सत्व (सूक्ष्मशरीर), शरीर (स्थूलशरीर), तीनों का परस्पर त्रिदण्डवत् अन्योऽन्याश्रय सम्बन्ध माना गया है, जैसा कि—'आत्मा-सत्त्वं-शरीरञ्च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्' इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। जिस प्रकार धर्म्मशास्त्रों ने इसी को संस्कार्य्य माना है, एवमेव चिकित्साशास्त्र ने भी इसी को 'चिकित्सापुरुष' कहा है, जैसा कि कर्म्मतन्त्रवर्गीकरणान्तर्गत 'धर्म्मशास्त्रनिबन्धनपट्कर्म्म' प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। स्वयं दर्शनशास्त्र ने भी इसे ही चिकित्स्य माना है। तीनों शास्त्रों के दृष्टिकोण में अन्तर यही है कि, चिकित्साशास्त्र आत्मा-सत्व-शरीर, तीनों पर्वों में से प्रधानतया शरीर की चिकित्सा करता है, धर्म्मशास्त्र सत्वभाग को अपना मुख्य लक्ष्य बनाता है, एवं दर्शनशास्त्र आत्मभाग पर प्रधान दृष्टि रखता है। तीनों को इतर दोनों पर्वों का पूर्ण ध्यान रखते हुए ही अपने अपने लक्ष्यों की चिकित्सा करनी पड़ती है।

“प्र—ज्ञा—त्मा”		“प्र—ज्ञा—नं”		“वा—ग—द्धिः”		
	अव्यक्तात्मा		मनः		सुषिराणि[1] (आ०)	पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्तमानं- षडाश्रयं षड्गुणयोगयुक्तम् । तं सप्तधातुं त्रिमलं द्वियोनिं- चतुर्विधाहारमयं शरीरम् ॥
	महानात्मा		श्रोत्रम्		श्वासादिः (वा०)	
	विज्ञानात्मा		चक्षुः		ऊष्मा (ते०)	
	प्रज्ञानात्मा		प्राणः		असृक्-लालादिः (ज०)	
			वाक्		अस्थि-मांसादिः (पृ०)	

कारणशरीरम्	सूक्ष्मशरीरम्	स्थूलशरीरम्
आत्मा	सत्त्वम्	शरीरम्
उक्थम्	अर्कः	अशितिः
ब्रह्म	देवाः	भूतानि

“आत्मा-सत्त्वं-शरीरञ्च त्रयमेतत् त्रिण्डवत्”

‘पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्टम्’ (शत० २।५।१।१) इत्यादि श्रौतसिद्धान्त के अनुसार और और प्राणियों की अपेक्षा पुरुष (मनुष्य) उस ईश्वर प्रजापति के नेदिष्ठ (समीपतम) है, क्योंकि ‘स हि नेदिष्ठं पस्पर्श’। अन्य प्राणियों की अपेक्षा चूंकि इसी में उसके विराट्संज्ञक असंज्ञ पशुभाग का ‘वैश्वानर’ रूप से, हिरण्यगर्भसंज्ञक अन्तःसंज्ञ प्राणभाग का ‘तैजस’ रूप से, एवं सर्वज्ञसंज्ञक संसंज्ञ आत्मभाग का ‘प्राज्ञ’ रूप से पूर्ण विकास हुआ है, अतएव अवश्य ही इसे नेदिष्ठ कहा जा सकता है। इस नेदिष्ठ पुरुष के ‘ब्रह्म-देवता-भूत’ तीनों भाग पूर्व कथनानुसार गुणदोषयुक्त हैं। ऐसी दशा में

१—“पञ्चात्मकमिति कस्मात् ? पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति। अस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे—तत्र यत् कठिनं, सा पृथिवी। यद् द्रवं, ता आपः। यदुष्णं, तत्तेजः। यत् सञ्चरति, स वायुः। यत् सुषिरं, तदाकाशमित्युच्यते”।

—गर्भोपनिषत् १।

पुरुष के पुरुषत्व विकास के लिए तीनों पर्वों का संस्कार नितान्त अपेक्षित हो जाता है। भूत-संस्कार द्वारा शरीरशुद्धि होती है, देवसंस्कार द्वारा देवभाग विशुद्ध बनता है, एवं ब्रह्मसंस्कार द्वारा ब्रह्मभाग निर्दोष बनाया जाता है। त्रिविधसंस्कारों से संस्कृत त्रिपर्वा पुरुषसंस्था निर्म्मल बन जाती है। इन तीनों में से तीसरे भूतसंस्कार का प्राधान्य इस लिए नहीं माना गया कि, ब्रह्म-देवसंस्कारों में ही इस का अन्तर्भाव हो जाता है। अतएव धर्म्मशास्त्रों में ब्राह्मसंस्कार, तथा दैवसंस्कार, नामक दो संस्कारों की ही प्रधानता उपलब्ध होती है। भूतसंस्कार गर्भाधानादि संस्कारों में ही अन्तर्भूत हैं, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा।

तीनों आत्मपर्वों में से स्थूलशरीर को गौण समझते हुए सत्वलक्षण सूक्ष्मशरीर, तथा आत्मलक्षण कारणशरीर का ही विचार प्रस्तुत है। अध्यात्मसंस्था में इन्हीं दोनों विभागों को मुख्य माना गया है। यदि सत्त्व (मन) में कोई विकृति (मनोमालिन्य) हो जाती है, तो आत्मा अशान्त हो पड़ता है, साथ साथ शरीराकृति भी विकृत बन जाती है। यदि आत्मा और सत्त्व (ब्रह्म और देव) निर्म्मल रहते हैं, तब तो इन में स्ववीर्य्यानुबन्धी स्वधर्म्म का पूर्ण विकास रहता है। यदि प्रकृतिसिद्ध दोषों का तो मार्ज्जन होता नहीं, प्रज्ञापराध से नवीन दोषों का आगमन और हो जाता है, तो इन का स्वाभाविक वीर्य्य मुकुलित बना रहता है, परिणामतः स्वाभाविक धर्म्म-कर्म्मप्रवृत्ति अवरुद्ध रहती है, एवं आगन्तुक अधर्म्म-अकर्म्मप्रवृत्तियाँ ही धर्म्म-कर्म्म का स्थान ग्रहण कर लेतीं हैं।

ब्राह्मणवर्ण इसी दोषानुग्रह से आज शूद्रधर्म्मों का अनुगमन कर रहा है। सेवाधर्म्म, अभक्ष्यभक्षण, यथाचार, यथाकाम ब्राह्मणों के कर्म्म बन रहे हैं। यज्ञसूत्र इन की दृष्टि में आडम्बर है। उधर सच्छूद्र स्वधर्म्म विमुख बनते हुए यज्ञसूत्र के लिए लालायित हैं। विश्वास कीजिए! ये सब नितान्त परेच्छाएं हैं। एवं प्रत्येक दशा में इन का नियन्त्रण अपेक्षित है। यदि एक बालक स्वभाव से ही खेल-कूद की ओर आकर्षितमना रहता हुआ पढ़ने से जी चुराता है, तो अवश्य ही माता-पिता को उस की इस कल्पित स्वेच्छा का मधुर नियन्त्रण करना पड़ेगा। यदि बालक को इच्छावादियों के मतानुसार इच्छा-स्वातन्त्र्य पर ही छोड़ दिया जाता है, तो उस का भविष्य कैसा अन्धकारपूर्ण हो जाता है, इस सम्बन्ध में कुछ भी वक्तव्य नहीं है। क्या परेच्छालक्षण ऐसी स्वतन्त्र इच्छाओं के अनुगमन में वादी महोदय समाज का कल्याण समझते हैं?

हम देखते हैं कि, आज कतिपय वे महानुभाव भी, जिन के हाथ में समाज की बाग-डोर है, वर्णधर्म्मविरोधिनी ऐसी कल्पित इच्छाओं को आत्मेच्छा समझने की भूल करते हुए अपना, और अपने साथ देश का भी सर्वनाश करने का उपक्रम कर रहे हैं। इन असदिच्छाओं के उत्थान का मूल कारण भी वही परधर्म्माक्रमण माना जायगा। स्ववीर्य्यविकासक न तो हमारा कोई संस्कार ही हुआ, न हमनें स्वस्वरूपरक्षा के प्रधान साधनभूत आर्षसाहित्य में ही चञ्चु प्रवेश किया। अपितु ठीक इस के विपरीत अपने (वर्त्तमान) शिक्षाकाल में हमनें अपने शास्त्रों की, शास्त्रप्रवर्त्तक महर्षियों की भरपेट निन्दा सुनी, शिक्षालयों के उच्छृङ्खल वातावरणों में हमनें अपनी आयु का वह कोमल भाग बिताया, जिस में कि उत्पन्न होने वाले सस्कार उक्थरूप मे परिणत होते हुए जीवन भर के लिए दृढ़मूल बन जाया करते हैं। उच्चशिक्षा के प्रलोभन मे पड कर हमनें अपना कुछ समय उन विदेशों मे व्यतीत करना भी आवश्यक समझा, जिन देशों मे वर्ण-धर्म्मानुकूल आहारादि व्यवस्थाओं का कोई नियन्त्रण नहीं है। सभ्यता के नाते सोसाइटियों मे हमे यदा कदा मद्य मास सेवन करने का भी समादर करना पडा। इस प्रकार अपने जीवन की सुकुमार अवस्था से आरम्भ कर कर्त्तव्य-क्षेत्र मे प्रविष्ट होने से पहिले पहिले तक अपने आत्म-वीर्य्यों को परधर्म्मों से हमनें भलीभाति अभिभूत कर लिया। ऐसी दशा मे यदि वर्णधर्म्म, आश्रममर्य्यादा, भारतीयशास्त्र, भारतीय महर्षि, भारतीय आचार-व्यवहार, आदि को हम अवनति के कारण मान बैठने की भूल करने लगें, साथ ही साथ पदे पदे इच्छा-स्वातन्त्र्य का उद्घोष करते हुए यदि उच्छृङ्खल बनने को ही उन्नति, तथा आगे बढ़ना मानते रहें, तो कौन सा आश्चर्य्य है। सचमुच परेच्छा हम से जो अनर्थ न करावे, थोडा है।

'इच्छा का निरोध बुरा है' इस विज्ञानानुमोदितसिद्धान्त का यद्यपि विरोध नहीं किया जा सकता। तथापि पहिले यह तो विचार कर लेना चाहिए कि, यह इच्छा वास्तव मे स्वेच्छा है, अथवा स्वेच्छा के रूप में परेच्छा ने घर कर रक्खा है। उदाहरण के लिए भोजनेच्छा को ही लीजिए। अपनी प्रकृति के अनुकूल हमनें नियत समय पर हित-मित भोजन कर लिया। अब सायंकाल तक भोजन की आवश्यकता नहीं है। लीजिए, बीच मे ही हमनें चाट-मलाई खाने की इच्छा कर डाली। यह इच्छा स्वेच्छा नहीं, अपितु परेच्छा बनती हुई स्वास्थ्य विघातिका ही मानी जायगी। विज्ञानभाषा मे देवप्राणानुबन्धिनी-सात्विकबुद्धिप्रधाना इच्छा आत्मेच्छा है, यही स्वेच्छा है। एव आसुरप्राणानुबन्धिनी-तामस-बुद्धिप्रधाना, मनोऽनु-गामिनी इच्छा परेच्छा है।

एक निर्वल मनुष्य पर अत्याचार करने वाला वलवान् मनुष्य अपराधी माना जाता है। उसकी इस इच्छा को मनुष्यता के विरुद्ध घोषित किया जाता है। एवं समाज-नीति, अथवा तो राजनीति ऐसी इच्छा का नियन्त्रण करना आवश्यक समझती है। ठीक वही नियन्त्रण वर्णधर्म्मों में अपेक्षित है। एक ब्राह्मण यदि विद्या से घृणा करता है, साथ ही अर्थेच्छा का दास वनना चाहता है, तो मानना पड़ेगा कि विरोधिनी इच्छा का वल प्रवृद्ध है। यही अनुगम सर्वत्र समझिए। दोषानुगामिनी, दोषप्रवर्द्धिनी, दोषदृढ़कारिणी इच्छा का रोकना धर्म्म है, ऐसी इच्छाओं को प्रोत्साहित करना अधर्म्म है। हमारे इच्छा स्वातन्त्र्य, पारतन्त्र्य की यही संक्षिप्त परिभाषा है। यह तो हुई प्रासङ्गिक चर्चा। अव पुनः प्रकृत पर आइए।

जैसा कि पूर्व में कहा गया है, ब्रह्म-देव भाग यदि दोष-रहित हैं, तो इन से कभी परेच्छा का उदय सम्भव नहीं। परन्तु कौतुकी स्रष्टा की सृष्टि मे दोषों का आत्यन्तिक अभाव रहे, यह भी सर्वथा असम्भव है। वस **"इन प्राकृतिक दोषों को दूर करने वाली, यदि जन्मतः स्ववीर्य्य में कुछ कमी रह गई है, तो उसे पूरी करने वाली, आगन्तुक दोषों को रोकने वाली, प्राप्त शुभ अतिशय को सुरक्षित रखने वाली, जो एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है, उसी का नाम 'संस्कार' है।"**

चूंकि दोषों का सम्वन्ध पुरुषसंस्था के आत्मलक्षण ब्रह्मपर्व, तथा प्राणलक्षण देवपर्व, दोनों के साथ है अतएव यह संस्कार प्रक्रिया भी **'ब्राह्मसंस्कारप्रक्रिया, दैवसंस्कारप्रक्रिया'** भेद से दो भागों में विभक्त हो जाती है। यथाजात मानुषभाव से हटा कर दिव्यभाव की ओर ले आना ही इन प्रक्रियाओं का मुख्य उद्देश्य है। **'त्रिःसत्या वै देवाः'** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार देवप्राणप्रधान दिव्यभाव चूंकि त्रिसत्य वनता हुआ त्रिपर्वा है, अतएव उक्त दोनों संस्कारों के आगे जाकर तीन तीन अवान्तर भेद हो जाते हैं। १—**गर्भसंस्कार**, २—**अनुव्रतसंस्कार**, ३—**धर्म्म शुद्धिसंस्कार**, ये तीन तो 'ब्राह्मसंस्कार' हैं। एवं १—**पाकयज्ञसंस्कार**, २—**हविर्यज्ञसंस्कार**, ३—**सोमयज्ञसंस्कार**, ये तीन 'दैवसंस्कार' हैं। षड्विध इन दोनों संस्कारों से सुसंस्कृत द्विजाति-प्रजा के ब्रह्म-देव भाग निर्म्मल हो जाते हैं, पूर्ण वन जाते हैं, अतिशय से युक्त हो जाते हैं। एवं उस अवस्था में स्वधर्म्मानुगामिनी आत्मेच्छा का ही उद्गम होता है। निर्म्मल आकाश मे सूर्य्य रहे, और प्रकाश न हो, जैसे यह असम्भव है, एवमेव द्विजाति के ब्रह्म-देव भाग निर्म्मल रहें, और फिर उन से वर्णानुकुल इच्छा का उद्गम न हो, यह भी सर्वथा असम्भव है।

स्व-स्व वीर्य्यों की प्रतिष्ठा यही संस्कारत्रयी है। उभयविध संस्कारों से सुसंस्कृत ब्राह्मण विद्यावल के अतिरिक्त और किसी बल की कामना नहीं कर सकता। एवमेव क्षत्रिय भी पराक्रम-शौर्य्य-आदि क्षात्र धर्म्मों को छोड़ कर इतस्ततः अनुगमन नहीं कर सकता। यही अवस्था वैश्यवर्ग की समझिए। यदि देश का द्विजातिवर्ग ब्राह्मणत्वादि स्वधर्म्मों से विरुद्ध कर्म्मों का अनुगामी बन रहा है, तो मान लीजिए! उन के ब्रह्म-देव भाग अवश्य ही संस्कार शून्य हैं, उन के स्ववीर्य्य दोषाक्रान्त हैं। वर्णरक्षा, तथा वर्णविकास एकमात्र संस्कारस्वरूप रक्षा पर ही निर्भर है।

वृक्ष की लकड़ी लकड़ी अवश्य मानी जायगी। परन्तु इस से तब तक अग्नि-समिन्धन कर्म्म में नहीं लिया जा सकता, जब तक कि वृक्ष से काट कर, शास्त्रविहित प्रमाणानुसार परिमाण से युक्त कर संस्कृत बना कर अन्तर्वेदि की वस्तु नहीं बना लिया जायगा। यही दशा असंस्कृत द्विजातियों की समझिए। तभी तो इन अश्रोत्रिय, अननुवाक्य, अनग्निक ब्राह्मणों को शूद्रसधर्म्मा माना गया है। देखिये!

'अश्रोत्रिया, अननुवाक्या, अनग्नयो वा—
शूद्रसधर्म्माणो भवन्ति'

—वसिष्ठस्मृति ३।१।

जिस ग्राम में, जिस नगर में, जिस पुर में, जिस राष्ट्र में विद्याशून्य ब्राह्मण केवल उदरपूर्ति के लिए भिक्षान्न सञ्चित करते हैं, तत्तधिपति शासकों को चाहिए कि, वे ऐसे भिक्षकों का पूरा पूरा नियन्त्रण करें। दाता को भी रोकें, लेने वालों का भी अवरोध करें। जो शासक उदरम्भरी द्विजातियों की उपेक्षा करता है, वह अपने राज्य में चौरों की संख्या बढ़ाता है। चतुर्थ (संन्यास) आश्रम में दीक्षित सन्यासी, एवं स्वाध्यायशील ब्राह्मण, ये दो ही वर्ग भिक्षा के सतपात्र [1] हैं। इस उदाहरण से बतलाना यही है कि, अश्रोत्रिय, असंस्कृत द्विजाति केवल नाममात्र के द्विजाति हैं। जिस प्रकार एक शूद्र यज्ञ-तपो-दानादि में अनधिकृत है, एवमेव ऐसे विद्या-तपः शून्य द्विजाति भी—'नामधारकाः' ही मानें गए हैं।

---

१ अव्रताश्चानधीयाना यत्र भैक्षचरा द्विजाः।
तं देशं दण्डयेद्राजा चौरभक्तप्रदो हि सः॥

—वसिष्ठ ३।५।

हां, इस सम्बन्ध में वैज्ञानिकों को यह विस्मृत नहीं कर देना चाहिए कि, जिसके माता-पिता द्विजाति होंगे, दूसरे शब्दों में जो जन्मतः द्विजाति होगा, ब्राह्म-दैव संस्कार उसीके होंगे। जिसके वीर्य्य मे, रक्त में, शुक्र में, प्रकृति मे ब्रह्म-क्षत्र-विड्-भाव प्रतिष्ठित होंगे, वही संस्कार-कर्म्म में अधिकृत माना जायगा। एक अच्छन्दस्क, वीर्य्यशून्य, शूद्रबालक कभी इन संस्कारों का अधिकार प्राप्त न कर सकेगा. जैसा कि 'वर्णव्यवस्था' प्रकरण मे विस्तार से बतलाया जा चुका है। वज्र (हीरा) के आकर (खान) से उत्पन्न वज्र ही संस्कार विशेषों से चमक सकता है। मलविशोधक (साबुन आदि) द्रव्यों से शतशः वार परिमार्जन करने पर भी कोयला कभी वज्र नहीं बन सकता। पालिस उसी पर होगी, जिसमे इस कर्म्म की योग्यता पहिले से रहेगी। यदि वज्र पर पालिस न की जायगी, तब भी वज्र जाति से वज्र ही रहेगा। उधर पालिस किया हुआ कोयला भी जाति से कोयला ही माना जायगा। इसी प्रकार शूद्रधर्म्मानुगामी ब्राह्मण जात्या ब्राह्मण ही रहेगा, एवं विद्यानुगामी शूद्र जात्या शूद्र ही माना जायगा। असंस्कृत वज्र जात्या वज्र रहता हुआ भी कर्म्मणा कोयला है। जिस प्रकार कोयले से प्रकाश रश्मियां नहीं निकलतीं, एवमेव आगन्तुक मृत्-आदि आवरक-दोषों से आवृत वज्र प्रकाशरश्मियां निकालने में असमर्थ ही रहता है। ठीक इसी तरह असंस्कृत ब्राह्मण जात्या ब्राह्मण रहता हुआ भी शूद्रवत् है, इधर विद्वान् शूद्र जात्या शूद्र रहता हुआ भी ब्राह्मणवत् है। शूद्रवत् ब्राह्मण भी ब्राह्मणब्रुव (निन्द्यब्राह्मण) है, एवं ब्राह्मणवत् शूद्र भी शूद्रब्रुव (निन्द्यशूद्र) है। दोनों हीं स्वधर्म्म से च्युत होते हुए पतित हैं, अधर्म्म-पथ के अधार्म्मिक पथिक हैं। इस जाति, तथा सस्कारविवेक से निष्कर्ष यही निकलता है कि, न केवल जाति से काम चल सकता, एवं न केवल संस्कार से ही कोई अतिशय उत्पन्न किया जा सकता। अपितु दोनों के एकत्र समन्वय से ही वर्णधर्म्म का विकास सम्भव है। जैसा कि—'प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं, संस्कारविशेषाच्च' इत्यादि रूप से वर्णव्यवस्थोपसंहार में स्पष्ट किया जा चुका है।

वास्तव मे आर्यप्रजा का यह दुर्भाग्य ही माना जायगा कि, आज उसने वर्णाश्रमरक्षक इन ब्राह्म-दैवसंस्कारों का स्वरूप भुला दिया है। यदि किसी का ध्यान इस ओर गया भी है, तो उसने कल्पसूत्रादि सम्मत चिरन्तन पद्धतियों के स्थान में कल्पना द्वारा नूतन पद्धतियों द्वारा और भी अधिक सर्वनाश कर डाला है। उधर सनातनधर्म्मावलम्बिनी आस्तिक प्रजा में प्रथम तो संस्कार-कर्म्मों का अभाव-सा ही है। यदि यत्र कुत्रचित् यथाकथंचित् दो चार संस्कार प्रचलित हैं भी, तो नाममात्र के लिए। हमारी मूर्खता से आज 'भोजन'

कर्म्म ने हीं संस्कारकर्म्म का आसन ग्रहण कर लिया है। मनुष्य अनृतसंहित है, अतएव पूरी पूरी सावधानी रखने पर भी मानवकर्म्म में अज्ञात दोष रह जाना स्वाभाविक है। यह अज्ञात दोष कर्म्मसन्तान के मध्य में प्रविष्ट होकर कर्म्म को 'विरिष्ट' (अंगभंगयुक्त) कर देता है। इस 'विरिष्ट-सन्धान' के एकमात्र देवता **'सान्तपन'** नामक प्राणाग्नि हैं। अधीत-वेद ब्राह्मण के शरीर में विद्या-कर्म्म के प्रभाव से यह सान्तपन अग्निदेवता वर्णवीर्य्यवत् जन्मना प्रतिष्ठित रहता है। इसे भोजन करा देने से सान्तपन अग्नि तृप्त होता हुआ यज्ञ-विरिष्टसन्धान कर देता है। एकमात्र इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए महर्षियों ने प्रत्येक कर्म्म की समाप्ति पर 'ब्राह्मणभोजन' कर्म्म आवश्यक माना है। परन्तु आज उन संस्कारों का स्थान इस भोजनसंस्कार ने ही छीन रक्खा है। यजमान को विवाहादि आवश्यकतम संस्कारों की विशेष चिन्ता नहीं रहती, चिन्ता रहती है, भोजनकर्म्म की। संस्कार भलीभांति हो, अथवा न हो, जाति के भोजनभट्ट अप्रसन्न न हो जायँ, कोई बिना भोजन के रूठ कर चला न जाय, बस यजमान की सारी शक्ति इसी प्रयास में लगी रहती है। इधर दुर्भाग्य से संस्कारक-याजक भी आज हमें विशुद्ध भोजन, तथा दक्षिणाप्रेमी हीं उपलब्ध हो रहे हैं। निदर्शनमात्र है। हमारा सभी शास्त्रीयकर्म्म-कलाप एक धोके की टट्टी बन रहा है। धर्म्म को आज हम धोका दे रहे हैं, परिणामस्वरूप आज धर्म्म हमें धोका दे रहा है।

परिस्थिति बड़ी जटिल। कैसे यह समस्या सुलझाई जाय?। इन अपूर्ण, एवं विरुद्ध संस्कारों की प्रतिद्वन्द्विता से श्रान्त होकर सुधारवादियों की तरह क्या विप्लव मचा दिया जाय? ऐसा करने से समय की तो बचत होगी ही, साथ ही कल्याणपथ भी शीघ्र ही प्राप्त हो जायगा। **'नेति होवाच'**। इसी जटिल समस्या के प्रतिशोध का उपाय बतलाते हुए लोकसंग्राहक भगवान् कहते हैं—

> न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म्मसंङ्गिनाम्।
> जोषयेत् सर्वकर्म्माणि विद्वान् युक्तः समाचरेत्॥
>
> —गी० ३।१६

क्या भगवान् का यह अभिप्राय है कि, जो अज्ञानी अज्ञानपूर्वक जिन कर्म्मों में अस्तव्यस्त रूप से प्रवृत्त हैं, उन्हें उस अज्ञानपथ से न डिगाया जाय, अपितु उनके कार्य्यों में सहयोग दिया जाय? अब्रह्मण्यम्!! अब्रह्मण्यम्!! बहुत बड़ी भ्रान्ति। अज्ञानान्धकार को दूर करने

वाला गीताशास्त्र स्वयं अज्ञानप्रवृत्ति की रक्षा का आदेश देगा, यह कल्पना भी हमें प्रायश्चित्त का भागी बनाती है। वस्तुतः भगवान् का अभिप्राय यह है कि, उलटे सीधे रास्ते से यथा-कथंचित् सत्कर्म्मों में प्रवृत्त रहने वाली मुग्ध प्रजा का आवेशपूर्वक हठात् सुधार करने वाले महोदय प्रजा को लक्ष्यच्युत कर देते हैं। यदि एकान्ततः प्रजा के सामने केवल दोषों का ही चित्रण किया जायगा, तो प्रजा का अभ्यास छूट जायगा। होना यह चाहिए कि, तत्त्ववेत्ता शिष्ट विद्वान् आरम्भ में प्रजावर्ग को इस सत्कर्म्मप्रवृत्ति का—"बड़ा अच्छा कर रहे हो, बड़ा उत्तम कर्म्म है" इन प्ररोचनात्मक उपलालन भावों से समादर करें, इन के कर्म्मों में सहयोग प्रदान करें, स्वयं पद्धतिपूर्वक कर्म्मों का आचरण करें, यथावसर दोषदर्शन द्वारा प्रजावर्ग का ध्यान दोषों की ओर आकर्षित करते रहें। इस क्रमिक सुधार से न तो बुद्धिभेद ही होगा, एवं न प्रजावर्ग का अभ्यास ही छूटेगा।

मान लीजिए, आपने विरुद्धभावों को आगे करते हुए संस्कारपद्धति पर ही कुठाराघात कर दिया। परिणाम इस का यह होगा कि, प्रजावर्ग का अभ्यास एकान्ततः छूट जायगा। नकल करते करते कभी न कभी मनुष्य का ध्यान असल पर पहुंच ही जाता है। यदि नकल भी न रहे, तो असल का स्वप्न भी दुर्लभ बन जाय। इस लिए, **'क्षुरस्यधारा निशिता दुरत्यया'** को मूलमन्त्र बनाते हुए बड़ी सावधानी से, लोकसंग्रह की रक्षा करते हुए ही अभिजनों को सुधार की चेष्टा करनी चाहिए। हां, इस सम्बन्ध में इतना ध्रुव सत्य है कि, जब तक संस्कार-पद्धति पुनरुज्जीवित न होगी, तब तक आश्रम-वर्णों का विकास न होगा, एवं जबतक आश्रम-वर्ण यथाव्यवस्थित न होंगे, तबतक धार्म्मिकक्षेत्र कभी अभ्युदय-निःश्रेयस्कर का कारण न बनेगा।

संस्कारों का वर्णव्यवस्था के साथ क्या सम्बन्ध ? इस प्रश्न के समाधान में 'ब्रह्म-देव' के सम्बन्ध को ही आगे रक्खा जायगा। ब्रह्म उक्थ है, तो देव अर्क है। उक्थ आत्मा है, तो अर्क प्राण है,—**'यत्रात्मा, तत्र प्राणः, यत्र वा प्राणस्तत्रात्मा'**। यदि संस्कार ब्रह्म-स्थानीय उक्थ है तो, वर्णव्यवस्था देवस्थानीय अर्क है। बिना बिम्ब के जैसे रश्मिविकास असम्भव है, एवमेव बिना उक्थस्थानीय संस्कार के अर्कस्थानीय वर्णों का विकास असम्भव है। इस तादात्म्य-सम्बन्धदृष्टि से यदि इन संस्कारों को हम चातुर्वर्ण्य का जीवन हेतु भी कह दें, तब भी कोई अत्युक्ति न होगी।

'संस्कार' शब्द का अर्थ है—'दुरुस्ती'। दोषयुक्त वस्तु को दोष रहित कर देना, कमी पूरी कर देना, उस में अतिशय का आधान कर देना ही संस्कारकर्म्म है। संस्कार प्रक्रिया

परधर्म्मावरण को हटा कर आत्मवीर्य्य को स्वधर्म्म के साथ समभाव में परिणत कर देती है। अतएव इसे 'संस्कार' शब्द से व्यवहृत किया गया है, जैसा कि भूमिकाप्रथमखण्ड में 'संस्कारशब्दनिर्वचन' नामक प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है। 'जौ' में प्ररोहित होने (उगने) की शक्ति जन्मसिद्ध है, पहिले से विद्यमान है। परन्तु इसे भूतल में गाड़ कर जबतक पानी से न सींचा जायगा, तबतक अङ्कुर न निकलेगा। पानी ही जौ की अङ्कुरोत्पत्तिलक्षण, उत्पत्तियोग्यता सम्पादन का कारण बनेगा, अतः यह सिञ्चनप्रक्रिया ही उस जौ का संस्कार कहलाएगा। जबतक विरोधी धर्म्मों का आक्रमण होता रहता है, तबतक वस्तुस्वरूप में विषमता रहती है, एवं तबतक के लिए वह पदार्थ रहती हुई भी अपनी योग्यता के विकास से वञ्चित रहता है।

जौ का वह विरुद्ध धर्म्म 'रुद्रवायु' नाम से प्रसिद्ध है। पानी अङ्कुर उत्पन्न नहीं करता, अपितु अङ्कुरोत्पत्ति में प्रतिबन्ध लगाने वाले रुद्र वायु के आक्रमण से जौ की रक्षा करता है। पानी के संस्कार से रुद्रवायु शिथिल हो जाता है, अङ्कुरोत्पत्ति-सहायक 'शिववायु' उद्बुद्ध हो जाता है। तत्काल अङ्कुर निकल पड़ता है। रजक (धोबी) वस्त्र को सुफेद नहीं करता। वस्त्र में सुफेदी तो पहिले से ही विद्यमान है। रजक तो पानी-क्षार आदि के संस्कार से श्वेत-वस्त्र पर चढ़े हुए मल (मैल) मात्र को दूर करता है। वायुप्रवाह सूर्य्यप्रकाश उत्पन्न नहीं करता, अपितु प्रकाश के आवरक मेघों को हटाता है। मेघ के हटते ही स्वतःसिद्ध प्रकाश दृष्टि का विषय बन जाता है। ठीक इसी तरह ब्राह्म-दैव संस्कार भी ब्राह्मणत्वादि धर्म्मों के उत्पादक नहीं हैं। वीर्य्यात्मक ये धर्म्म तो प्रकृति सिद्ध हैं, शाश्वत हैं। संस्कारकर्म्म केवल ब्राह्मणत्वादि के प्रतिबन्धक दोषों को हटाते हैं। इन से तत्तद्वीर्य्यों में पहिले से विद्यमान ब्रह्मत्व-क्षत्रत्वादि तत्तद् योग्यताएं विकसित हो जातीं हैं।

संस्कारों से सम्पन्न होने वाला वह योग्यता सम्पादन कर्म्म तीन भागों में विभक्त माना गया है। दोषमार्जन, हीनाङ्गपूर्त्ति, अतिशयाधान, इन तीन कर्म्मों के द्वारा पदार्थों का संस्कार किया जाता है। कितने एक संस्कार दोषों को दूर करते हैं, एवं दोष-निवारक वे ही संस्कार 'दोषमार्जक-संस्कार' कहलाए हैं। कितने एक संस्कार दोषविरहित पदार्थों के हीनस्वरूप की पूर्त्ति करते हैं, एवं हीनाङ्गपूरक उन्हीं संस्कारों को—'हीनाङ्गपूरक-संस्कार' कहा जाता है। कितने एक संस्कार पदार्थों में (सामान्य पदार्थों की अपेक्षा) एक प्रकार की विशेषता (खूबी) उत्पन्न करते हैं, एवं उन्हीं को 'अतिशयाधायक-संस्कार' कहा जाता है। यद्ययावत् संस्कारों का संस्कारत्व, व्याप्ति इन्हीं त्रिविध संस्कारों में विश्रान्त है।

लोकदृष्टान्तों के आधार पर संस्कारत्रयी का निरीक्षण कीजिए। वस्त्र निर्म्माण कर्त्ता तन्तुवाय (जुलाहा) अपने घर कार्पास (कपास) ले आता है। वह सब से पहिले प्रकृतिसिद्ध बिनौले (काकड़े), तृण, आदि दोषों को निकाल कर कपास को स्वच्छ करता है। यही पहिला दोषमार्ज्जक-संस्कार है। इस संस्कार से जब कपास अपने विशुद्ध रूप में आ जाता है, तो अनन्तर वही कपास ताने-बाने के चक्र में आता हुआ कालान्तर में पटरूप में परिणत हो जाता है। यही अतिशयाधायक संस्कार है। पट के प्रान्तभागों में (पटतन्तु इतस्ततः निकल न जायँ, इस प्रयोजन के लिए) जुलाहा दृढ़ सूत्र का वेष्टन लगाता है, यही हीनाङ्ग-पूरक संस्कार है। इन तीनों संस्कारों से प्रकृति-दत्त प्राकृतिक कपास पटरूप में परिणत होता हुआ एक सुसंस्कृत पदार्थ बन जाता है। सुसंस्कृत रूप में परिणत होकर वही पट आपण (दूकान) में (विक्रयार्थ) स्थान पा लेता है। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, अपने इस त्रिविध संस्कार कर्म्म में जुलाहा पटनिर्म्माणप्रक्रिया में जितना हीं अधिक निपुण होगा, पट उतना ही अधिक सुसंस्कृत बन कर उतने हीं अधिक आदर (मूल्य) की वस्तु होगी। इस से यह भी निष्कर्ष निकला कि, यदि संस्कार करने वाले कुल पुरोहित योग्य हैं, विद्वान् हैं, रहस्यवेत्ता हैं, तो संस्कार उत्तम होते हैं। यदि संस्कारक अयोग्य हैं, तो संस्कार निम्नश्रेणि के होते हैं। इसी अभिप्राय से 'देवयजनसम्पत्ति' (यज्ञियभूमि) की मीमांसा करते हुए भगवान याज्ञवल्क्य ने आरम्भ में उत्तम, सम, प्राक्प्रवणा, अथवा उदक्-प्रवणा भूमि, उत्तम-पवित्र-यज्ञियद्रव्य, आदि को 'देवयजनसम्पत्' बतलाते हुए अन्त में यह सिद्धान्त व्यवस्थित किया है कि,—"यज्ञकर्त्ता यजमान की सर्वोत्तम देवयजन-सम्पत्ति वही होगी, जोकि इसके यज्ञ-संस्कारक ऋत्विक् उत्तम (रहस्यवेत्ता) होंगे। यदि ऋत्विक् विद्वान् होंगे, तो सब सम्पत्तियाँ मिल जायँगीं। यदि ये अयोग्य हुए, तो सब सामग्री निरर्थक बन जायगी"। देखिए!

'तदु होवाच याज्ञवल्क्यः—वार्ष्णाय देवयजनं जोषयितुमैम। तत् सात्ययज्ञोऽब्रवीत्—सर्वा वाऽइयं पृथिवी देवी देवयजनम्। यत्र वाऽस्यै क्वच यजुषैव परिगृह्य याजयेत्—इति। ऋत्विजो हैव देवयजनम्। ये ब्राह्मणाः शुश्रूवांसोऽनूचाना विद्वांसो याजयन्ति, सैव अह्वला। एतन्नेदिष्ठमामिव मन्यामहे'।

—शत० ब्रा० ३।१।१।४-५।

एक व्यक्ति जुलाहे से संस्कृत, आपण में रक्खे हुए पट में से वस्त्रनिर्माणार्थ थोड़ा कपड़ा खरीद लाता है। अभीप्सित वस्त्र निर्माण के लिए सूचीकार (दर्जी) को सोंप देता है। शरीरोपयोगी वस्त्र की अपेक्षा से अभी यह पट भाग असंस्कृत है। वस्त्रस्वरूप निष्पत्ति के लिए सूचीकार को वे ही तीनों संस्कार करने पड़ते हैं। पट को काट-छांट कर, वस्त्र की माप के अनुकूल बना कर, कर्त्तन के समय इतस्ततः बिखरनेवाले तन्तुओं को कर्त्री से दूर कर पट को वस्त्राकार दे देना पहिला दोषमार्जक-संस्कार है। काट-छांट के अनुसार सूत्रयुक्त सूची के प्रयोग से पट को वस्त्र का स्वरूप दे देना, वस्त्र सम्पन्न कर लेना, दूसरा अतिशयाधायक-संस्कार है। इस्त्री, घुण्डी, कसें, बटन, आदि यथायोग्य लगा कर वस्त्र को सर्वात्मना सम्पन्न कर लेना तीसरा हीनाङ्गपूरक-संस्कार है।

रंगरेज वस्त्र को पहिले पानी में डुबोकर उसके दाग-धब्बे दूर करता है, यही पहिला दोष० संस्कार है। ग्राहकाभीप्सित रंग से साफ-सुथरे वस्त्र को रञ्जित कर देना दूसरा अति० संस्कार है। एवं कल्प लगा कर इस्त्री कर देना तीसरा हीना० संस्कार है।

रजक पहिले वस्त्रों को भट्टी पर चढ़ा कर वस्त्रों के मैल को पृथक् करता है, यही पहिला दोष० संस्कार है। धूप में सुखा कर यथाव्यवस्थित वस्त्रों की घड़ी करना, दूसरा अति० संस्कार है। एवं इस्त्री कर देना तीसरा हीना० संस्कार है।

बाइण्डर पहिले पुस्तकपत्रों को स्निग्धपदार्थ से एकत्रित कर इन्हें सुपरिष्कृत बनाता है, यही प्रथम संस्कार है। कपड़ा-अबरी लगा कर पुस्तक तय्यार कर देना द्वितीय संस्कार है। एवं शिकञ्जे में कस कर उसे सुडोल बना देना ही तृतीय संस्कार है।

बाजार से लाए हुए अन्न को कूट-पीस-छान कर विशुद्ध आटे के रूप में परिणत कर देना प्रथम संस्कार है। अग्नि-परिपाक द्वारा रोटी बना लेना द्वितीय संस्कार है। एवं घृताप्लुत कर देना तृतीय संस्कार है।

धूल-धमासा झाड़ कर पानी से मकान को साफ कर डालना प्रथम संस्कार है, सुफेदी, रंग वगैरह कर देना द्वितीय संस्कार है, एवं यथास्थान चित्र-नागदन्त-दर्पणादि का विन्यास कर देना तृतीय संस्कार है।

जङ्गली लकड़ी को काट कर रन्दे पर चढ़ा कर उसे आभ्यन्तर रूप में लाना प्रथम संस्कार है। कपाटादि बना लेना द्वितीय संस्कार है। पालिस कर देना तृतीय संस्कार है।

निदर्शनमात्र है। प्रकृति से उत्पन्न जितने भी पदार्थ हैं, सब इन त्रिविध संस्कारों से युक्त बन कर ही हमारे उपयोग में आते हैं। इन्हीं तीनों संस्कारों को धर्म्मशास्त्र की

परिभाषा के अनुसार हम शोधकसंस्कार, विशेषकसंस्कार, भावकसंस्कार, नामों से व्यवहृत कर सकते हैं।

१—दोषमार्जकसंस्काराः— शोधकाः—ततो दोषमार्जनम्।
२—अतिशयाधायकसंस्काराः—विशेषकाः—ततोऽतिशयाधानम्।
३—हीनाङ्गपूरकसंस्काराः— भावकाः—ततो हीनाङ्गपूर्त्तिः।

कितने एक संस्कार ऐसे हैं, जिन के न होने से द्विजातिवर्ग जाति से द्विजाति रहता हुआ भी पतित बना रहता है। प्रतिबन्धक रहने पर जैसे विद्यमान शक्ति भी कोई काम नहीं कर सकती, एवमेव दोषप्रतिबन्धक के कारण रहता हुआ भी द्विजातित्व स्वविकास में असमर्थ रहता है। इस प्रतिबन्धक को हटाने वाला संस्कार ही पहिला 'शोधक' संस्कार है। वस्तु को अपने स्वरूप पर ले आना ही इस का मुख्य काम है। शोधक संस्कारों द्वारा दोष हट जाने से एक ब्राह्मण सच्चा ब्राह्मण बन गया, अपने वास्तविक वर्ण में आ गया। परन्तु अभी यह उन्नत नहीं हुआ। कितने एक ऐसे कर्म्म हैं, जिन के सम्पादन के लिए विशेष योग्यता अपेक्षित है। सामान्य ब्राह्मण उन विशेष कर्म्मों का अनुगमन नहीं कर सकते। जिन संस्कारों से विशुद्ध ब्राह्मण में यह विशेषता आती है, वे ही संस्कार 'विशेषक' नाम से प्रसिद्ध हैं। शोधन भी हो गया, विशेषता भी आ गई। परन्तु जन्मतः वीर्य्य की मात्रा में अभी कमी है। वीर्य्यदोष हट गया, वीर्य्य में अतिशय भी आ गया, परन्तु अभी मात्रा में वृद्धि न हुई। जिन संस्कारों से वीर्य्यवृद्धि होती है, दूसरे शब्दों में जो संस्कार वीर्य्य की कमी पूरी करते हैं, उन्हीं हीनाङ्गपूरक संस्कारों को 'भावक' संस्कार कहा जाता है। इन तीनों संस्कारों से संस्कृत द्विजाति सर्वात्मना कृतकृत्य है। एवं यही संस्कार का संक्षिप्त 'स्वरूप परिचय' है।

लोक दृष्टान्तों के द्वारा संस्कार का स्वरूप परिचय कराया गया। अब उन शास्त्रीय संस्कारों की मीमांसा कीजिए, जिन की मीमांसा इस संस्कार-प्रकरण का मुख्य उद्देश्य है। पूर्व परिच्छेद में यह कहा जा चुका है कि, हमें अध्यात्मसंस्था के 'ब्रह्म-देव' दोनों भागों का संस्कार अपेक्षित है। एवं इसी आधार पर शास्त्रीय संस्कार 'ब्राह्म-दैव' भेद से दो भागों में विभक्त हुए हैं। साथ ही में प्रत्येक के अवान्तर तीन तीन विभाग हैं। आगे जाकर इन अवान्तर भेदों के भी प्रत्यवान्तर

शास्त्रीयसंस्कार-तालिका—

अनेक भेद हो जाते हैं। यदि उन सब का संकलन किया जाता है, तो सब मिलकर ४२ (बियांलीस) संस्कार हो जाते हैं।

ये शास्त्रीय संस्कार 'श्रौत-स्मार्त्त' भेद से दो भागों में विभक्त माने गए हैं। इन में श्रौत संस्कार भी २१ हैं, एवं स्मार्त्तसंस्कार भी २१ हैं। ब्राह्मसंस्कार स्मार्त्तसंस्कार कहलाते हैं, दैवसंस्कारों को श्रौतसंस्कार कहा जाता है। पहिले यथाक्रम स्मार्त्तसंस्कार किए जाते हैं। अनन्तर यथाक्रम श्रौतसंस्कारों का अधिकार प्राप्त होता है। दोनों में से क्रमप्राप्त पहिले स्मार्त्तसंस्कारों की गणना का ही समन्वय कीजिए। ब्राह्मसंस्कारों के अवान्तर गर्भसंस्कार, अनुव्रतसंस्कार, धर्म्मशुद्धिसंस्कार, ये तीन सामान्य भेद हैं। तीनों क्रमशः '८-८-५' इन संख्याओं में विभक्त होते हुए अपनी अवान्तर अवस्थाओं से २१ संख्याओं में परिणत हो जाते हैं। इस दृष्टि से यद्यपि ब्राह्मलक्षण स्मार्त्तसंस्कार २१ ही मानने चाहिएं थे, परन्तु 'धर्म्मशुद्धि' नामक पांच संस्कार ही चूंकि आगे जाकर दैवसंस्कार की मूलप्रतिष्ठा बनते हैं, अतएव इन पांचों ब्राह्मसंस्कारों का श्रौत-दैवसंस्कारों में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है। फलतः ब्राह्मसंस्कार १६ ही बच रहते हैं। इसी आधार पर शास्त्र-परिभाषानुसार 'षोडशसंस्कार' ही प्रसिद्ध हो रहे हैं। इन्हीं सोलह संस्कारों की परिगणना करते हुए आचार्य कहते हैं—

(१)—१—[१]गर्भाधानं- [२]पुंसवनं- [३]सीमन्तो- [४]जातकर्म्म च।
[५]नामक्रिया-[६]निष्क्रमो-[७]ऽन्नप्राशनं-[८]चौलकर्म्म च॥
२—[९]कर्णवेधो- [१०]व्रतादेशो- [११]वेदस्वाध्यायनित्यता।
[१२]केशान्तः-[१३]स्नान-[१४]मुद्वाहो विवाहा-[१५]ग्निपरिग्रहः॥
३—[१६]त्रेताग्निसंग्रहश्चे-ति संस्काराः षोडश स्मृताः॥

—स्मृतिः।

(२)—१—गर्भाधानादिकर्म्माणि यावदंशव्यवस्थया ॥

२—नामान्तं व्रतबन्धान्तं समावर्त्तावसानकम् ।
अधिकारावसानं वा कुर्य्यादङ्गानुसारतः ॥

३—गर्भाधानं तु प्रथमं ततः पुंसवनं स्मृतम् ।
सीमन्तोन्नयनं-जातकर्म्म-नामा- न्नप्राशनम् ॥

४—चूड़ाकृतिं- व्रतबन्धं- वेदव्रतान्यशेषतः ।
समावर्त्तनं-पत्न्या च योगश्चाथाधिकारकः ॥

—अग्निपुराण २४ अ० होमादिविधान ।

(३)—१—संस्कारान् कारयेद्धीमान् शृणु तान्यैः 'सुरो' भवेत् ॥

२—गर्भाधानं तु योन्यां वै ततः पुंसवनञ्चरेत् ।
सीमन्तोन्नयञ्चैव जातकर्म्म च नाम च ॥

३—अन्नाशनं ततश्चूड़ा ब्रह्मचर्य्यव्रतानि च ।
गोदानं स्नातकत्वञ्च······ ॥

—अग्निपुराण ३२ अ० गर्भा० ।

(४)—१—ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः ।
निषेकाद्याः श्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः ।

२—गर्भाधानमृतौ पुंसः सवनं स्पन्दनात्पुरा ।
षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तो मास्येते जातकर्म्म च ॥

३—अहन्येकादशे नाम चतुर्थे मासि निष्क्रमः ।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि चूड़ा कार्य्या यथाकुलम् ॥

४—गर्भाष्टमेऽष्टमे वाब्दे ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
राज्ञामेकादशे सैके विशामेके यथाकुलम् ॥
—याज्ञवल्क्य आ० २ ।

(५)—१—वैदिकैः कर्म्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्य्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥

२—गार्भैर्होमैर्जातकर्म्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥

३—प्राङ् नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म्म विधीयते ।
मन्त्रवत् प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥

४—नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत् ।
पुण्ये तिथौ मुहूर्त्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥
—मनुः २ ।

(६)—१—गर्भस्य स्फुटताज्ञाने निषेकः परिकीर्त्तितः ।
पुरा तु स्पन्दनात् कार्य्यं पुंसवनं विचक्षणैः ॥

२—षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तो जाते वै जातकर्म्म च ।
आशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म्म विधीयते ॥

३—चतुर्थे मासि कर्त्तव्यं बालस्याऽऽदित्यदर्शनम् ।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि चूडा कार्य्या यथा कुलम् ॥

४—गर्भाष्टमेऽब्दे कर्त्तव्यं ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥

५—मौञ्जीज्याबन्धनानां तु क्रमान्मौञ्ज्यः प्रकीर्त्तिताः ।
मार्गवैयाघ्रबास्तानि कर्म्माणि ब्रह्मचारिणाम् ॥

६—मेखलामजिनं दण्डं धारयेच्च विशेषतः ।
अधःशायी भवेन्नित्यं ब्रह्मचारी समाहितः ॥

७—एवं व्रतं तु कुर्वीत वेदस्वीकरणं बुधः ।
गुरवे च धनं दत्त्वा स्नायीत तदनुज्ञया ॥

८—विन्देत विधिवद्भार्य्यामसमानार्षगोत्रजाम् ।
मातृतः पञ्चमीं चापि पितृतस्त्वथ सप्तमीम् ॥

९—सायं प्रातश्च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि ।
दर्शं च पौर्णमासं च जुहुयाद्विधिवत्तथा ॥

—शङ्खः २-३-४-५ अ० ।

इन सोलह संस्कारों के अतिरिक्त पांच धर्म्मशुद्धि संस्कार और हैं। सम्भूय स्मार्त्तसंस्कार २१ हो जाते हैं। आरम्भ के आठ 'गर्भसंस्कार' दोषमार्जक बनते हुए 'शोधक संस्कार' हैं। मध्य के आठ 'अनुव्रतसंस्कार' अतिशयाधायक बनते हुए 'विशेषक संस्कार' हैं। एवं अन्त के पांच 'धर्म्मशुद्धिसंस्कार' हीनाङ्गपूरक बनते हुए 'भावक संस्कार' हैं। शोधकसंस्कार पिता द्वारा सम्पन्न होते हैं, विशोधक संस्कार आचार्य्य करते हैं, एवं शुद्धिसंस्कार स्वयं करने पड़ते हैं। इन तीनों संस्कारों से द्विजाति का 'ब्रह्म' भाग सर्वात्मना सुसंस्कृत बन जाता है। निम्न लिखित परिलेख इन्हीं की परिगणना का स्पष्टीकरण कर रहा है।

१—ब्राह्मसंस्कारपरिलेखः—(त इमे ब्रह्मभावप्रयोजकाः स्मार्त्तसंस्काराः २१)।

अन्तर्गर्भसंस्काराः ३

१—(१)—गर्भाधानम्
२—(२)—पुंसवनम्
३—(३)—सीमन्तोन्नयनम्

बहिर्गर्भसंस्काराः ५

४—(४)—जातकर्म्म
५—(५)—नामकरणम्
६—(६)—निष्क्रमणम्
७—(७)—अन्नप्राशनम्
८—(८)—चौलकर्म्म

१— अष्टौ-'गर्भसंस्काराः'—पितृकर्तृकाः। 'शोधकाः' (ब्रह्मभागगतदोषमार्जनम्)

९—(१)—कर्णवेधः
१०—(२)—उपनयनम्
११—(३)—व्रतादेशः
१२—(४)—वेदस्वाध्यायः
१३—(५)—केशान्तः
१४—(६)—स्नानम्
१५—(७)—विवाहः
१६—(८)—अग्निपरिग्रहः

२— अष्टौ-'अनुव्रतसंस्काराः'—आचार्य्यकर्तृकाः। 'विशेषकाः' (ब्रह्मभागेऽतिशयाधानम्)।

१७—(१)—शरीरशुद्धिः
१८—(२)—द्रव्यशुद्धिः
१९—(३)—अघशुद्धिः
२०—(४)—एन शुद्धिः
२१—(५)—भावशुद्धिः

३— पञ्च 'धर्म्मशुद्धिसंस्काराः'—स्वकर्तृकाः। 'भावकाः' (ब्रह्मणो हीनाङ्गपूर्त्तिः)।

इन ब्राह्मसंस्कारों का मूल तो स्वयं श्रुतियों में है, किन्तु इन की इतिकर्त्तव्यता (पद्धति) चूंकि स्मार्त्तग्रन्थों मे है, अतएव इन्हें 'स्मार्त्तसंस्कार' कहा जाता है। इन ब्राह्मसंस्कारों के अनन्तर 'दैवसंस्कार' हमारे सामने आते हैं। जिस ब्रह्म का ब्राह्मसंस्कारों से संस्कार करना बतलाया गया है, वह ब्रह्म पूर्व में 'आत्मा' शब्द से सम्बोधित हुआ है, एवं इसी को 'कारण-शरीर' बतलाया गया है। यह आत्मा, किंवा कारणशरीर सुप्रसिद्ध 'भूतात्मा' ही है, जो कि कर्म्मानुसार तत्तज्जाति (योनि), आयु, भोगों का अनुगामी बनता हुआ तत्तदुत्तमाधमलोकों मे विचरता रहता है। पाप-पुण्य, सुख-दु:ख, शुभ-अशुभ, सत् असत, सामान्य-विशेष, आदि द्वन्द्वों का अन्यतम अधिकारी हो भूतात्मा है।

वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-समष्टिरूप भूतात्मा प्रज्ञानात्मा से युक्त रहता है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि, हमारे इस संस्कार-प्रकरण का 'ब्रह्म' पदार्थ वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञयुक्त प्रज्ञा-नात्मा ही है। इसी को यहां भूतात्मा माना जायगा। कारण स्पष्ट है। संस्कार तबतक व्यर्थ हैं, जब तक कि, वासनारूप से उन का कोई ग्राहक न हो। इधर अध्यात्मसंस्था में वासनासंस्कार का एकमात्र ग्राहक प्रज्ञानात्मा (चान्द्रमन) ही है। अतः तद्विशिष्ट भूतात्मा ही संस्कारग्राहक बन सकता है। पार्थिव रस 'इरा' नाम से प्रसिद्ध है। प्रज्ञानब्रह्म में चान्द्र-सोम के साथ साथ (वै० तै० प्राज्ञलक्षण पार्थिव भूतात्मा के सहयोग से) पार्थिव इरारस की भी प्रधानता रहती है। इसी रससम्बन्ध से हमारा प्रज्ञानमन पार्थिव भूतों की ओर अनुगत बना रहता है। इस इरारस के सम्बन्ध से ही भूतात्मयुक्त प्रज्ञानब्रह्म को 'इरामयपुरुष' कहा जाता है। यही पुरुष परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में 'हिरण्मयपुरुष' नाम से प्रसिद्ध है।

'स वा एष विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मना संपरिष्वक्तः' इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार यह इरामय, किंवा हिरण्मय प्रज्ञानात्मा (मन) सौरविज्ञानात्मा (बुद्धि) के साथ नित्य संपरिष्वक्त रहता है। प्रज्ञान एक प्रकार का बौद्ध धरातल है, एवं इसी पर प्रतिबिम्बरूप से विज्ञानात्मा प्रतिष्ठित रहता है। प्रज्ञानसत्ता ही विज्ञानसत्ता का मूल कारण है। इसी से यह भी सिद्ध हो जाता है कि, प्रज्ञान (मन) की जैसी स्थिति, जैसी सदसद्वृत्ति रहेगी, तत्प्रतिष्ठ विज्ञान (बुद्धि) की भी वैसी ही स्थिति-वृत्ति रहेगी। दोषयुक्त मन बौद्धविचारों की भी मलिनता का कारण बन जाता है, यह सार्वजनीन है। अतएव विज्ञानशुद्धि से पहिले प्रज्ञान-विशोधन परम आवश्यक बन जाता है।

सौरतेज हिरण्मय माना गया है, जैसा कि—'हिरण्ययेन सविता रथेनादेवो याति भुवनानि पश्यन्' (यजु सं० ३४।३१) इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। यदि प्रज्ञानात्मा चन्द्रमा, तथा पार्थिव इरारस से अपना स्वरूप सम्पादन करता है, तो यह विज्ञानात्मा सौरहिरण्मय तेज का प्रत्यंश है। इसी आधार पर हम प्रज्ञानवत् इस विज्ञान को भी 'हिरण्मयपुरुष' कह सकते हैं। अन्तर दोनों की हिरण्मयता में यही है कि, प्रज्ञानात्मा इरामय होने से कहने भर के लिए हिरण्मय है, एव विज्ञानात्मा वास्तविक सौर-हिरण्मय तेज का अश होने से वस्तुगत्या हिरण्मय है। प्रज्ञान इरामय होने से हिरण्मय कहलाता है, तो विज्ञान हिरण्मय होने से ही हिरण्मय कहलाया है। यदि इरामय प्रज्ञान हिरण्मय विज्ञान के स्वरूप को पहिचान कर जीवनयात्रा का निर्वाह करता है—(मन बुद्धि का अनुगामी बन कर यदि असङ्ग भाव से कर्म्मों मे प्रवृत्त होता है), तो हिरण्मय विज्ञान के प्रसाद से पार्थिव-इरामय बन्धन टूट जाता है, एवं शरीरत्यागानन्तर हिरण्मय विज्ञान के सायुज्य से यह स्वय भी परलोक मे (आदित्यलोक मे) हिरण्मय बन जाता है। प्रज्ञानब्रह्म के इसी पार्थिव अन्नरसमय स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् ऐतरेय कहते हैं —

'अथातो रेतसः सृष्टिः—प्रजापते रेतो देवाः, देवानां रेतो वर्षं, वर्षस्य रेत ओषधयः, ओषधीनां रेतोऽन्नं, अन्नस्य रेतो रेतः, रेतसो रेतः प्रजाः, प्रजानां रेतो हृदयं, हृदयस्य रेतो मनः, मनसो रेतो वाक्, वाचो रेतः कर्म्म। तदिदं कर्म्म कृतमयं पुरुषो ब्रह्मलोकः। स 'इरामयः'। यद्धि-इरामयः, तस्माद्धिरण्मयः। हिरण्मयो ह वा अमुष्मिल्लोके सम्भवति, हिरण्मयः सर्वेभ्यो ददृशे, य एवं वेद'।

—ऐतरेय आरण्यक २।१।३।

ज्ञानजनित संस्कार 'भावना' है, कर्म्मजनितसंस्कार 'वासना' है। दार्शनिक सम्प्रदाय ने संस्कार शब्द से इन्हीं दो संस्कारों का ग्रहण किया है। इन मे वासना संस्कार स्नेहप्रधान बनता हुआ स्नेहगुणक (सोमगुणक) प्रज्ञानमन से प्रधान सम्बन्ध रखता है, एवं भावना-संस्कार तेजप्रधान बनता हुआ तेजोगुणक (सावित्राग्निगुणक) विज्ञानात्मा (बुद्धि) से प्रधान सम्बन्ध रखता है। वासना जहा मन प्रधाना है, वहा भावना बुद्धिप्रधाना है। प्रज्ञान

मानुषभाव का उत्तेजक है, तो विज्ञान देवभाव का प्रेरक है। अतएव 'भावमिच्छन्ति देवताः' यह कहा जाता है।

उक्त प्रज्ञान-विज्ञान विवेचन से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि, शरीरसंस्था में जिन 'ब्रह्म-देव' भागों के संस्कार की अबतक चर्चा हुई है, वे भूतात्मयुक्त प्रज्ञान-विज्ञान (मन-बुद्धि) हैं। पार्थिवभूतात्मयुक्त प्रज्ञान ही 'ब्रह्म' पदार्थ है, एवं सौरप्राणदेवप्रधान विज्ञान ही 'देव' पदार्थ है। इन्हीं दोनों का संस्कार अपेक्षित है। जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है, पार्थिव प्रज्ञान ब्रह्म पर ही—सौर-विज्ञान प्रतिष्ठित रहता है। अतएव विज्ञानात्मक देवभाग के संस्कार से पहिले प्रज्ञानात्मक ब्रह्मभाग का संस्कार करना आवश्यक हो जाता है। सूर्य्य त्रयीघन बनता हुआ यज्ञमूर्त्ति है, एवं यज्ञसंस्कार ही देवसंस्कार है। चूंकि इन दैव-संस्कारों का मूल, तथा इतिकर्त्तव्यता, दोनों श्रौत सूत्रों, तथा ब्राह्मणग्रन्थों में हैं, अतएव इन्हें-'श्रौतसंस्कार' कहना अन्वर्थ बनता है। स्मार्त्तसंस्कारवत् इन श्रौत-दैव-संस्कारों के १—पाकयज्ञ, २—हविर्यज्ञ, ३—सोमयज्ञ भेद से तीन सामान्य भेद हैं। प्रत्येक के ७-७-अवान्तर भेद हैं। सम्भूय २१ ही श्रौतसंस्कार हो जाते हैं, जैसा कि 'आर्यसर्वस्व' (पुराण) कर्त्ता व्यासदेव कहते हैं—

१— ... ... पाकयज्ञाश्च सप्त ते।
अष्टका-पार्वणश्राद्धं-श्रावण्य-ग्रायणीति च॥

२—चैत्री-आश्वयुजी-(स्थालीपाक) सप्त हविर्यज्ञांश्च तान् शृणु।
आधानश्चा-ग्निहोत्रंच-दर्शो वै-पौर्णमासकः॥

३—चातुर्मास्यं-पशुबन्धः-सौत्रामणिरथापरः।
सोमसंस्थाः सप्त शृणु-अग्निष्टोमः-क्रतूत्तमः॥

४—अत्यग्निष्टोम-उक्थश्च-षोडशी-वाजपेयकः।
अतिरात्रा-प्तोर्य्यामश्च-सहस्रेशाः सवा इमे॥

—अग्निपुराण ३२ अ० ग०।

२—देवसंस्कारपरिलेखः—(त इमे देवभावप्रयोजकाः श्रौतसंस्काराः २१)।

१—(१)—अष्टका २—(२)—पार्वणश्राद्धम् ३—(३)—श्रावणी ४—(४)—आग्रहायणी ५—(५)—चैत्री ६—(६)—आश्वयुजी ७—(७)—स्थालीपाकः	१— सप्त—'पाकयज्ञसंस्काराः'—स्वकर्तृकाः। 'शोधकाः' (देवभागगत-दोषमार्जनम्)
८—(१)—अग्न्याधानम् ९—(२)—अग्निहोत्रम् १०—(३)—दर्शः ११—(४)—पौर्णमासः १२—(५)—चातुर्मास्यम् १३—(६)—पशुबन्धः १४—(७)—सौत्रामणिः	२— सप्त—'हविर्यज्ञसंस्काराः'—स्वकर्तृकाः। 'विशेषकाः' (देवभागेऽतिशयाधानम्)
१५—(१)—अग्निष्टोमः १६—(२)—अत्यग्निष्टोमः १७—(३)—उक्थ्यस्तोमः १८—(४)—षोडशीस्तोमः १९—(५)—वाजपेयस्तोमः २०—(६)—अतिरात्रस्तोमः २१—(७)—अप्तोर्यामस्तोमः	३— सप्त—'सोमयज्ञसंस्काराः'—स्वकर्तृकाः। भावकाः (देवभागस्य हीनाङ्गपूर्त्तिः)।

विवशता मनुष्य को लक्ष्यच्युत कर देती है, पुरुपार्थसाधन से वञ्चित कर देती है, उत्पथ मार्ग का अनुगामी बना देती है, यह सिद्धान्त सर्वमान्य है। एवं यह एक दुःखमिश्रित आश्चर्य है कि, आज हमें भी इसी सिद्धान्त का अनुगमन करना पड़ रहा है। सहजजीवन से सम्बन्ध रखने वाले श्रद्धा-विश्वासमय सहजज्ञान को एकान्ततः आवृत कर देने वाला हमारा यह विज्ञानवाद, उपपत्तिवाद, कारणतावाद आत्म-ग्लानि का ही कारण बन रहा है। वर्णव्यवस्थाविज्ञान का उपक्रम करते हुए हमने बड़े आवेश के साथ ये उद्गार प्रकट किए थे कि, सहजजीवन से सम्बन्ध रखने वाली स्वाभाविक धर्म्मनिष्ठा को सुरक्षित रखने के लिए वैदिकसाहित्य का विज्ञानदृष्टि से प्रचार-प्रसार होना चाहिए (देखिए, वर्णव्य० पृ० सं० ३१७)। विवशता-सिद्धान्त की तरह सामान्यदृष्टि से विचार करने पर यद्यपि इन उद्गारों में भी तथ्य प्रतीत होता है। परन्तु जब हम सहज-ज्ञान की कसौटी पर इन उद्गारों की परीक्षा करने आगे बढ़ते हैं, तो विज्ञानवाद उपयोगिता की दृष्टि से सर्वथा निरर्थकसा प्रतीत होने लगता है।

हमारी विवशता—

आत्मवाद हो, ज्ञानवाद हो, धर्म्मवाद हो, अथवा तो विज्ञानवाद हो, वाद प्रत्येक दशा में स्वाभाविक श्रद्धा-विश्वास का विघातक ही सिद्ध हुआ है। 'रोगनिदान' और उस की 'चिकित्सा' दोनों घटनाएं प्रस्तुत वैज्ञानिक साहित्य के सम्बन्ध में दुर्घटनाएं ही हैं। हिन्दूजाति का धार्म्मिक संघठन क्यों शिथिल हो गया? इस का उत्तर हमारा कृत्रिमज्ञान यह देता है कि, "वैदिक-विज्ञान का प्रचार प्रसार विलुप्त हो गया, लोग रहस्यज्ञान भूल गए, विद्वानों की ओर से 'क्यों?' जिज्ञासा शान्त करने वाली उपपत्तियों के स्थान में केवल धर्म्मादेश जनता के सामने उपस्थित हुए। भला बिना उपपत्तिज्ञान के, क्यों? का ठीक ठीक समाधान प्राप्त किए बिना भारतीय समाज कैसे धर्म्मनिष्ठा सुरक्षित रख सकता था। उधर पश्चिम के वैज्ञानिक जगत् ने इस के सामने जो साहित्य प्रस्तुत किया, वह विज्ञानसम्मत था, फलांश में प्रत्यक्षसूचक था, तर्क-युक्ति-परीक्षानुगत था। फलतः भारतीय समाज अपना सर्वस्व छोड़ कर परःस्वत्वानुवर्त्ती बन गया।"

उक्त रोगनिदान की चिकित्सा हमने यह समझी कि, हम भी विज्ञानदृष्टि से ही अपने साहित्य का प्रचार-प्रसार करें। साहित्य की विज्ञानसम्मत, तथा बुद्धिगम्य व्याख्या करें। परन्तु आज विस्पष्ट शब्दों में हम यह कह देना अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझते हैं कि, यह निदान, और यह चिकित्सा, दोनों कृत्रिमज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले बुद्धिवाद के क्रीड़ाक्षेत्र बनते हुए दूर से ही प्रणम्य हैं। जिसे हम जनसाधारण कहते हैं, कम से कम उस के सम्बन्ध में तो

ये निदान, चिकित्सा वास्तव मे प्रणम्य ही हैं। धर्म्मवाद ही क्यों, नीतिवाद, समाजवाद, राष्ट्रवाद, आदि जितने भी क्षेत्र हैं यदि उन में व्यवहारत प्रवृत्ति नहीं है, श्रद्धा-विश्वासपूर्वक अनन्यभाव से अनुगति नहीं है तो एक उपपत्ति क्या, सहस्र उपपत्तियाँ भी हमे इन मार्गों का अनुगामी नहीं बना सकती। 'आचरण' की वस्तु मे जहा हमने उपपत्ति-विष का समावेश किया, समझ लीजिए वहीं 'आचरण' शिथिल बन गया। सर्वसाधारण का कल्याण इसी मे है कि, वह 'उपपत्ति' शब्द से भी परिचय न रखते हुए केवल शब्दादेश के आधार पर श्रद्धा-विश्वासपूर्वक धर्म्म के व्यावहारिक रूप का अनुगमन करता रहे। यदि आज उपपत्ति-प्रधान वैज्ञानिकभाव विलुप्त हो गया है, तो जिस युग मे वैज्ञानिक-भावो का प्रचार-प्रसार था, उस युग मे भी जनसाधारण के लिए यह विज्ञानवाद प्रणम्य ही था। लोग श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक धर्म्म का आचरण करते थे, आज की तरह उपपत्ति विभीषिका के कुचक्र से दूर थे। आज भी जिन्हे शिक्षितवर्ग मूर्ख कहता है, वे भूल कर भी सर्वनाशक 'क्यो' से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। गङ्गास्नान करने वाला एक भावुक पुण्यसलिला भागीरथी के क्रोड मे अपने शरीर को धन्य बनाता हुआ स्वप्न मे भी यह कल्पना नहीं रखता कि, 'इस जल मे और सामान्य जल में क्या भेद है, इस में स्नान करने से क्या लाभ'। 'गङ्गास्नान करना हमारे पूर्वजो नें उत्तम माना है' बस यही उपपत्ति इस श्रद्धालु के लिए पर्य्याप्त है।

हम उन शिक्षितों से, जो पदे पदे 'क्यों ?' का घण्टाघोष करते हुए धर्म्म के व्यावहारिक पथ से बहुत पीछे हट चुके हैं, जिन के जीवन का सर्वस्वभूत श्रद्धा-विश्वास उखड चुका है, क्या यह नहीं कह सकते कि, व्यावहारिक मार्ग मे 'क्यों' का समावेश कर देने से शिथिलता आ जाती है। इस स्वल्प-जीवन में, अर्थविभीषिकामय इस घातक युग मे, घातक युग के अनुग्रह से धर्म्माचरण के लिए मिलने वाले स्वल्प समय मे यदि हमनें धर्म्माचरण न किया, विशुद्ध 'क्यों' का ही पाठ पढते रहे, तो हमने कौनसा पुरुषार्थ सिद्ध कर डाला। अनन्त शास्त्रों का अनन्त विस्तार, प्रत्येक धर्म्माज्ञा से सम्बन्ध रखने वाला प्राकृतिक, इन्द्रियातीत गहन विज्ञान, गभीरतमार्थ को गर्भ मे रखने वाली ऋषियों की वह तात्त्विक वाणी, ऋषिवाणी के परिचयमात्र से भी वञ्चित रहने वाले हम, और फिर 'उपपत्ति' जानने का प्रयास, कैसी विडम्बना है।

उपपत्ति जानने की जिज्ञासा बुरी नहीं, परमात्मा ने सुविधा दी हो, तो जिज्ञासा शान्ति के लिए अपने व्यावहारिक श्रद्धा-विश्वास को सुरक्षित रखते हुए वैज्ञानिक तत्त्वों का अन्वेषण भी किया जा सकता है। परन्तु वह उपपत्ति-जिज्ञासा, वह उपपत्ति-ज्ञान, वह विज्ञान-

विभीपिका हमारे किस काम की, जो तथाकथित स्वल्पसमय को भी हम से छीन लेती है। धर्म्माचरणकाल इस विज्ञानात्मक महाकाल के गर्भ में समा रहा है। उपपत्ति कामुक हम लक्ष्य-च्युतों नें व्यावहारिकक्षेत्र से अपने आप को अहिःकञ्चुकिवत् निर्मुक्त कर डाला है। उस ज्ञान-विज्ञान का क्या उपयोग, जिसे हम व्यावहारिकरूप न दे सकें। इस से तो कहीं अधिक वे अशिक्षित श्रेष्ठ हैं, उन अशिक्षितों का वह सहज जीवन सर्वोत्तम है, जो—'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' इस श्रृपिवाणी को अक्षरशः चरितार्थ करते हुए धर्म्म का आचरण कर अपना मानव जीवन धन्य बना रहे हैं। और इन अशिक्षितों की तुलना में वे शिक्षित कहीं अधिक लक्ष्य च्युत हैं, उन का जीवन कहीं अधिक अशान्तिमय है, जो अपने बचे खुचे समय को निरर्थक शब्दजाल की भेंट चढ़ा कर अपना सर्वस्व खो रहे हैं। क्या हम अपने शिक्षित, सम्मान्य बन्धुओं से यह नम्र निवेदन करने की धृष्टता कर सकते हैं कि, जिस उपपत्ति-पथ को उन्होंनें जीवन का मुख्य लक्ष्य बना रक्खा है, अनुग्रह कर वे अपनी इस भ्रान्ति का परित्याग करेंगे, और अपने जीवन की उन परिगणित घड़ियों को व्यर्थ न खोकर आचरण द्वारा उन से वास्तव में लाभ उठावेंगे।

हमारी अपनी दुर्दशा का इतिवृत्त, सम्भव है सहयोगियों की भ्रान्ति दूर कर सके। गुरु-ऋण से मुक्ति पाने के लिए, "अज्ञानान्धकार निवृत्त के लिए तुम्हें हमारे वैदिक विचार जनता के सामने रखनें चाहिएं, यही हमारी गुरु-दक्षिणा है" इस आदेश की रक्षा के लिए जिस क्षण से हमने इस शब्दजाल को अपना उपास्य बनाया है, उस क्षण से आरम्भ कर अद्यावधि हम धर्म्म के आचरण-पथ से सर्वथा वञ्चित हो रहे हैं। भगवदुपासना, सन्ध्या, तर्पण, बलिवैश्वदेव, जैसे आवश्यक कर्म्मों के अनुगमन में भी पूर्ण शिथिलता का अनुभव करना पड़ रहा है। राष्ट्रीय, तथा सामाजिक कार्य्यों में सहयोग देने की कथा तो दूर है, हमारी इस विवशता से हम अपनी पारिवारिक स्थिति को भी ठीक ठीक नहीं संभाल सकते। अहोरात्र वही साहित्य, वही वैदिक विज्ञान, वही उपपत्ति विभीपिका। यदि थोड़ा बहुत समय मिलता भी है, तो देश के दुर्भाग्य से उसका बलिदान गृहस्थ प्रपञ्चों में हो जाता है। शरीर रुग्ण है, औपधियों का आतिथ्य प्रक्रान्त है, घर, समाज, सब कोई अप्रसन्न हैं, धर्म्माचरण विलुप्त है, और इस महाभयावह पथ को हम बतला रहे हैं—रोग की चिकित्सा।

विवशता का एक कारण जहां गुरु-ऋण है, वहां दूसरा कारण रहस्य-ग्रन्थों की विलुप्ति, एवं सन्तमतानुगामिनीं व्याख्याओं की विभीपिका है। एकमात्र इसी लक्ष्य की पूर्त्ति के

लिए इस प्रभूत शब्दजाल की सृष्टि हुई है। अपने श्रद्धालु वर्ग से इस सम्बन्ध में यह भी स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक होगा कि, यह शब्दसृष्टि उन पुनीत आत्माओं से कोई सम्बन्ध नहीं रखती, जो श्रद्धा-विश्वासपूर्वक अपने धर्म्म के आचरण मे सलग्न हैं। यही नहीं, इन से तो हम यह निवेदन और करेंगे कि, वे अपना वह व्यावहारिक अमूल्य समय अतिविस्तृत इन उपपत्ति-ग्रन्थों के अवलोकन मे नष्ट न करें। क्योंकि हमारा यह मत्त-प्रलाप इन श्रद्धालुओ को अणुमात्र भी लक्ष्य नहीं बना रहा। विवशतावश होने वाला बुद्धिवाद-सम्मत यह प्रलाप किन के लिए ?

उन के लिए, जिन महानुभावों नें पश्चिमी-शिक्षा के अनुग्रह से प्राप्त विवेक के आधार पर भारतीयधर्म्म, आदर्श, सभ्यता, संस्कृति, आदि को विज्ञान-शून्य, निरी ग्राम्य कल्पना मान रक्खी है। जिन का आरम्भ से ही यह दृष्टिकोण बन गया है, अथवा बलपूर्वक बना दिया गया है कि, हमारा साहित्य, हमारा धर्म्म, हमारे श्रौत स्मार्त्त-संस्कार प्राचीन पुरुषों के मस्तिष्क के निराधारकल्पनावृक्ष के कल्पित प्रसून हैं, खपुष्प हैं, उनके लिए। और उन सम्मान्य सहयोगियो के लिए भी, जिन्होने धारावाहिकरूप से कतिपय स्थानविशेषों मे पनपने वाले अपने वैज्ञानिक साहित्य की उपेक्षा कर काल्पनिको के काल्पनिक प्रसूनों को सुरक्षित बनाए रखने में पूरा पूरा सहयोग दे रक्खा है। फिर विषय भी तो उस 'सस्कार' का है, जिस के सम्बन्ध में विवशतावश सभी ऐसी भूलें कर दिया करते हैं। विवशतानुबन्धिनी इस आवश्यक भूल का सादर अभिनन्दन करते हुए संस्कारोपपत्तिप्रकरण की ओर उपपत्तिप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

१ अथातोऽष्टौ गर्भसंस्काराः-शोधकाः—

ब्राह्मसंस्कारविज्ञान—

कौन सस्कार किस समय होता है, किस संस्कार की क्या पद्धति है ? इत्यादि प्रश्नों का समाधान तो गृह्य-सूत्रादि ग्रन्थों मे ही देखना चाहिए। संस्कार-पद्धतियाँ अनेक सस्करणों में हमे उपलब्ध हो रही हैं। अत पद्धति के सम्बन्ध मे कुछ भी कहना पिष्टपेषण करना है। इस के अतिरिक्त यदि इन की पद्धतियाँ बतलाई जानें लगें, तो इन्हीं का एक स्वतन्त्र विशद ग्रन्थ बन सकता है। यही नहीं, इन सांस्कारिक कर्म्मों की उपपत्तियाँ भी इस परमत्वानुवर्त्ती भूमिकाग्रन्थ में सर्वात्मना नहीं बतलाई जा सकतीं। ऐसी दशा मे सिवाय इसके और कोई गति नहीं है कि, 'स्थालीपुलाक-

न्याय' से कुछ एक संस्कारों की संक्षिप्त उपपत्तियां (मौलिक रहस्य) पाठकों के सम्मुख रख दीं जायँ, एवं इन्हीं के आधार पर आस्तिक प्रजा को यह विश्वास दिलाया जाय कि, सनातनधर्म्म के प्रत्येक आदेश का अवश्य ही कुछ न कुछ तात्त्विक कारण[1] है। विना मौलिक कारण के कोई धर्म्मादेश विहित नहीं हुआ है। उन मौलिक रहस्यों को न जानने के कारण ही वर्त्तमान युग में इन आदेशों के प्रति अविश्वास होता जा रहा है। हमारा विश्वास है कि, यदि दोषदृष्टि से भी उपपत्ति-पुरःसर प्रतिपादित इन आदेशों पर दृष्टि डाली जायगी, तो निश्चयेन विलुप्तप्राय धर्म्मश्रद्धा अङ्कुरित होगी। एकमात्र इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रख कर यह उपपत्ति प्रकरण आरम्भ किया जाता है।

१—गर्भाधानसंस्कारोपपत्तिः-

माता-पिता के रजो-वीर्य्य (शोणित-शुक्र) में रहने वाले योषा-वृषा के मिथुनभाव (दाम्पत्यभाव) से अपत्य (सन्तान) गर्भ में आता है। शुक्र-शोणित में रहने वाले प्राणात्मक वृषा-योषा तत्त्व स्वयं ब्रह्मरूप हैं, वीर्य्यात्मक हैं। कितने एक प्राकृतिक, तथा आगन्तुक दोषों से यह ब्रह्मभाव आवृत रहता है। इस दोष-समष्टि के अपाकरण के लिए ही गर्भाधानादि-चौल-कर्मान्त आठ गर्भसंस्कार किए जाते हैं। इन आठों में सब से पहिला दोषमार्ज्जक संस्कार यही गर्भाधानसंस्कार है। अपत्यकामुक पति ऋतुस्नाता पत्नी के साथ जिस समय सङ्गम करता है, उसी समय यह संस्कार होता है। गर्भाधान काल में विहित होने से ही यह संस्कार 'गर्भाधान' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। औपपातिक जीवात्मा के तीन जन्मों में से यही प्रथम जन्म है। बात यथार्थ में यह है कि, जो प्राणी माता के गर्भाशय में प्रविष्ट होता है, वह पहिले से ही पिता के रेत (शुक्र) में गर्भीभूत रहता है। सर्वाङ्गशरीर में, शरीराकार से व्याप्त यही शुक्र आग्नेय-घर्षण से द्रुत होकर योषिदग्नि में सिक्त होता हुआ जाया में गर्भीभूत बनता है, एवं यही इस का प्रथम जन्म है। वह गर्भ स्त्री के आत्मा के साथ उसी तरह युक्त हो जाता है, जैसे कि स्वयं स्त्री के अङ्ग स्त्री शरीर के साथ युक्त रहते हैं। ६ मास तक

१ नाकारणं हि शास्त्रेऽस्ति धर्म्मः सूक्ष्मोऽपि जाजले।
कारणाद्धर्म्ममन्विच्छन् स लोकानाप्नुते शुभान्॥

गर्भ में स्त्री ही आत्मधनरूप से इस गर्भ का रक्षण-पालन-पोषण करती है। ६ मास के अनन्तर 'एवयामरुत्' के प्रत्याघात से गर्भ भूमिष्ठ बनता है, एवं यही इस का दूसरा जन्म है। जन्म लेने के अनन्तर यावदायुर्भोगपर्य्यन्त शुभाशुभ कर्म्मों को भोगता हुआ प्राणी यथासमय पुनः धराशायी हो जाता है। उस समय यह क्रव्यादाग्नि (श्मशानाग्नि) के क्रोड़ में जाता हुआ परलोकार्थ अङ्गुष्ठमात्र नवीन शरीर धारण करता है, एवं यही इस का तीसरा जन्म है। प्राणी के ऐहिक—आमुष्मिक इन्हीं तीनों जन्मों का इतिवृत्त बतलाते हुए महर्षि ऐतरेय कहते हैं–

'पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति, यदेतद्रेतः। तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवाऽऽत्मानं बिभर्त्ति। तद्यदा स्त्रियां सिञ्चति, अथैतज्जनयति। तदस्य प्रथमं जन्म। तत् स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति, यथा स्वमङ्गम्। तस्मादेनां न हिनस्ति। साऽस्यैतमात्मानमत्रगतं भावयति। सा भावयित्री भावयितव्या। तं स्त्री गर्भं बिभर्त्ति। सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति। स यत् कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधि भावयति, आत्मानमेव तद्भावयति, एषां लोकानां सन्तत्या। एवं सन्तता हीमे लोकाः। तदस्य द्वितीयं जन्म। सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्म्मभ्यः प्रतिधीयते। अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति। स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते। तदस्य तृतीयं जन्म। तदुक्तमृषीणा–

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयम्॥ इति॥'

—ऐतरेय आरण्यक २।५।१

आरम्भ में यद्यपि पिता की शुक्राहुति ही गर्भाधान का मुख्य कारण बनती है, परन्तु आहुति के अव्यवहितोत्तरकाल से ही गर्भ की रक्षा-पुष्टि आदि का भार 'कश्यप प्रजापति' ले लेते हैं। इसी आधार पर—'कश्यपात् सकलं जगत्'-'तस्मादाहुः-सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः' (शत० ७।४।२।४) यह कहा जाता है। माता-पिता के मिथुनकाल में खगोल की जैसी परिस्थिति रहती है, कश्यपसंस्था उसी स्थिति के अनुरूप बनी रहती है। इस के अतिरिक्त देश-पात्र (स्त्री)-अन्नादि वातावरणों के तारतम्य से भी कश्यपसंस्था में परिवर्त्तन होता

रहता है। कभी कश्यपसंस्था में आसुरभाव विकसित रहता है, कभी देवभाग विकसित रहता है। जिस समय संस्था का जो स्वरूप रहता है, उस समय वीर्य्याहुति से स्वरूप सम्पादन करने वाला गर्भ तदनुरूप ही गुण-दोषों से युक्त हो जाता है। दधि-मधु-घृतात्मक, त्रैलोक्य व्यापक, अर्द्धखगोल में व्याप्त, बुध्न (पेंदे) से सम, ऊपरिभाग से वर्त्तुल, सौर प्राण-मण्डल ही लोकपश्यक (द्रष्टा) बनता हुआ कश्यप है। 'कश्यपः पश्यको भवति' के अनुसार पश्यक ही वर्णविपर्य्यय से 'कश्यप' कहलाने लगा है। अपिच जैसी आकृति कश्यप (कछुए) की है, ठीक वही आकृति पश्यकात्मक इस कश्यपप्रजापति की है, इस लिए भी इसे 'कश्यप' कहना अन्वर्थ बनता है, जैसा कि निम्न लिखित श्रुति से स्पष्ट है—

'स यत् कूर्म्मो नाम–एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत। यदसजृत–अकरोत्तत्। यदकरोत्–तस्मात् कूर्म्मः। कश्यपो वै कूर्म्मः। तस्मादाहुः–सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः–इति। स यः स कूर्म्मः, असौ स आदित्यः'

—शत० ब्रा० ७।४।८।५-६।

इस प्राकृतिक—'कश्यपसंस्था' के आधार पर वैज्ञानिक लोग इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि, जिस समय द्विजातिवर्ग अपनी सवर्णा स्त्री मे ब्रह्म-क्षत्रादिवीर्य्यभेदभिन्न शुक्र की आहुति देने लगे, उस से पहिले ही प्रक्रियाविशेष को साथ रखने वाली अन्वर्थ मन्त्रशक्ति के प्रभाव से शुक्रगत ब्रह्म-क्षत्रादि वीर्य्यों को कश्यपसंस्था द्वारा आने वाले प्राकृतिक दोषों के आक्रमण से बचाने के लिए वे एक ऐसा कर्म्म कर ले, जिस से गर्भाधानकाल में ही (आगे जाकर गर्भरूप में परिणत होने वाला) वह शुक्र अपने वीर्य्य से सुरक्षित बना रहे। इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए, कश्यपसंस्था जनित दोषों के निरोध के लिए सर्वारम्भ में गर्भाधान संस्कार उन वैज्ञानिक महर्षियों की ओर से विहित हुआ।

वीर्य्यात्मक गर्भ को पूरे नौ मास गर्भाशय में रहना है। उक्त प्राकृतिक दोष के अतिरिक्त देश सम्बन्धी दोषों का आक्रमण भी अनिवार्य्य है। माता जैसा अन्न खायगी, जैसी सङ्गति रक्खेगी, जैसे विचार रक्खेगी, उनका सदसत्-प्रभाव भी इस पर पड़े विना नहीं रह सकता। यदि दोषों का आक्रमण प्रबल हुआ, और इधर सञ्चित कर्म्म-तारतम्य से यदि वीर्य्यभाव निर्बल रहा, तो प्रसव से पहिले ही उस की स्वशक्ति अभिभूत हो जायगी। ऐसा न हो, गर्भाशय पर आक्रमण करने वाली विभीषिकाओं से गर्भगत वीर्य्य अपने आप को

सुरक्षित रख सके, उस मे इतनी शक्ति रहे कि, वह इन दोषों के आक्रमण होते रहने पर भी अपना स्वरूप न बिगड़ने दे, इन प्रयोजनों के लिए भी, आगन्तुक दोषों के निरोध के लिए भी शक्तिप्रवेशलक्षण, किंवा बलाधानलक्षण यह गर्भाधान संस्कार आरम्भ में ही आवश्यक समझा गया। युद्धक्षेत्र मे जाने से पहिले योद्धा जैसे कवच-निषङ्ग-खड्गादि से अपने आप को रक्षासाधनों से सुरक्षित कर लेता है, ठीक इसी तरह शक्तिलाभलक्षण इस गर्भाधानसंस्कार से ससार क्षेत्र मे प्रवेश करने से पहिले ही मातापिता के शुक्र-शोणित के मिथुनभाव मे प्रतिष्ठित वह औपपातिक द्विजाति अपने आपको आरम्भ मे ही सुरक्षित बना लेता है।

उक्त रहस्य के अतिरिक्त इस संस्कार की तीसरी अनन्यावश्यकता है **'प्रजातन्तुवितान'**। **'प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सीः'** (तै० उप० १।११।१) इस आदेश के अनुसार गृहस्थाश्रम में प्रतिष्ठित एक गृहमेधी (गृहस्थी) के लिए पितृऋणमोचन के लिए, एवं प्रजावर्ग की सन्तति (फैलाव) के लिए अवश्य ही अपत्योत्पादन करना अपेक्षित है। पुराण-स्मृति आदि परत प्रमाणभूत शास्त्रों नें तो पुत्र की आवश्यकता बतलाई ही है। इन के अतिरिक्त स्वयं श्रुति ने भी बड़े आटोप के साथ पुत्रोत्पादन की आवश्यकता घोषित करते हुए इस ओर मानवी प्रजा का ध्यान आकर्षित किया है, जैसा कि निम्न लिखित ऐतरेय-वचनों से स्पष्ट है—

'हरिश्चन्द्रो ह वैधस ऐक्ष्वाको राजाऽपुत्र आस। तस्य ह शतं जाया बभूवुः। तासु पुत्रं न लेभे। तस्य ह पर्वत-नारदौ गृह ऊषतुः। स ह नारदं पप्रच्छ—

यं न्विमं पुत्रमिच्छन्ति ये विजानन्ति ये च न।
किंस्वित् पुत्रेण विन्दते तन्म आचक्ष्व नारद! इति।

स एकया पृष्टो दशभिः प्रत्युवाच—

१—ऋणमस्मिन्त्संनयत्यमृतत्त्वं च गच्छति।
पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतोमुखम्॥

२—यावन्तः पृथिव्यां भोगा यावन्तो जातवेदसि।
यावन्तो अप्सु प्राणिनां भूयान् पुत्रे पितुस्ततः॥

३—शश्वत् पुत्रेण पितरोऽत्यायन् बहुलं तमः।
आत्मा हि जज्ञ आत्मनः स इरावत्यतितारिणी॥

४—किं नु मलं किमजिनं किमु श्मश्रूणि किं तपः।
पुत्रं ब्रह्माण इच्छध्वं स वै लोकोऽवदावदः॥

५—अन्नं ह प्राणः शरणं ह वासो—
रूपं हिरण्यं पशवो विवाहाः।
सखा ह जाया कृपणं ह दुहिता—
ज्योतिर्ह पुत्रः परमे व्योमन्॥

६—पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम्।
तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते॥

७—तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः।
आभूतिरेषा भूतिर्बीजमेतन्निधीयते॥

८—देवाश्चैतामृषयश्च तेजः समभरन्महत्।
देवा 'मनुष्यानब्रुवन्नेषा वो जननी पुनः॥

९—नापुत्रस्य लोकोऽस्ति-इति तत् सर्वे पशवो विदुः।
तस्मात्तुपुत्रो मातरं स्वसारं चाधिरोहति॥

१०—एष पन्था उरुगायः सुशेवो यं पुत्रिण आक्रमन्ते विशोकाः।
तं पश्यन्ति पशवो वयांसि च तस्मात्ते मात्राऽपि मिथुनी भवन्ति॥

इति हास्मा आख्याय अथैनमुवाच, वरुणं राजानमुपधाव—
पुत्रो मे जायतां, तेन त्वा यजा—इति'।

—ऐतरेय ब्रा० ३३।२।

"इक्ष्वाकुवंशोद्भव, वेधा नामक राजा के पुत्र सुप्रसिद्ध राजर्षि हरिश्चन्द्र अपुत्र थे। इन के अन्तःपुर में सौ स्त्रियाँ थीं। परन्तु किसी से भी पुत्र लाभ न हुआ। पर्वत, और नारद नाम के ऋषि इन के यहा रहा करते थे। एक बार राजा ने नारद से प्रश्न किया कि—"देव मनुष्य गन्धर्व-ऋषि आदि विवेकी भी पुत्र की इच्छा किया करते हैं, एवं विवेकज्ञानरहित पशु पक्षी भी सन्तान के लिए लालायित रहते हैं। हे नारद! ये प्राणी पुत्र से क्या फल प्राप्त करना चाहते हैं? क्यों इन्हें पुत्र लालसा होती है? कृपाकर यह बतलाइए।"

हरिश्चन्द्र ने एक गाथामन्त्र से प्रश्न किया, नारद ने दस गाथामन्त्रों से समाधान किया। नारद कहने लगे कि—"यदि पिता पुत्र का जीवित दशा में मुख देख लेता है, तो वह अपना पैत्रिक ऋण भार इस पर डालने मे समर्थ हो जाता है, एव ऋणापकरण के अतिरिक्त दिव्य लोकों का भी यह अधिकारी बन जाता है। सस्य निवासादि पार्थिव भोग, दहन पचनादि आग्नेय भोग, स्नान-पानादि आपोमय भोग, इन सब भोगों की अपेक्षा पिता के लिए पुत्र में अधिक भोग प्रतिष्ठित हैं। अपने पुत्रादि के द्वारा पितादि को इस लोक में, तथा परलोक में पूर्णशान्ति मिलती है। क्योंकि पुत्र इन का अपना आत्मांश है। अतएव पुत्र-प्रदत्त गोदानादि कर्म्मों से प्रेत पितर शनिकक्षानुगता, अतएव तमोबहुला वैतरणी आदि का सुख पूर्वक तरण करने मे समर्थ हो जाते हैं। मलोपलक्षित गृहस्थाश्रम, अजिन (कृष्णमृगचर्म्म) शब्दोपलक्षित ब्रह्मचर्य्याश्रम, श्मश्रू शब्दोपलक्षित वानप्रस्थाश्रम, एव तप शब्दोपलक्षित संन्यासाश्रम, ये चारों ही आश्रम तबतक सर्वथा निरर्थक हैं, जब तक कि, पुत्रोत्पन्न न हो जाय। हे द्विजातियो! आप पुत्र की ही इच्छा करो। लोक परलोक के अपयश से बचाने की शक्ति एकमात्र पुत्र मे ही है। अन्नादि से सुख मिलता है, क्योंकि यही प्राणरूप मे परिणत होकर जीवन का साधक बनता है। इसी प्रकार सुन्दर सुन्दर वस्त्र घर के सामान सुख पहुचाते हैं। हिरण्याभूषण रूपविकास के कारण बनते हैं। पशु भी कम सुख नहीं पहुचाते। पत्नी भी यावज्जीवन मित्र बन कर सुख का कारण बनी रहती है। हा कन्या[1]

---

[1] कन्येति जाता महतीति चिन्ता कस्मै प्रदेयेति महान् वितर्क।
लब्ध्वा सुख प्राप्स्यति वा न वेत्ति कन्यापितृत्व खलु नाम कष्टम्॥ १॥
सम्भव स्वजनदुःखकारिका सम्प्रदानसमयेऽर्थहारिका।
यौवनेऽपि बहुदोषकारिका दारिका हृदयदारिका पितु॥ २॥

अवश्य ही दुःख का कारण बनती है। परन्तु पुत्र एक ऐसी सम्पत्ति है, जो इस लोक में तो सुख का कारण बनता ही है, साथ ही में परलोक-सद्गति भी इसी के द्वारा मिलती है। वास्तव में पुत्र सम्पत्ति इतर सब लोक-सम्पत्तियों की अपेक्षा उत्कृष्ट है। संसार में अपना मनुष्य ही सुख-दुःख में काम आया करता है। और पुत्र के अतिरिक्त कोई अपना नहीं है। क्योंकि पुत्र स्वयं पिता का ही रूपान्तर है—'आत्मा वै जायते पुत्रः'। पति के दो रूप हैं, वर्त्तमान पुरुषाकार एकरूप है, यही रूप 'पति' है। एवं रेतोरूप से गर्भरूप में परिणत हो जाना दूसरा रूप है, यही इस पति का दूसरा 'पुत्र' रूप है। इसी तरह पत्नी के भी दो रूप हैं। पति-शरीर के प्रति पत्नी 'पत्नी' है, किन्तु पति के रेतोरूप गर्भरूप के प्रति वही पत्नी 'माता' है। इस मातृरूप में प्रविष्ट पतिदेव (पतिका शुक्र) गर्भरूप में परिणत होकर दसवें महीने में नवीन रूप धारण करके प्रकट होते हैं। इस से बढ़ कर पुत्र के साथ स्वात्मसम्बन्ध और क्या अधिक होगा। पत्नी को 'जाया' कहा जाता है। इस जाया-शब्द की प्रसिद्धि तभी चरितार्थ हो सकती है, जब कि पुत्र उत्पन्न हो जाय। क्यों कि पति ही शुक्र-रूप से इसके गर्भ में आकर जन्म लेता है, एवं इसी लिए यह जाया कहलाती है। इस में आकर पतिदेव पुत्ररूप में परिणत हो जाते है, अतएव जाया 'भूति' है। इस भूति-आभूति की प्रतिष्ठा भी यही पुत्र है। प्राणात्मक देवताओं नें, तथा प्राणात्मक-ऋषियों नें अपना तेज योपित् में प्रतिष्ठित करते हुए मनुष्यों को यह कहा कि, हे मनुष्यो! जिसे तुम अपनी पत्नी समझते हो, विश्वास करो तुम्हारे पुत्ररूप से यही पत्नी किसी समय तुम्हारी जननी मानी जायगी। बिना पुत्र के लोकसुख नहीं है, (यह मनुष्य तो क्या) पशु तक समझते हैं। यही कारण है कि, पशुपुत्र (गो महिषादि) पुत्र लाभार्थ माता-स्वसा आदि के साथ भी दाम्पत्य भाव कर बैठते हैं। पुत्रसन्तान वाले पितर शोक रहित बन कर जिन उत्तम मार्गों में गमन करते है—(प्रेतावस्था में जिन दिव्यलोकों की ओर जाते हैं) उस मार्ग की बड़ी प्रशंसा होती है। पुत्र से क्या सुख मिलता है? यह पशु भी जानते हैं। इस प्रकार नारद ने १० प्रयोजन बतलाते हुए हरिश्चन्द्र को आदेश दिया कि, तुम पुत्रोत्पत्ति के लिए वरुणदेवता की उपासना (यज्ञ) करो"। इस श्रौतनिदर्शद से प्रकृत में हमें केवल यही बतलाना था कि, पुत्रोत्पत्ति एक आवश्यकतम कर्म्म माना गया है।

यह सम्भव है कि, वीर्य्याहुति कभी निरर्थक भी चली जाय। वीर्य्य-व्यर्थता के कई एक कारण हैं, जैसा कि संक्षेप से आगे बतलाया जानेवाला है। उन दोषों की चिकित्सा

"इक्ष्वाकुवंशोद्भव, वेधा नामक राजा के पुत्र सुप्रसिद्ध राजर्षि हरिश्चन्द्र अपुत्र थे। इन के अन्तःपुर में सौ स्त्रियां थीं। परन्तु किसी से भी पुत्र-लाभ न हुआ। पर्वत, और नारद नाम के ऋषि इन के यहां रहा करते थे। एक बार राजा ने नारद से प्रश्न किया कि—"देव-मनुष्य-गन्धर्व-ऋषि आदि विवेकी भी पुत्र की इच्छा किया करते हैं, एवं विवेकज्ञानरहित पशु-पक्षी भी सन्तान के लिए लालायित रहते हैं। हे नारद! ये प्राणी पुत्र से क्या फल प्राप्त करना चाहते हैं? क्यों इन्हें पुत्र लालसा होती है? कृपाकर यह बतलाइए!"

हरिश्चन्द्र ने एक गाथामन्त्र से प्रश्न किया, नारद ने दस गाथामन्त्रों से समाधान किया। नारद कहने लगे कि—'यदि पिता पुत्र का जीवित दशा में मुख देख लेता है, तो वह अपना पैत्रिक ऋण भार इस पर डालने में समर्थ हो जाता है, एवं ऋणापकरण के अतिरिक्त दिव्य-लोकों का भी यह अधिकारी बन जाता है। सस्य-निवासादि पार्थिव भोग, दहन-पचनादि आग्नेय भोग, स्नान-पानादि आपोमय भोग, इन सब भोगों की अपेक्षा पिता के लिए पुत्र में अधिक भोग प्रतिष्ठित हैं। अपने पुत्रादि के द्वारा पितादि को इस लोक में, तथा परलोक में पूर्णशान्ति मिलती है। क्योंकि पुत्र इन का अपना आत्मांश है। अतएव पुत्र-प्रदत्त गोदानादि कर्म्मों से प्रेत पितर शनिकक्षानुगता, अतएव तमोबहुला वैतरणी आदि का सुख-पूर्वक तरण करने में समर्थ हो जाते हैं। मलोपलक्षित गृहस्थाश्रम, अजिन (कृष्णमृगचर्म्म) शब्दोपलक्षित ब्रह्मचर्य्याश्रम, श्मश्रू-शब्दोपलक्षित वानप्रस्थाश्रम, एवं तपःशब्दोपलक्षित संन्यासाश्रम, ये चारों ही आश्रम तबतक सर्वथा निरर्थक हैं, जब तक कि, पुत्रोत्पन्न न हो जाय। हे द्विजातियो! आप पुत्र की ही इच्छा करो। लोक परलोक के अपयश से बचाने की शक्ति एकमात्र पुत्र में ही है। अन्नादि से सुख मिलता है, क्योंकि यही प्राणरूप में परि-णत होकर जीवन का साधक बनता है। इसी प्रकार सुन्दर सुन्दर वस्त्र घर के सामान सुख पहुंचाते हैं। हिरण्याभूषण रूपविकास के कारण बनते हैं। पशु भी कम सुख नहीं पहुंचाते। पत्नी भी यावज्जीवन मित्र बन कर सुख का कारण बनी रहती है। हा कन्या[1]

---

१ कन्येति जाता महतीति चिन्ता कस्मै प्रदेयेति महान् वितर्कः।
लब्ध्वा सुखं प्राप्स्यति वा न वेति कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम्॥ १॥
सम्भवे स्वजनदुःखकारिका, सम्प्रदानसमयेऽर्थहारिका।
यौवनेऽपि बहुदोषकारिका दारिका हृदयदारिका पितुः॥ २॥

अवश्य ही दुःख का कारण वनती है। परन्तु पुत्र एक ऐसी सम्पत्ति है, जो इस लोक में तो सुख का कारण वनता ही है, साथ ही में परलोक-सद्गति भी इसी के द्वारा मिलती है। वास्तव में पुत्र सम्पत्ति इतर सब लोक-सम्पत्तियों की अपेक्षा उत्कृष्ट है। संसार में अपना मनुष्य ही सुख-दुःख में काम आया करता है। और पुत्र के अतिरिक्त कोई अपना नहीं है। क्योंकि पुत्र स्वयं पिता का ही रूपान्तर है—'आत्मा वै जायते पुत्रः'। पति के दो रूप हैं, वर्त्तमान पुरुषाकार एकरूप है, यही रूप 'पति' है। एवं रेतोरूप से गर्भरूप में परिणत हो जाना दूसरा रूप है, यही इस पति का दूसरा 'पुत्र' रूप है। इसी तरह पत्नी के भी दो रूप हैं। पति-शरीर के प्रति पत्नी 'पत्नी' है, किन्तु पति के रेतोरूप गर्भरूप के प्रति वही पत्नी 'माता' है। इस मातृरूप में प्रविष्ट पतिदेव (पतिका शुक्र) गर्भरूप में परिणत होकर दसवें महीने में नवीन रूप धारण करके प्रकट होते हैं। इस से वढ़ कर पुत्र के साथ स्वात्मसम्बन्ध और क्या अधिक होगा। पत्नी को 'जाया' कहा जाता है। इस जाया-शब्द की प्रसिद्धि तभी चरितार्थ हो सकती है, जब कि पुत्र उत्पन्न हो जाय। क्यों कि पति ही शुक्र-रूप से इसके गर्भ में आकर जन्म लेता है, एवं इसी लिए यह जाया कहलाती है। इस में आकर पतिदेव पुत्ररूप में परिणत हो जाते हैं, अतएव जाया 'भूति' है। इस भूति-आभूति की प्रतिष्ठा भी यही पुत्र है। प्राणात्मक देवताओं नें, तथा प्राणात्मक-ऋषियों नें अपना तेज योषित् में प्रतिष्ठित करते हुए मनुष्यों को यह कहा कि, हे मनुष्यो! जिसे तुम अपनी पत्नी समझते हो, विश्वास करो तुम्हारे पुत्ररूप से यही पत्नी किसी समय तुम्हारी जननी मानी जायगी। विना पुत्र के लोकसुख नहीं है, (यह मनुष्य तो क्या) पशु तक समझते हैं। यही कारण है कि, पशुपुत्र (गो महिषादि) पुत्र लाभार्थ माता-स्वसा आदि के साथ भी दाम्पत्य भाव कर वैठते हैं। पुत्रसन्तान वाले पितर शोक रहित वन कर जिन उत्तम मार्गों में गमन करते हैं—(प्रेतावस्था में जिन दिव्यलोकों की ओर जाते हैं) उस मार्ग की वड़ी प्रशंसा होती है। पुत्र से क्या सुख मिलता है ? यह पशु भी जानते हैं। इस प्रकार नारद ने १० प्रयोजन वतलाते हुए हरिश्चन्द्र को आदेश दिया कि, तुम पुत्रोत्पत्ति के लिए वरुणदेवता की उपासना (यज्ञ) करो"। इस श्रौतनिदर्शन से प्रकृत में हमें केवल यही वतलाना था कि, पुत्रोत्पत्ति एक आवश्यकतम कर्म्म माना गया है।

यह सम्भव है कि, वीर्य्याहुति कभी निरर्थक भी चली जाय। वीर्य्य-व्यर्थता के कई एक कारण हैं, जैसा कि संक्षेप से आगे वतलाया जानेवाला है। उन दोषों की चिकित्सा

भी कई हैं, एवं उन्हीं चिकित्साओं में से 'गर्भाधान संस्कार' भी एक प्रकार का चिकित्साकर्म ही माना जायगा। शुक्र पिता की वस्तु है, शोणित माता की वस्तु है। शोणित आग्नेय-पदार्थ है, शुक्र सौम्य पदार्थ है। गर्भाशयगत शोणिताग्नि में शुक्रात्मक सोम की आहुति होने से शुक्र-शोणित में रहनेवाले सौम्य-आग्नेयप्राणमूर्त्ति वृषा-योषा प्राणों का दाम्पत्य होता है। शुक्र में रहनेवाला 'पुंभ्रूण' वृषाप्राणात्मक है, एवं शोणित में रहनेवाला 'स्त्री भ्रूण' योषा-प्राणात्मक है। पुंभ्रूण 'आग्नेय' है, एवं इसका बाह्य आवरणरूप शुक्र सौम्य है। स्त्रीभ्रूण 'सौम्य' है, एवं इसका बाह्यआवरणरूप शोणित आग्नेय है। इन्हीं दोनों के दाम्पत्य से गर्भस्थिति होती है।

जिस समय शोणित में शुक्र की आहुति होती है, दोनों भ्रूणों में परस्पर अन्न-अन्नादभाव जाग्रत हो जाता है। दोनों एक दूसरे को आत्मसात् करने की चेष्टा करने लगते हैं। इस प्रतिस्पर्द्धा में दोनों में जो भ्रूण प्रबल होता है, वह निर्बल भ्रूण को खा जाता है। यदि पुंभ्रूण स्त्रीभ्रूण को खा जाता है, तो पुरुषसन्तान (लड़के) का आधान होता है। यदि स्त्रीभ्रूण पुंभ्रूण को उदरसात् कर लेता है, तो स्त्रीसन्तान (लड़की) का आधान होता है। एवं दोनों की साम्यावस्था में नपुंसक अपत्य उत्पन्न होता है। सौम्य स्त्रीभ्रूण का प्राबल्य शोणित लक्षण आग्नेय आर्त्तव की प्रभूतमात्रा पर निर्भर है, एवं आग्नेय पुंभ्रूण का प्राबल्य शुक्रलक्षण सौम्यरेत के आधिक्य पर निर्भर है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर भिषग्वरों ने कहा है—

१—रक्तेन कन्यामधिकेन पुत्रं शुक्रेण, तेन द्विविधी कृतेन।
बीजेन कन्यां च सुतं च सूते यथास्वबीजान्यतराधिकेन॥

—चरक शा० २।१२।

२—आधिक्ये रेतसः पुंसः कन्यास्यादार्त्तवाधिके।
नपुंसकं तयोः साम्ये यथेच्छा पारमेश्वरी॥

—भावप्रकाशः।

यदि दोनों भ्रूणों में से एक भी भ्रूण मूर्च्छित है, तो मिथुनक्रिया व्यर्थ हो जाती है, गर्भाधान नहीं होता, एवं यही अपत्यप्रतिबन्धक पहिला दोष है। दूसरा दोष 'ग्रहदोष' है। सत्स्वस्तिक सम्बन्धी लग्न की एक नियत व्यवस्था रहती है। इसी लग्न-व्यवस्था

के आधार पर जन्मकुण्डली के द्वादशभाव यथाक्रम प्रतिष्ठित रहते हैं। इन १२ भावों में ५ वां भाव कुक्षिस्थान पड़ता है। यहां रहनेवाला ग्रह यदि प्रसवात्मक प्राणवायु के अन्तर्य्याम सम्बन्ध से वञ्चित रहता है, तो गर्भाधान नहीं होता। तीसरा दोष 'पितृदोष' है। पुरुष के शुक्र में आठ प्रकार का पितरप्राण प्रतिष्ठित रहता है। पितरप्राण सौम्य है, सोम चान्द्र है, चन्द्रमा अन्न का अधिष्ठाता माना गया है। भुक्त अन्न ही शुक्ररूप में परिणत होता है। जिस नाड़ी से चान्द्ररस (सोम) अन्न द्वारा शुक्र का स्वरूप-समर्पक बनता है, वही नाड़ी 'श्रद्धा' नाम से प्रसिद्ध है। इसी श्रद्धा नाड़ी के द्वार से चान्द्र[1]-सौम्य-पितरप्राण शुक्र में प्रतिष्ठित होता है। इस पितर-प्राण के सम्बन्ध से ही शुक्र में रहने वाला पुंभ्रूण जाग्रत रहता है। यदि पितरप्राण मूर्च्छित है, तब भी सन्तति का अभाव है। एवं इस दोष की एकमात्र चिकित्सा है— 'श्राद्धकर्म्म', जिस का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'श्राद्धविज्ञान' नामक, खण्डद्वयात्मक ग्रन्थ में द्रष्टव्य है। चौथा दोष 'सर्पदोष' है। इन सर्पों की—'कर्म्मसर्प-देवसर्प' भेद से दो प्रधान जातियां हैं। कर्म्मवश सर्पयोनि में जन्म लेने वाले सर्प 'कर्म्मसर्प' हैं। एवं जो प्राणदेवता सर्प का शरीर धारण कर आधिकारिक कर्म्म की पूर्त्ति में नियुक्त रहते हैं, वे 'देवसर्प' कहलाते हैं। यदि कोई मनुष्य अज्ञानतावश देवसर्प को मार देता है, तो इस से सम्बद्ध खगोलीय नाक्षत्रिक सर्पप्राण कुपित हो जाता है। कुपित नाक्षत्रिकसर्प पुरुष के सन्तान-सहयोगी नाक्षत्रिक रसों को दूषित कर डालता है, परिणामतः वंशविच्छेद हो जाता है। इस दोष के निराकरण के लिए प्रायश्चित किया जाता है। सुवर्णमयी सर्पप्रतिमा का दान इस प्रायश्चित्त कर्म्म का प्रधान अङ्ग माना गया है। पांचवां 'नाड़ीदोष' है। 'अश्विनी' से आरम्भ कर 'रेवती' नक्षत्र पर्य्यन्त २७ नक्षत्र हैं। इन के खगोल में ९-९ के क्रम से तीन संस्था विभाग हैं। इन्हीं तीनों नाक्षत्रिक संस्थाओं को क्रमशः 'आदिनाड़ी-मध्यनाड़ी-अन्तनाड़ी' कहा गया है। वंशतनन के लिए नाड़ी-साम्य भी आवश्यक माना गया है। क्योंकि नाड़ी-वैषम्य भी अपत्य का प्रतिबन्धक बन जाया करता है। छठा दोष 'कर्म्मदोष' है। सातवां दोष 'व्याधिदोष' है, आठवां दोष 'अतिव्यवाय' दोष है। इन में से कोई सा भी दोष रहेगा, तो गर्भाधान

---

[1] "विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति"।

न होगा। हमारा यह गर्भाधानसंस्कार शुक्रदोष का ही प्रधानरूप से प्रतिबन्धक है। इस सम्बन्ध मे यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, यद्यपि आयुर्वेद ने अन्यान्य ओषधियों* के प्रयोग से गर्भाधान के अनेक उपाय बतलाए हैं, परन्तु गर्भाधान के साथ साथ गर्भगत द्विजाति-वीर्य्यों में वर्णोचित बलों का आधान तो एकमात्र वैदिक-गर्भाधान संस्कार पर ही निर्भर है। अतएव यह चिकित्सासंस्कार धार्म्मिकसंस्कार बन गया है। ओषधिप्रयोग के साथ होने वाला मन्त्र-प्रयोग ही गर्भ में बलाधान का मुख्य हेतु है, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। पाठकों को यह जानकर कोई आश्चर्य्य नहीं करना चाहिए कि, स्थूलशरीर-चिकित्सा से प्रधान सम्बन्ध रखने वाले हमारे आयुर्वेदशास्त्र ने भी अपने त्रिवृद्भाव के कारण इन श्रौत-स्मार्त्तसंस्कारों की अवश्यकर्त्तव्यता का आदेश दिया है। गर्भाधानादि संस्कारों का शास्त्रीय दिग्दर्शन आयु-र्वेद की सुप्रसिद्ध 'चरकसंहिता' में द्रष्टव्य है—(चरक सं० शारीरस्थान, जातिसूत्रीयाध्याय)।

स्त्री, एवं पुरुष, दोनों के अण्डकोष होते हैं, दोनों ही 'लिङ्गी' हैं। दोनों के उत्पादक लिङ्गों में अन्तर यही है कि, पुरुषलिङ्ग बहिर्मुख है, एवं स्त्रीलिङ्ग अन्तर्मुख है। यदि इनमें किसी भी दोष से शिथिलता (निर्वीर्य्यता) आ जाती है, तब भी गर्भाधान नहीं होता। यह दोष 'आम्रमञ्जरी' (आम के मोर) से भी हटाया जा सकता है। बसन्त ऋतु में आम्रमञ्जरी

---

* १—पिप्पल्यः शृङ्गवेरञ्च मरीचं केसरं तथा।
सम घृतेन पातव्यं वन्ध्यापि लभते सुतम्॥
२—वटवृक्षोद्भवान् शृङ्गान् गोघृतेन समांशकान्।
ऋतुकाले पिबेद् या तु नियतं पुत्रिणी भवेत्॥
३—क्वाथेन हयगन्धायाः साधितं सघृतं पयः।
ऋतुस्नाताबला पीत्वा गर्भं धत्ते न संशयः॥
४—कुरण्टकोऽश्वगन्धा वा कर्कोटा शिखिचूलिका।
एकैका कुरुते गर्भं पीता क्षीरेण योषितः॥
५—ऋतौ कसेरुकं शुण्ठीं सर्पिर्दिनचतुष्टयम्।
क्षीरपीतं स्त्रिया गर्भं ग्राहयेन्नरसङ्गमे॥
६—लक्ष्मणा शिखिचूली वा दुग्धपीता दिनत्रयम्।
ऋतौ जाते स्त्रियं गर्भं ग्राहयेन्नरसङ्गमे॥

के रसप्रयोग से गर्भाधान सम्भव है। आम्रफल महावृष्य माना गया है। इसमें शुक्रोत्तेजक मधुभाग अतिशय मात्रा में रहता है। इसीलिए यह वाजीकरण द्रव्यों में स्वीकृत है। वसन्त ऋतु में सूर्य्यरश्मियों से भरणी नक्षत्र द्वारा मधु की (प्राणरूप से) वृष्टि होती है। अतएव वसन्त ऋतु के चैत्र-वैशाख मास 'मधु-माधव' नामों से प्रसिद्ध हैं। इस आगत मधु का सञ्चय आम्रमञ्जरी मे विशेषरूप से होता है। मञ्जरी-गत मधु से शुक्र मे बलाधान होता है, एवं बलाधान के अनुग्रह से गर्भाधान योग्यता उत्पन्न हो जाती है।

दूसरी ओषधि है—'श्वेतवर्णा—बृहतीकण्टकारिका का मूल'। जिसे लोकभाषा में 'कटेली' कहा जाता है, जोकि 'कासघ्नी'—'निदिग्धिका'—'स्पृही'—'व्याघ्री'—'बृहती' 'प्रचोदिनी' 'दुःस्पर्शा' 'अनाक्रान्ता'-'भण्टाकी'-'सिंही'-'धावनिका'-'चित्रफला' इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध है, उसी की जड़ का रस वैदिक-गर्भाधानसंस्कार मे परिगृहीत है। एक कटेली के पीत पुष्प आते हैं, एक के श्वेत पुष्प। इन दोनों में से—'शुक्ला सा गर्भदा च' के अनुसार सुफेद फूलवाली बड़ी कटेली की जड़ ही इस कर्म्म में ग्राह्य है। पुष्यनक्षत्र में यह जड़ उखाड़नी चाहिए। क्योंकि पुष्टिकर 'पूषा' प्राण पुष्यनक्षत्र मे ही इसमे प्रविष्ट रहता है। 'इयमोषधी त्रायमाणा' ० इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ भर्त्ता पत्नी के दक्षिण नासापुट मे रस की आहुति देता है। इस संस्कार से अवश्य ही गर्भाधान हो जाता है। एवं यही इस प्रथमसंस्कार की संक्षिप्त उपपत्ति है। इसी संस्काररहस्य को लक्ष्य मे रख कर आचार्य्य कहते हैं—

७—बीजानि मातुलङ्गस्य दुग्धस्विन्नानि सर्पिषा।
सगर्भां तानि कुर्वन्ति पानाद् वन्ध्यामपि स्त्रियम्॥
८—उपोषितेन पुष्ये तु जयामूले समुद्धृते।
एकवर्णगवीक्षीरपीते स्त्री लभते सुतम्॥
९—पूतञ्जीवकमूले वा पयः पीते सुतं लभेत॥
१०—लिङ्गाङ्कं लक्ष्मणामूलं घृतेन स्याद्दतौ सुतम्।
दक्षनासापुटे नारी लभते पतिसंगमे॥
११—गोघृतेन सह नागकेशरं, श्लक्ष्णचूर्णितमृतौ नितम्बिनी।
गव्यदुग्धनिरता पिबेद्धिया, सा तदातिशयमेव वीरसूः॥ —सग्रहः।

'सा यदि गर्भं न दधीत—सिंह्या श्वेतपुष्प्या उपोष्य पुष्येण, मूलमुत्पाट्य, चतुर्थेऽहनि स्नातायां, निशायां, पिष्ट्वा दक्षिणस्यां नासिकायामासिञ्चति—

'इयमोषधी त्रायमाणा सहमाना सरस्वती।
अस्या अहं बृहत्याः पुत्रः पितुरिव नाम जग्रभत्'

—पा० गृ० सू० १।१३

(१) गर्भाधान के मूलमन्त्र—

१—पर्वताद् दिवो योनेरङ्गादङ्गात् समाभृतम्।
शेपो गर्भस्य रेतोधाः सरौ पर्णमिवादधत्॥

२—यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे।
एवा दधामि ते गर्भं तस्मै त्वामवसे हुवे॥

३—गर्भं धेहि सिनीवालि! गर्भं धेहि सरस्वती!
गर्भं ते अश्विनोभा धत्तां पुष्करस्रजा॥

४—गर्भं ते मित्रावरुणौ गर्भं देवो बृहस्पतिः।
गर्भं त इन्द्रश्चाग्निश्च गर्भं धाता दधातु ते॥

५—विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा पाणि पिंशतु।
आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते॥

६—यद् वेद राजा वरुणो यद् वा देवी सरस्वती।
यदिन्द्रो वृत्रहा वेद तद् गर्भकरणं पिब॥

७—गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् ।
गर्भो विश्वस्य भूतस्य सो अग्ने गर्भ मेह धाः ॥

८—अधि स्कन्द वीरयस्व गर्भ मा धेहि योन्याम् ।
वृषासि वृष्ण्यावन् प्रजायै त्वा नयामसि ॥

९—वि जिहीष्व वार्हत्सामे गर्भस्ते योनिमाशयाम् ।
अदुष्टे देवाः पुत्रं सोमपा उभयाविनम् ॥

१०—धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्य्या गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमाधेहि दशमे मासि सूतवे ॥

११—त्वष्टः श्रेष्ठेन रूपेणास्या० ... ... ॥

१२—सवितः श्रेष्ठेन रूपेणास्या० ... ... ॥

१३—प्रजापते ! श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्य्या गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमाधेहि दशमे मासि सूतवे ॥

—अथर्व सं० ५।२५

२—*पुंसवनम्*—

इस संस्कार की उपपत्ति इसके निर्वचन से ही स्पष्ट है । 'पुमान् सूयते येन कर्म्मणा–तदिदं पुंसवनम्' इस निर्वचन के अनुसार जिस चमत्कारपूर्ण संस्कार-कर्म्म से गर्भाशयस्थ गर्भ के चिह्न वदल दिए जाते हैं, कन्या-चिन्हों को पुत्रचिन्हों में परिणत कर दिया जाता है, प्रकृति के सहज नियम को वदल दिया जाता है, वही अपूर्व संस्कार—'पुंसवन' नाम से प्रसिद्ध है। जैसा कि पूर्व संस्कार में वतलाया गया है;—'आधिक्ये रेतसः पुंसः' के अनुसार यदि पुरुष का शुक्रभाग प्रवृद्ध होता है, तो पुरुष-सन्तान उत्पन्न होती है, एवं स्त्री के शोणितभाग के प्रावल्य से कन्या-सन्तान उत्पन्न होती है। सम्भव है, स्त्री का शोणितभाग प्रवृद्ध हो, फलतः तद्गत स्त्रीभ्रूण वलवान हो। यदि ऐसा हुआ, तो प्रथम सन्तान कन्या ही होगी।

और ऐसा होना वशवितान-प्रेमी वैदिकों की दृष्टि मे अमङ्गल की सूचना है। इस सम्बन्ध में ऐसा विश्वास किया जाता है कि, जिनके प्रथम प्रथम कन्या सन्तान होती है, उसका वश अधिक समय तक नहीं चलता। इस विश्वास को इस आधार पर सत्य माना जा सक्ता है कि, कन्योत्पत्ति का मूलकारण स्त्रीवीर्य्य का आधिक्य है। जिसका योषित्-भाग आरम्भ में हीं प्रबल है, वहा वृषाभाग की निर्वीर्य्यता स्वत सिद्ध है। इसी महाविप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए पुसवन संस्कार करना परमावश्यक है।

गर्भाधानकाल से आरम्भ कर २ रे, ३ रे महीनें तक कन्या-पुत्र, दोनों के चिन्ह रहते हैं। इतने समय तक दोनों भ्रूणों मे प्रतिस्पर्द्धा चलती रहती है। जबतक यह प्रतिस्पर्द्धा होती रहती है, तबतक गर्भ का स्पन्दन नहीं होता। जिस प्रकार दो योद्धाओं की प्रतिद्वन्द्विता मे विजेता योद्धा विजित योद्धा को धराशायी बना कर शरीरयष्टि को स्पन्दित करता हुआ गर्व से खडा हो जाता है, एवमेव तृतीयमास के अनन्तर दोनों मे से विजेता भ्रूण विजित भ्रूण को आत्मसात् कर स्पन्दन क्रिया करने लगता है। यह स्पन्दनक्रिया इस बात की सूचिका है कि, अब गर्भ मे जिन चिन्हों का विकास होना था, हो चुका। अब परिवर्त्तन असम्भव[1] है। अतएव सूत्रकार ने गर्भस्पन्दन से पहिले ही पुंसवन का समय माना है।

कन्या के चिह्नों का बल नष्ट करना, एव पुत्रचिह्नों को बल देना पुसवनकर्म्म का यही मुख्य उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए गर्भिणी को ऐसे पदार्थ देने पड़ेंगे, जिन में शुक्रसजातीय, अतएव शुक्रवर्द्धक सौम्यभाव की प्रधानता रहेगी। न्यग्रोध (वट) शुङ्ग, कुश, सोम, दूर्वा आदि पदार्थ इसी सौम्यभाव से युक्त है। वटवृक्ष मे मुकुलिताकार, पत्रों के पूर्वरूप-भूत, लटके हुए जो शुङ्ग होते हैं, जिन्हें कि बच्चे बड़े चाव से खाया करते हैं, जिन का स्वाद कुछ कषाय (कसेला-कसायला) सा होता है, सोमद्रव्य से युक्त रहते हैं। सौररश्मिमण्डल की उस अन्तिम परिधि से, जो कि पारमेष्ठ्य पानी की परिधि मे प्रविष्ट होकर उतनी दूर तक के पानी को तेजोमय बना डालती है, सम्बन्ध रखने वाले **'वेन'** नाम के तेजोमय पानी से (सौम्यपानी) से ही दर्भ (कुश) उत्पन्न हुए हैं, जैसा कि **'शतपथविज्ञानभाष्यान्तर्गत-'दर्भोत्पत्तिरहस्य'** प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादित है। इस पावन सौम्यभाव के कारण

---

१ "चतुर्थे मासि स्थिरत्त्वमापद्यते गर्भ। तस्मात्तदा गर्भिणी गुरुगात्रत्त्वमधिकमापद्यते विशेषेण"। —चरक० शा० गर्भावक्रान्ति० २०।

दर्भ अतिशयरूप से पवित्र माने गए हैं। सोमवल्ली का सोममयत्व तो स्फुट है ही। दूर्वा भी इसी सोमभाव से युक्त है। यद्यपि पारस्कर ने दूर्वा का विधान नहीं किया है, परन्तु—'अथास्यै मण्डलागारच्छायायां दक्षिणस्यां नासिकायामजीतां (दूर्वां) ओपधिं नस्तःकरोति' (आश्वलायनीय गृह्य सू० १।१३।४) के अनुसार दूर्वा का भी ग्रहण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त आश्वलायन ने माप, जौ से युक्त दधि पान का भी विधान किया है[१]। माप वलाधायक है, यव सौम्य है, दधि इन्द्रप्रिय सान्नाय्य द्रव्य होने से सोम प्रधान है। तत्त्वतः इन ओपधियों का निष्कर्ष यही है कि, इन से शुक्र-मात्रा की, दूसरे शब्दों में गर्भाशय में प्रतिष्ठित पुंभ्रूण की ही वृद्धि की जाती है। यह ओपधिरस को गर्भिणी के दक्षिण-नासा रन्ध्र में डाला जाता है। कारण स्पष्ट है। दक्षिणभाग अग्निप्रधान वनता हुआ पुम्भावात्मक है। पुंसवन से पुम्भाव ही अपेक्षित है, अतः तत्प्रधान दक्षिण नासापुट में ही ओपधि सिञ्चन करना न्यायसङ्गत है।

जिस दिन पुनर्वसु, पुष्य नक्षत्र हो, उस दिन गर्भिणी को स्नान करा के, स्वच्छ-वस्त्र पहिना के न्यग्रोध शुङ्ग को पीसकर दक्षिण नासापुट में 'हिरण्यगर्भः०—अद्भ्यः'० ये दो मन्त्र वोलते हुए उस रस का सेक किया जाता है, एवं यही संक्षिप्त पुंसवनकर्म्म पद्धति है, जैसा कि सूत्रकार कहते हैं—

'अथ पुंसवनम्। पुरा स्पन्दत इति मासे द्वितीये, तृतीये वा। यदहः पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युज्येत, तदहरुपवास्य, आप्लाव्य, आहते वाससी परिधाप्य, न्यग्रोधावरोहाञ्छुङ्गाँश्च निशायामुदपेषं पिष्ट्वा पूर्ववदासेचनं-'हिरण्यगर्भोऽद्भ्यः' सम्भृत' इत्येताभ्याम्। कुशकण्टकं, सोमांशुं चैके।' —पा० गृ० सू० १।१४

---

१ "यदि नाधीयात्-तृतीये गर्भमासे तिष्येणोपोपितायाः सरूपवत्सया गोर्दधनि द्वौ द्वौ मापौ, यवश्च दधिप्रसृतेन प्राशयेत्" (आ० गृ० १।१३।२)।

२ हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ १॥ (यजुः सं० १३।४)
अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्म्मणः समवर्त्तताग्रे।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे॥ २॥ (यजुः सं० १३।१७)

२—पुंसवन के मूलमन्त्र-

१—शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्।
तद् वै पुत्रस्य पुत्रस्य वेदनं स्त्रीष्वाभरामसि॥
२—पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनुषिच्यते।
तत् पुत्रस्य वेदनं तत् प्रजापतिरब्रवीत्॥
३—प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्यचीक्लृपत्।
स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधदिह॥
—अथर्व सं० ६।११।

३—सीमन्तोन्नयनम्—

तीसरा सीमन्त संस्कार है। यही—'सीमन्तकरण-सीमन्तोन्नयन-फलस्नपन-' इन तीन नामों से प्रसिद्ध है। 'सीमन्तः कथ्यते स्त्रीणां केशमध्ये तु पद्धतिः' इस 'अभिधान' वचन के अनुसार स्त्रियों के केश-पाशों में मध्यभाग में जो एक प्रकार की केशपद्धति होती है, जिसे कि प्रान्तीय भाषा में 'मांग' कहा जाता है, जिस रेखा में सधवा स्त्रियाँ कुङ्कुम आदि सधवा-सूचक द्रव्य लगाया करतीं हैं, वही 'सीमन्त' नाम से प्रसिद्ध है। इसी केश-पद्धति, किंवा केशसरणी से कपालस्थ केश इतः-उतः दो सीमाओं में विभक्त रहते हुए एक विशेष रचना से युक्त रहते हैं। चूंकि यह केशपद्धति केशों को मध्य में से दो भागों में विभक्त कर इन्हें सीमाबद्ध कर देती है, अतएव—'सीमानमन्तति, बध्नाति' इस निर्वचन से इस केशपद्धति को 'सीमन्त' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। प्रकृत संस्कार कर्म्म से इस सीमन्त का ही संस्कार होता है। सीमन्तस्थानोपलक्षित कपाल स्थान में ही शङ्कु आदि का प्रयोग होता है, अतएव यह संस्कार 'सीमन्तकरण' किंवा 'सीमन्तोन्नयन' नामों से प्रसिद्ध हुआ है।

गर्भपात को रोकने के लिए, गर्भपातक इन्द्रविद्युत् की विक्षेपण शक्ति के उपशम के लिए ही यह संस्कार आवश्यक माना गया है। इस संस्कार की उपपत्ति के लिए 'गायत्री छन्द' का स्वरूप ध्यान में रखना आवश्यक होगा। 'एतद्ध सौपर्णकमाख्यानमाख्यानविद् आचक्षते' ऐतरेयोपवर्णित इस 'सौपर्ण-काद्रवेय' आख्यान में यह स्पष्ट किया गया है कि, "आरम्भ में सभी छन्द चतुरक्षर थे, जैसा कि 'चतुरक्षणा हि वा अग्रे सर्वाणि छन्दास्यासुः' इत्यादि निगमवचनों से स्पष्ट है। उक्त आख्यान में 'गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती' इन छन्दों का स्पष्टीकरण हुआ है। देवताओं के यज्ञकर्म्म की सिद्धि के लिए तीसरे[1] लोक में रहने वाले पारमेष्ठ्य सोम को लाने के लिए पृथिवी लोक से सर्वप्रथम चतुरक्षरा जगती जाती है। वहां सोमरक्षक गन्धर्व जगती के (अक्षरस्थानीय) तीन चरण काट लेते हैं। सोमापहरण मे असमर्थ रहती हुई जगती अपने तीन पैर खोकर एक पैर से वापस लौट आती है। अनन्तर चतुरक्षरा त्रिष्टुप् जाती है। इस का एक पैर काट लिया जाता है। परिणामतः यह अपने तीन पैर लेकर वापस लौट आती है। सर्वान्त में देवताओं के द्वारा मिलने वाले 'एति च प्रेति च' (शत० १।४।३।२) इस वल से युक्त होती हुई चतुरक्षरा गायत्री सुपर्ण (गरुड़पक्षी) का रूप धारण कर बड़े वेग से सपाटा मारती है। यह सोमापहरण तो कर ही लेती है, साथ ही गन्धर्वों के द्वारा काटे गए जगती-त्रिष्टुप् के ३-१ चरण भी वापस ले आती है। जगती के तीन चरणों से, त्रिष्टुप् के १ चरण से चतुरक्षरा गायत्री 'अष्टाक्षरा' बन जाती है। गायत्री को सफल मनोरथ हुआ सुनकर, साथ ही में यह जान कर कि, गायत्री हमारे पैर भी साथ ले आई है, तीन पैर वाली त्रिष्टुप्, एवं १ पैर वाली जगती इस के पास आती है, और नम्रभाव से निवेदन करती हैं कि, आप कृपा कर हमारे पैर लौटा दीजिए! गायत्री निषेध करती हुई यह उत्तर देती है कि, हमने इतनी दूर से इन्हें प्राप्त किया है। अतः इन्हे नहीं लौटा सकतीं। हां, यदि तुम चाहो तो हम मे मिल सकती हो। तीन पैर वाली त्रिष्टुप् 'तथास्तु' कहती हुई अष्टाक्षरा बनी हुई गायत्री के साथ मिल गई। इस सङ्गम का परिणाम यह हुआ कि, त्रिष्टुप् अपने तीन पैरों से, एवं गायत्री के आठ पैरों से 'एकादशाक्षरा' बन गई। यही जगती ने किया। ८ गायत्री के अक्षर, ३ त्रिष्टुप् के अक्षर, १ स्वयं जगती का पैर, इस प्रकार जगती 'द्वादशाक्षरा' बन गई। इस प्रकार आरम्भ में चतुरक्षरा रहने वाली गायत्री आदि

---

१ "तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत्। तं गायत्री-अच्छापतत्" (शत० ३।६।१)

इस सोमापहरण के प्रभाव से, एवं गायत्री के अनुग्रह से ८-११-१२ अक्षरों में परिणत हो गई।" सौपर्णाख्यान का यही संक्षिप्त निदर्शन है।

इस आख्यान के मौलिक रहस्य की जिज्ञासा रखने वालों को तो 'शतपथभाष्यान्तर्गत-सोमापहरणब्राह्मणविज्ञान' ही देखना चाहिए। प्रकृत में इस आख्यान से हमें केवल यही बतलाना है कि गायत्रीछन्द चार अक्षर का भी माना गया है। इस के अतिरिक्त खगोलीय सप्त अहोरात्रवृत्तों की परिभाषा के अनुसार सप्त-देवच्छन्दानुवर्त्ती गायत्रीछन्द ६ अक्षर का भी माना गया है। षडक्षरा गायत्री के चार चरण मिल कर कुल २४ अक्षर हो जाते हैं, एवं इसी को 'चतुष्पदागायत्री' कहा जाता है। इस के अतिरिक्त-आठ-पार्थिव वसुओं के सम्बन्ध से, एवं आप:-फेनादि आठ पार्थिव अवयवों के सम्बन्ध से पृथिवी-लोकाधिष्ठात्री गायत्री 'अष्टाक्षरा' भी मानी गई है, जैसा कि उक्त आख्यान में भी स्पष्ट किया जा चुका है। इसी अधारपर—'अष्टाक्षरा वै गायत्री, गायत्रमग्नेश्छन्दः' इत्यादि निगमवचन प्रतिष्ठित हैं। आठ-आठ अक्षर के तीन चरणों से गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा बन जाती है। एवं इसे ही— त्रिपदागायत्री' कहा जाता है। इस से यह निष्कर्ष निकला कि—गायत्री के 'चतुरक्षर-षडक्षर-अष्टाक्षर' ये तीन रूप हैं। गायत्री के इन तीनों रूपों को थोडी देर के लिए यहीं छोड कर एक दूसरे आख्यान की ओर अपना ध्यान आकर्षित कीजिए।

"जिस समय इन्द्र ने वृत्रासुर पर वज्र प्रहार किया, उस समय, "कहीं निशाना चूक जाने से बचा रह कर वृत्रासुर मुझ पर हमला न कर बैठे", इस विभीषिका से इन्द्रदेवता अपने आप को वृत्र की अपेक्षा निर्बल समझते हुए बहुत दूर गुप्त स्थान में जा छिपे। इधर देवताओं को जब यह मालूम हुआ कि, इन्द्र के वज्र प्रहार से वृत्रासुर मारा गया है, और इन्द्र इसी के भय से कहीं छिप गए हैं, तो इन्हों ने इन्द्र को ढूढना आरम्भ किया। इस खोज के लिए देवताओं में से 'अग्नि' गए, ऋषियों में से 'हिरण्यस्तूप' गए, छन्दों में से 'बृहतीछन्द' गया। इन तीनों अन्वेषकों में से अग्नि ने ही इन्द्र को ढूंढ निकाला। अमावास्या की रात्रि में अग्नि के साथ इन्द्र वापस देवमण्डली में लौट आए। अग्नि के साथ इन्द्र को लौट आया देखकर देवताओं ने इस तिथि का नाम 'अमावास्या' रख दिया, एवं इन दोनों (अग्नि तथा इन्द्र) के लिए 'ऐन्द्राग्नद्वादशकपाल पुरोडाश' सम्पन्न किया गया" (देखिए–शत० ब्रा० ११।१।४।)।

इस आख्यान से बतलाना हमें यही है कि, इन्द्र और अग्नि का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है। श्रुति ने—'यथा ज्ञातिभ्यां वा सखिभ्यां वा सहागताभ्याम्' कहते हुए दोनों को अभिन्न सखा, सजातीय बन्धु माना है। इस से यह भी निष्कर्ष निकला कि, जहां जहां अग्नि का साम्राज्य रहेगा, वहां वहां इन्द्र अवश्य रहेगा। सहरक्षा नाम के आसुर अग्नि को छोड़कर देवदूत नामक दिव्याग्नि अवश्य ही इन्द्र-सम्पत्ति से युक्त माना जायगा। अग्नि चूंकि गायत्रछन्दा है, अतएव इन्द्रविकास का मूलाधार गायत्रीछन्द माना जायगा। 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा। या वै प्रज्ञा, सप्राणः, यःप्राणः सा प्रज्ञा, सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्तिष्ठतः। तं मामायुरमृतमित्युपास्व' (कौषीतकि उप० ३।२।२।) इत्यादि श्रुति के अनुसार गायत्रछन्दा प्राणाग्नि, और आयुःस्वरूपाधिष्ठाता प्रज्ञानमूर्ति इन्द्र, दोनों अविनाभूत हैं। प्रज्ञानेन्द्र ही चिल्लक्षण भूतात्मा है, जिसे कि हम नें पूर्व में संस्कार ग्रहणयोग्य 'ब्रह्म' कहा है। जोकि—'चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः' (चरक, शारीरस्थान, १।१७) के अनुसार 'चेतनापुरुष' नाम से प्रसिद्ध है। केनोपनिषत् ने इसी आत्मेन्द्र को विद्युल्लक्षण माना है—(देखिए केनो० ४।३)। मन का बड़े वेग से इतस्ततः अनुधावन, शरीरावयवों का संस्फुरण, पलकों का नीचे ऊपर गिरना, आदि इसी आत्मलक्षण सौम्य विद्युत्-इन्द्र की महिमा है। 'तस्मादाह—इन्द्रो ब्रह्मे ति'—(कौ० ब्रा० ६।१४)—'विद्यु द्ब्रह्मे -त्याहुः, विद्यु द्ध्ये व ब्रह्म' (शत० १४।८।७।१)—'स्तनयित्नुरेवेन्द्रः' (शत० ११।६।६) इत्यादि वचनों के अनुसार इन्द्र ब्रह्म है, एवं यह साक्षात् सौम्य-विद्युत्-रूप है। साथ ही इसका सम्बन्ध गायत्रछन्दा अग्नि के साथ माना गया है। चित्याग्नि के चयन से (चिति-चेजे से) ही गर्भ का स्वरूप सम्पन्न होता है। चूंकि अग्नि गायत्रछन्दा है, एवं गायत्रीछन्द की पूर्वोक्त सौपर्णाख्यान के अनुसार ४-६-८, ये तीन विश्राम-भूमियां है, अतएव चतुर्थमास में, षष्ठ मास में, एवं अष्टम मास में गायत्रछन्दोऽग्नि का विकास होना अनिवार्य्य है। इसके साथ ही तत्सहयोगी इन्द्रविद्युत् का भी संस्फुरणलक्षण विकास अनिवार्य्य है। चौथे महिने में चतुरक्षरा गायत्री के सम्बन्ध से इन्द्रविद्युत् की स्वाभाविक विक्षेपण शक्ति प्रबल रहेगी, ६ ठे महीने में षडक्षरा गायत्री के सम्बन्ध से इन्द्रविद्युत् प्रबल रहेगा, एवं आठवें महीने में अष्टाक्षरा गायत्री के सम्बन्ध से इन्द्र का साम्राज्य रहेगा। छन्दोमात्राओं के तारतम्य से प्रबल बना हुआ इन्द्र अपनी विक्षेपण शक्ति के कारण गर्भ-पात का कारण बन जाया करता है। एवं इन तीनों अवस्थाओं में बाहर गिरा हुआ गर्भ जीवित नहीं रह सकता। सप्तम मास में

गिरा हुआ गर्भ फिर भी यथाकथंचित् जीवित रह सकता है, परन्तु ४-६-८ वें महीनों का गर्भ कभी जीवित नहीं रहता। इस गर्भपात की आशङ्का को रोकने के लिए ही सीमन्त-संस्कार का विधान हुआ है। तीनों में से किसी एक समय में यह संस्कार कर देने पर इन्द्रविद्युत् शान्त हो जाती है, गर्भपात की शङ्का मिट जाती है। इसी छन्दोविज्ञान के आधार पर भारतीय वैज्ञानिकों नें इस संस्कार के लिए ४-६-८, तीनों मास उपयुक्त मानें हैं, जैसा कि, निम्न लिखित सूत्रों से स्पष्ट है--

१—'चतुर्थे मासि, षष्ठे, अष्टमे वा' —गोभिलीयगृह्यसूत्र २।७।२।

२—'चतुर्थे गर्भमासे सीमन्तोन्नयनम्' —आश्वलायनीयगृह्यसूत्र १।१४।१।

३—'प्रथमे गर्भमासे षष्ठे, अष्टमे वा' —पारस्करगृह्यसूत्र १।१५।३।

इस प्रकार यद्यपि सूत्रकारों नें छन्दोमात्राओं के विभिन्न आधारों पर तीन समय निश्चित किए हैं, तथापि आयुर्वेद के समतुलन की दृष्टि से प्रधानतः अष्टम मास ही इस संस्कार के लिए प्रधान समय समझना चाहिए। भुक्तान्न की 'सप्तधातु, ओज, शुक्र', नाम की 'स्थूल-सूक्ष्म-सुसूक्ष्म' भेद से तीन अवस्थाएं हो जातीं हैं। अन्नगत स्थूल पार्थिव भाग स्थूल 'सप्तधातु' रूप में परिणत होता है, अन्न में रहनेवाला सूक्ष्म वायव्यप्राण सूक्ष्म 'ओज' रूप में परिणत होता है, एवं अन्न में प्रतिष्ठित सुसूक्ष्म चान्द्रसोम 'मनो' रूप में परिणत होता है। इन तीनों में मध्यस्थ ओज वायव्य है। उधर 'इन्द्रतुरीया ग्रहा गृह्यन्ते' इस वचन के अनुसार वायु में इन्द्रमात्रा प्रतिष्ठित रहती है। अतएव ओज को हम 'ऐन्द्र' भी कह सकते हैं, एवं वायव्य भी मान सकते हैं। इसी वायु-सहयोग से इन्द्र, तथा वायु का अभेद मान लिया जाता है, जैसा कि—'अयं वाव इन्द्रो योऽयं पवते' (शत० ब्रा० १४।२।२।६)—'यो वै वायुः-स इन्द्रः-स वायुः'—(शत० ब्रा० ४।१।३।१६)-'इन्द्रो मरुद्भिः (व्यद्रवत्)' (शत० ब्रा० ३।४।२।१) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, 'ओज' नामक शारीरधातु साक्षात् इन्द्र है। चूंकि अष्टममास में इन्द्रसहयोगी अग्निदेवता अष्टाक्षरगायत्रीछन्द की परिपूर्णता से पूर्णसमृद्ध रहता है, उधर अग्नि, वायु, इन्द्र, तीनों ही देवता क्रमशः विशकलन, गति, विक्षेपण-धर्म्मों से युक्त रहते हैं, अतएव इस महीनें में। (आठवें महीनें में) गर्भपात की आशङ्का बनी रहती है। इस आशङ्का का मूलकारण यही है कि,

प्रवृद्ध ओज (इन्द्र) माता की ओर से गर्भ में, गर्भ की ओर से माता में चङ्क्रमण करने लगता है। भिषग्वरों का कहना है कि, यह मास गर्भ के लिए अनिष्टकर है। अतएव गर्भिणी के सामने--'अब इसे आठवाँ महीना है' इस प्रकार से उद्घोष नहीं करना चाहिए। देखिए !

'अष्टमे मासि गर्भश्च मातृतो, गर्भतश्च माता रसवाहिनीभिः संवाहिनीभि-र्मुहुर्मुहुरोजः परस्परत आददाते, गर्भस्यासम्पूर्णत्वात्। तस्मात्तदा गर्भिणी मुहुर्मुहुर्मुदा युक्ता भवति, मुहुर्मुश्च ग्लाना, तथा गर्भः। तस्मात्तदा गर्भस्य जन्म व्यापत्तिम-द्भवत्योजसोऽनवस्थितत्वात्। तं चैवमभिसमीक्ष्याष्टमं मासमगण्यमित्याचक्षते कुशलाः'

—चरक शा० ४।२४।

'अगण्यमिति-न गणनया गर्भिण्यां प्रतिपादनीयम्। यदि हि गर्भिणी गण्यमानमष्टममासं गर्भजन्मव्यापत्तिकरं शृणुयात्, ततो भीता स्यात् तद्भयाच्च गर्भस्य वातक्षोभात् व्यापत्स्यात्, इति भावः'

—चक्रपाणिः

चतुर्थ, अथवा षष्ठम मास में इन्द्रविद्युत् का पूर्ण विकास नहीं होता। अष्टाक्षर गायत्री छन्द के पूर्णविकास के साथ आठवें महीने में ही गर्भगत चेतना (इन्द्र) सर्वाङ्गीण बनती है। इसके अतिरिक्त आठवें महीने में इन्द्र को समानबल प्रेरक वायु का सहयोग और प्राप्त हो जाता है। 'इन्द्रतुरीया ग्रहा गृह्यन्ते' इस निगम के अनुसार 'ऐन्द्राग्न' की तरह 'ऐन्द्रवायव' भी एक समस्यात्मक ग्रह माना गया है। जैसाकि पूर्व में स्पष्ट कर दिया गया है, प्रत्येक वायु में एक चतुर्थांश इन्द्र-विद्युत् अवश्य रहता है। वायु भी गतिधर्म्मा है, इन्द्र भी विक्षेपक बनता हुआ तदनुरूप ही है। अतएव इसे वायु का भी सहयोगी मान लिया जाता है।

'नाभानेदिष्ठ'—बालखिल्या-वृषाकपि—एवयावरुत्' ये चार प्राण सहचारी माने गए हैं, एव ये चारों मिल कर ही गर्भ की स्वरूप-निष्पत्ति के कारण बनते हैं। इनमें एवयावरुत् नामक वायु ही 'प्रसववायु' है।

बात यथार्थ में यह है कि, शरीरस्वरूप-निष्पत्ति के लिए 'रेत-प्राण-आत्मा-प्रतिष्ठा' ये चार उपकरण अपेक्षित हैं। इन मे रेतोमय तत्व नाभानेदिष्ठ है। जिस के सहयोग से स्त्रीयोनि में पुरुष का रेत सिक्त होता है, वही नाभानेदिष्ठ है। उस सिक्त रेत को बालखिल्या नाम के प्राणविशेष विकृत करते हैं। मस्तक-ग्रीवा-हस्त-वक्ष-जठर-कटि-पाद-अङ्गुली आदि प्रत्यङ्ग निर्म्माण के लिए रेतोद्रव्य को विभक्त करना इन्हीं का काम है। अनन्तर ही (ऐतरेय श्रुति के इस प्रकरण मे अनुक्त, किन्तु अन्यत्र उक्त) 'त्वष्टा' नाम के प्राणविशेष के सहयोग से बालखिल्याओं द्वारा विभक्त रेतोद्रव्यांशों की तत्तदङ्ग-रूपों मे निष्पत्ति होती है, जैसा कि— 'त्वष्टा रूपाणि पिंशतु'—(तै० ब्रा० १।४।७।१)—'त्वष्टा वै रेतः सिक्तं विकरोति' (कौषीतकि ब्रा० ३।६)—'त्वष्टा रूपाणां रूपकृद्रूपपति' (शत० ११।४।३।१७) इत्यादि वचनों से सिद्ध है। त्वष्टा स्वयं अङ्गों का निर्म्माण नहीं करता, अपितु अङ्गों का आकार, (ढाचा) बनाना ही इस का मुख्य कर्म्म है। आकाररूप का ही यह अधिष्ठाता बनता है। इन आकारों को पूर्ण करना लोम त्वक्-अस्थि-मास-मज्जा-आदि से इन्हें भरना वृषाकपि

---

१ रेतो वै 'नाभानेदिष्ठ'। रेतस्तत् सिञ्चति। स रेतोमिश्रो भवति। प्राणा वै 'बालखिल्या'। प्राणानेवास्य तत् कल्पयति। आत्मा वै 'वृषाकपि'। आत्मानमेवास्य तत् कल्पयति। प्रतिष्ठा वा 'एवयामरुत्'। प्रतिष्ठामेवास्य तत् कल्पयति। तान्येतानि सहचराणीत्याचक्षते-नाभानेदिष्ठं, बालखिल्या, वृषाकपि, मेवयामरुतम्। तानि सह शंसेत्।"
—ऐतरेय ब्रा० ३।३।

१—नाभानेदिष्ठ —	रेतोऽधिष्ठाता	—गर्भस्वरूपनिष्पादकाः
२—बालखिल्या —	प्राणाधिनायका	
३—त्वष्टा —	रूपप्रवर्त्तक	
४—वृषाकपि —	आत्मप्रवर्त्तक	
५—एवयामरुत् —	प्रतिष्ठापक	

नामक इन्द्र का काम है। जब वृषाकपि द्वारा सब अङ्गों का निर्म्माण हो जाता है, तो सर्वान्त में—'एवयामरुत्' नाम का वायव्यप्राण (जिसे कि 'अत्रि' भी कहा जाता है, जो कि प्राण वाङ्मय है, धामच्छद है, पारदर्शकता का प्रतिबन्धक है) इन अङ्गों में काठिन्य उत्पन्न कर इन्हें प्रतिष्ठायुक्त कर देता है। जबतक गर्भाङ्गों में प्रतिष्ठालक्षण यह काठिन्य उत्पन्न नहीं होता, तबतक यह गर्भ परप्रतिष्ठा (मातृप्रतिष्ठा) का अनुगामी बनता हुआ गर्भाशय को नहीं छोड़ता। जब ६ मास की पूर्त्ति पर एवयामरुत् द्वारा इस में स्वतन्त्र-स्वप्रतिष्ठा का उदय हो जाता है, तो उस समय यह गर्भाशय छोड़ने की चेष्टा करने लगता है। एवं उसी समय एवयामरुत् का सहयोग इस के इस प्रयत्न को सफल बनाता है, जैसा कि निम्न लिखित ऐतरेय-वचन से स्पष्ट है—

'एवया मरुता एतवै करोति। तेनेदं सर्वमेतवै कृतमेति यदिदं किञ्च'।

एवयामरुत् मरुत् है, एवं इन्द्र इस का सहयोगी है। इधर अष्टम मास में इन्द्र पूर्ण विकसित हो जाता है। ऐसी दशा में यदि इसने एवयामरुत् को बल प्रदान कर दिया, तो इसी महीने में एवयामरुत् गर्भ को गर्भाशय से विच्युत् कर देगा। एवं इस महीने में गर्भ के बाहिर निकल पड़ने का अर्थ यह होगा कि, या तो गर्भ नष्ट हो जायगा, अथवा माता मर जायगी। कारण इस का यही है कि, अष्टाक्षर-पूर्ण-गायत्री के सहयोग से पूर्ण बलवान् बनता हुआ इन्द्रविद्युत् अष्टम मास में माता के गर्भाशय में चङ्क्रमण करने लगता है। जिस नलिका से रसागमन द्वारा गर्भ का पोषण होता है, उस नलिका से गर्भ में, गर्भ से नलिका में द्रुतवेग से इस का सञ्चार होने लगता है। इस वेग से गर्भ-पतन की सम्भावना निश्चित हो जाती है। यदि इस समय इन्द्रविद्युत् मातृनलिका में रहता है, तब तो माता जीवित रह जाती है, एवं आत्मप्रतिष्ठाशून्य गर्भ नष्ट हो जाता है। यदि इन्द्रविद्युत् का रुख गर्भ की ओर रहता है, तो गर्भ बच जाता है, किन्तु माता मर जाती है। यदि समानाक्रमण रहता है तो, माता, तथा शिशु सदा व्याधिग्रस्त रहते हैं। इस प्रकार यह अष्टम मास गर्भोत्पत्ति के लिए सर्वथा अनिष्टकाल सिद्ध हो जाता है। अवश्य ही इस का अवरोध अपेक्षित है। इसी हेतु से ४-६ महीनों की अपेक्षा अष्टममास को ही अवरोधक-सीमन्तसंस्कार के लिए उपयुक्त समय माना जायगा। लोक में भी इसी आधार पर यह संस्कार 'आठवाँ' नाम से प्रसिद्ध है। स्वयं आयुर्वेद ने भी इसी पक्ष का समर्थन किया है। देखिए !

'अष्टमे (मासि) अस्थिरो भवति, ओजस्तत्र । जातश्चेन्न जीवेत् । नीरोजस्त्वान्नैः, ऋतत्वाच्च'

—सुश्रुत, शारीरस्थान, ३।२६ ।

हां, तो अब आवश्यकता इस बात की है कि, किसी भी उपाय से इन्द्रविद्युत् के इस सञ्चार को, विशेषधर्म्म को रोकते हुए गर्भ की रक्षा की जाय। मन्त्रशक्ति के सहारे गर्भिणी के साथ ऐसे पदार्थों का सहयोग कराया जाय, जो इन्द्र के विरोधी हों, जिन के स्पर्शमात्र से बहिर्मुख बना हुआ इन्द्र अन्तर्मुख बन जाय। इन्द्र दिव्यप्राण है, देवता है, सौरतत्त्व है। यदि इस पर प्रबल-आसुर-प्राण का आक्रमण हो जाता है, तो इस का स्वाभाविक 'ओज' (विद्युत्) शान्त हो जाता है। लौह में इसी आसुरप्राण का साम्राज्य माना गया है। इसी आसुरभाव की प्रधानता से लौह-अशुचि धातु माना गया है। लौह-क्षुर (उस्तरे) के स्पर्श से 'नान्दनद्वार' को बचाने के लिए ही केशान्तस्थान में शिखा रखने का आदेश हुआ है। लौह से भी कहीं अधिक शल्ली के शङ्कु में ('सेह' के शूल में) आसुर-प्राण विद्यमान है। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, यदि किसी गृहस्थ के घर में घुणाक्षर-न्याय से, अथवा किसी दुष्ट के द्वारा सेह का शूल आ जाता है, तो घर में क्लेश हो जाता है। आज भी उन घरों में, जहां कि भारतीय-स्मृतिचिह्न सुरक्षित हैं, क्लेश के अवसरों पर वृद्ध पुरुष कहा करते हैं कि,—'भाई ! क्या इस घर में किसी ने 'सेह' का सूल रख दिया है' । इन्द्रविद्युत् का योनिस्थान (आगमन द्वार) केशान्त है । यही स्थान उपनिषदों में 'इतिः-नान्दनद्वारः' इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। आयुःप्रदाता, आत्मलक्षण, चिन्मूर्त्ति, यह इन्द्रतत्त्व इसी योनि से (ब्रह्मरन्ध्र से सूर्य्यकेन्द्रतक वितत, सुषुम्णानाड़ीलक्षण 'महापथ[1] के द्वारा) एक निमेष में (अपने प्रभव इन्द्रप्राणघन सूर्य्य से) तीनबार आता-जाता रहता

---

१ अणुः पन्था विततः पुराणो मां स्पृष्टो अनुवित्तो मयैव ।
तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गलोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः ॥ १ ॥
तस्मिञ्छुक्ल-नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितञ्च ।
एष पन्था ब्रह्मणा ह्यनुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्-पुण्यकृत्-तैजसश्च ॥ २ ॥

—शत० ब्रा० १४।७।२ ।

है। सूर्य्य ही स्वर्गलोक है। एवं इस दृष्टि से इस महापथ के द्वारा इन्द्रलक्षण आत्मा, किंवा आत्मलक्षण इन्द्र प्रतिक्षण स्वर्ग (सूर्य्य) से शरीर में, शरीर से स्वर्ग में गमनागमन किया करता है, जैसा कि वाजिश्रुति कहती है—

'अहरहर्वा एष यज्ञस्तायते, अहरहः सन्तिष्ठते, अहरहरेनं स्वर्गस्य लोकस्य गत्यै युङ्क्ते, अहरहरेनेन स्वर्गं लोकं गच्छति। तस्मादहरहरेव युञ्ज्यात्, अहरहर्विमुञ्चेत्'।

—शत० ब्रा० ९।४।४।१५।

लौह-क्षुरिका से क्षौरकर्म्म किया जाता है। पूर्वकथनानुसार लौह आसुर-प्राणप्रधान है। इन्द्र-निर्गमन-आगमनरूप, केशान्तोपलक्षित ब्रह्मरन्ध्र को इस के स्पर्श से बचाने के लिए ही केशान्तस्थान में 'शिखा' रखना आवश्यक माना गया है। शिखा न केवल हिन्दुत्व का कल्पित चिन्ह है, अपितु शिखा-धारण एक अत्यावश्यक विज्ञानसिद्ध कर्म्म है, परन्तु उनके लिए, जो दिव्यभाव को सुरक्षित रखते हुए दिव्यभावों को आत्मसात् करने की कामना रखते हैं। जिन्हें आसुरभाव से स्नेह है, जो महानुभाव असत्-कर्म्मप्रवृत्ति को ही श्रेष्ठ समझते हैं, उनके लिए शिखा महत्त्वशून्य पदार्थ है।

सीमन्तसंस्कार में किन किन द्रव्यों का समावेश है? यह तो पद्धति ग्रन्थों में ही देखना चाहिए। यहां केवल उपपत्ति से सम्बन्ध रखने वाले कुछ एक द्रव्यों का समन्वय करा दिया जाता है। 'सटालुग्रप्स-उदुम्बर, दर्भपिञ्जुली, त्रैणीशलली, वीरतरशङ्कु, पूर्णचात्र, इन प्रधान द्रव्यों के सहयोग से ही यह संस्कार होता है। उदुम्बरवृक्ष (गूलर) के जोड़ले दो फल (गूलर) ऐसे लेने चाहिएं, जो स्तबक से बद्ध हों। दो गूलर का उदुम्बर वृक्ष का (पत्रसहित) गुच्छा ही यहां 'सटालुग्रप्सौदुम्बरेण' वाक्य से गृहीत है[1]। इतना और स्मरण रखना चाहिए कि ये उदुम्बर फल कच्चे ही लिए जाते हैं, क्योंकि—अपक्व फल ही 'सलाटु' किंवा 'सटालु' किंवा 'शलाटु' नामों से व्यवहृत हुए हैं। उदुम्बर फल गर्भ-

---

१ "अथास्यै युग्मेन शलाटुग्रप्सेन, त्र्येण्या च शलल्या, त्रिभिश्च कुशपिञ्जूलैरूर्ध्वं सीमन्तं व्यूहति—'भूः, भुवः, स्वः-ओम्' इति त्रिभिः"। —आश्वलायनीयगृह्यसूत्र० १।१४।४।

रक्षक माना गया है[1]। अतएव इस का यहां ग्रहण हुआ है। अभी गर्भ पूर्णरूप से परिपक्व नहीं हुआ है, इसी भाव के परिग्रहण के लिए अपक्वफल लिए गए हैं। उदुम्बर सर्वौषधि है, महा वलप्रद है, गर्भरक्षक, तथा गर्भपोषक है। इस लिए इस का सम्बन्ध कराना आवश्यक समझा गया है। अपरिपक्व (कच्ची, नवीन) कुशों की मुष्टि ही 'दर्भपिञ्जुली' है। ज्योतिरूप जरायु से वेष्टित 'वेन' नामक तेजोमय अपूतत्त्व से उत्पन्न होने के कारण इन में भी गर्भरक्षा का धर्म्म विद्यमान है। इसी लिए इन का ग्रहण भी आवश्यक माना गया है। सेह के शूल में श्वेत-कृष्ण अनेक धारियां रहती हैं। जिस शूल में तीन श्वेत धारियां होंगी, वही 'त्रेणीशल्ली' कहलाएगी, एवं उसी का इस कर्म्म में विनियोग होगा। इन्द्रविरोधी आसुरप्राणसम्पत्ति के लिए ही इस का ग्रहण हुआ है। तीरखण्ड ही 'वीरतरशङ्कु' है। एवं सूतकातने में साधनभूत, कर्त्तनक्रिया में सूत्रवितान का आधार वना हुआ जो तर्कु (ताकू) है, वही 'पूर्णचात्र' शब्द से परिगृहीत है। प्रजातन्तुवितान सम्पत्प्राप्ति के लिए, साथ ही आसुरभावोत्तेजन के लिए ही इस का ग्रहण हुआ है।

इन सब को एकत्र समन्वित कर कच्चे सूत्र से बांधकर पत्नी के ललाट प्रदेश से आरम्भ कर केशान्त तक (मन्त्र बोलते हुए) स्पर्श कराया जाता है। सूत्रमाल से सीमित कर दिया जाता है। गर्भ को सीमित वनाने के लिए ही ऐसा किया जाता है। जिस समय भर्त्ता यह कर्म्म करता रहता है, उस समय वीणागाथी लोग (सोमस्तुतिरूप) सामगान किया करते हैं। सोम इन्द्र को अत्यधिक प्रिय है। साथ ही ध्वनि-वाक् इन्द्र का प्रातिस्विकरूप है। जिस प्रकार एक क्रुद्ध-मत्त-व्यक्ति सर्वप्रिय पदार्थ के आतिथ्य से तुष्ट होता हुआ शान्त वन जाता है, एवमेव अपने सर्वप्रिय सोमधर्म्मों, तथा ध्वनिवाग्रूप स्वस्वरूप की प्राप्ति से उद्दीप्त इन्द्र शान्त हो जाता है।

जैसा कि, पूर्व में कहा गया था, केशपद्धति को सीमित वनाने से यह कर्म्म 'सीमन्त' कहलाता है। इस के अतिरिक्त, चूंकि इस संस्कार से स्वयं गर्भ भी सीमित वनता है, इस

---

१ शितामधुर्ककाश्मर्य्यैः शालितण्डूलचूर्णकम्।
उदुम्बरशिफाक्वाथः पीतो गर्भः सुरक्षितः॥ १॥
पतन्तं स्तम्भयेद् गर्भं कुलालकरमृत्तिका।
मधुच्छागीपयः पीता तथा श्वेतापराजिता॥ २॥

लिए भी इसे सीमन्त कहना अन्वर्थ बनता है। 'केशान् द्विधा करोति भर्त्ता' ही इस कर्म्म का मुख्य अङ्ग है, इन्द्रविद्युत् का शान्त बन जाना ही इस कर्म्म का मुख्य फल है। इसी महत्वपूर्ण संस्कार की संक्षिप्त इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं -

'अथ सीमन्तोन्नयनं- पुंसवनवत् प्रथमगर्भे मासे षष्ठे, अष्टमे वा। तिलमुद्गमिश्रं स्थालीपाकं श्रपयित्वा, प्रजापतेर्हुत्वा, पश्चादग्नेर्भद्रपीठे-उपविष्टाया, युग्मेन सटालुग्रप्सेनौदुम्बरेण, त्रिभिश्च दर्भपिञ्जूलैः, त्र्येण्या शलल्या, वीरतरशङ्कुना, पूर्णचात्रेण च सामन्तमूर्ध्वं विनयति- भूर्भुवः-स्वरिति। प्रतिमहाव्याहृतिभिर्वा। त्रिवृतमा बध्नाति —'अयमूर्जावतो वृक्ष उर्जीव फलिनी भव' इति। अथाह— वीणागाथिनौ राजानं (सोमं) सङ्गायेतां, योवाप्यन्यो वीरतर इति'।

—पारस्कर गृह्यसूत्र १।१५।

४—जातकर्म्म—

चौथा 'जातकर्म्म' नामक संस्कार है! जातकर्म्म से पहिले, तथा सीमन्तोन्नयन के अनन्तर शिशु-उत्पत्ति से पहिले सुखप्रसवार्थ एक 'सोष्यन्तीकर्म्म' और होता है। यह एक प्रकार का काम्य संस्कारकर्म्म है। यदि प्रसवकाल आ जाने पर भी गर्भ प्रसव नहीं होता, शूल अधिक उठते हैं, तो ऐसी दशा में यह संस्कार किया जाता है। काम्य-भाव के कारण ही इस संस्कार की षोडशसंस्कारों में गणना नहीं हुई है। मन्त्रपूत जल से गर्भिणी का प्रोक्षण करना ही इस कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता है। गोभिल के मतानुसार 'सोष्यन्तीहोम' किया जाता है[1]। अष्टम मास में किए जाने वाले सीमन्त संस्कार से आत्मलक्षण, विक्षेपण

---

१ "अथ सोष्यन्ती होमः। प्रतिष्ठिते वस्तौ परिस्तीर्य्याग्निमाज्याहुती जुहोति. 'या तिरश्ची' त्येतयर्चा, विपश्चित् पुच्छमभवदिति च। पुमानयं जनिष्यतेऽसौ नामेति नामधेयं गृह्णाति। यत्तद्गुह्यमेव भवति"। —गोभिलीयगृह्यसूत्र २।७

धर्म्मा इन्द्र की गति अवरुद्ध कर दी जाती है। यदि गति का आत्यन्तिक निरोध हो जाता है, तो इन्द्रदेवता समय आने पर भी गर्भ को नहीं छोड़ते। अतएव जिस मन्त्रजल से सोष्यन्तीकर्म्म होता है, उस मन्त्र में इन्द्र[१] से ही यह प्रार्थना की जाती है कि, आप गर्भ छोड़ दीजिए। इस मन्त्रशक्ति के प्रभाव से इन्द्र की विक्षेपण शक्ति प्रवल हो जाती है, एवं एवया-मरुत् के सहयोग से सुखपूर्वक प्रसव हो जाता है। पारस्कार ने अन्य मन्त्रों से ही यह कर्म्म सम्पन्न माना है। फलांश में दोनों अविरोधी हैं। पारस्करोक्तपद्धति निम्न लिखित है—

'सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति—'एजतु' दशमास्य' इति, 'प्राग्यस्यैत' इति।
अथावरापतनम्—अवैतु पृश्निशेवलं शुने जराय्वत्तवे।
`नैवमांसेन पीवरीं न कस्मिंश्च नायतमवजरायुपद्यताम्'।

—पा० गृ० १।१६।

सोष्यन्ती-कर्म्म के अनन्तर 'जातकर्म्म' संस्कार किया जाता है। उत्पन्न होने के अनन्तर चूंकि यह संस्कार होता है, अतवए इसे 'जातकर्म्म' कहा जाता है। कर्म्मभोक्ता

१—"सोष्यन्तीभिरभ्युक्षति—

यथा वातः पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्व्वतः।
एवा ते गर्भ एजतु सहावैतु जरायुणा ॥१॥
इन्द्रस्यायं व्रजस्कृतः सार्गलः सपरिश्रयः
तमिन्द्र निर्जहि गर्भेण सापरां सह॥२॥
यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति।
एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा ॥३॥
दशमासाञ्छशयानः कुमारो अधिमातरि।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि ॥४॥

२—एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह।
यथायं वायुरेजति यथा समुद्र एजति।
एवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह॥ —यजुः सं० ८।२८।

प्राणी गर्भाशय में ६ मास तक रह कर आज भौतिक-जगत् के संसर्ग में आया है। भौतिक प्रपञ्चों में रहते हुए, राग-द्वेषादि धर्म्मोपेत मानव समाज में जीवन बिताते हुए, समय-असमय पर आक्रमण करने वाले सुख-दुःख, व्याधि, शोकादि उच्चावचभावों का पात्र बनते हुए, सदसत् प्रवृत्तियों का अनुगमन करना पड़ता है। इस सब आक्रमणों को सहने के लिए पर्य्याप्त बल अपेक्षित है। और उस अपेक्षित बल की एकमात्र प्रतिष्ठा 'मेधा' है। मेधा ही बुद्धिबल की प्रतिष्ठा है, एवं बुद्धिबल ही आक्रमण-रक्षा का अन्यतम साधन है। बुद्धिघनसूर्य्य ही मेधा-गुणक विज्ञान का प्रदाता है। इस के अतिरिक्त दीर्घायु भी जीवनयात्रा की मूल प्रतिष्ठा मानी गई है। इस प्रकार जात शिशु को मेधाबल, आयुर्बल, दोनों नितान्त अपेक्षित हैं। एवं इन्हीं दोनों कर्म्मों की प्रधानतः 'जातकर्म्म' संज्ञा है। नालच्छेद से पहिले पहिले ही ये दोनों कर्म्म (पिता द्वारा) सम्पन्न होते हैं। 'सुवर्ण, मधु, घृत', ये तीनों द्रव्य मेधा, तथा बुद्धि के गुणों से युक्त हैं। सुवर्ण सौरतत्व की प्रतिकृति बनता हुआ बुद्धिगुणक है, मधु शुक्रवर्द्धक-शुक्ररक्षक बनता हुआ मेधाजनक है, एवं घृत तेजोगुण का प्रवर्त्तक है। सुवर्णखण्ड से मधु-घृत का (मन्त्रपूर्वक) उत्पन्न शिशु को प्राशन कराना (चटाना) ही मेधाजनन-कर्म्म है।

शारीर अग्नि ही प्रधानरूप से आयु का रक्षक है। अग्नि की सत्ता दक्षिणभाग में प्रधान रहती है। अतएव शिशु के दक्षिण कर्ण में, अथवा नाभिस्थान में मन्त्रप्रयोग से आयुर्बल डाला जाता है, एवं इसी को 'आयुष्य-कर्म्म' कहा गया है। अग्नि के अतिरिक्त सोम, ब्रह्म, देवता, ऋषि, पितर, विष्णु, दिशाएं, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, ऋतुएं, आदि सभी प्राकृतिक पर्व आयुर्धर्म्मों के रक्षक बनते हैं। अतएव तत्तद्देवताक तत्तन्मन्त्रों द्वारा तत्तद्बलों का आधान और किया जाता है, जैसा कि पद्धति-ग्रन्थों में विस्तार से प्रतिपादित है।

'रक्षाविधि' नामक अवान्तर संस्कार का भी इस जातकर्म्मसंस्कार में ही अन्तर्भाव मान लिया गया है। पाठकों को यह विदित होगा कि, कुल की वृद्ध स्त्रियां प्रसूति-गृह के द्वारपर, प्रसूता के शय्या के आस पास कुछ एक रक्षाद्रव्य स्थापित किया करतीं हैं। पत्र-विशेषों की बांदरवाल, सर्षप, तलवार, आदि का स्थापन, ये सब लोकाचार सार्वजनीन है। हमारे आयुर्वेद-शास्त्र ने भी इस रक्षाकर्म्म का पूर्ण समर्थन किया है। भगवान् चरक इस सम्बन्ध में आदेश करते हैं कि, प्रसूता के सिरहाने मन्त्रपूत जलघट रखना चाहिए, आदनी-खदिर-कर्कन्धु-पीलु-परुप-की टहनियों से प्रसूतिगृह को वेष्टित करना चाहिए, सूतिकागार के चारों ओर सर्षप-तण्डुलकण बखेरनें चाहिएं, द्वार देश में मुसल रखना चाहिए, वचा-कुष्ठ-क्षोम-हिङ्गु-सर्षप-लशुन आदि 'रक्षोघ्न' ओषधियां एक पोटली में बांधकर सूतिकागृह की

देहली के उत्तर भाग में लटकानी चाहिए। (देखिए, चरक सं० शा० २।४८)। मेधाजनन-आयुष्करणलक्षण इसी 'जातकर्म्म' संस्कार की इतिकर्त्तव्यता वतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

'जातस्य' कुमारस्याच्छिन्नायां नाड्यां 'मेधाजना'—युष्ये करोति। अनामिकया सुवर्णान्तर्हितया मधु-घृते प्राशयति। + + + +। अथायुष्यं करोति। नाभ्यां, दक्षिणे वा कर्णे जपति 'अग्निरायुष्मान्त्स वनस्पतिभिरायुष्माँस्तेन त्वाऽऽयुष्मन्तं करोमि।'

अग्नि वनस्पति (फलों) के द्वारा, सोम ओषधियों (अन्न) के द्वारा, ब्रह्म ब्राह्मणों के द्वारा, देवता अमृत (प्राण) के द्वारा, ऋषि व्रतों के द्वारा, पितर स्वधा के द्वारा, यज्ञपुरुष दक्षिणा के द्वारा, समुद्र नदियों के द्वारा स्व-स्व रूप (आयु) की रक्षा करने में समर्थ होते हैं। अतएव तत्तदायुसाधक विशिष्ट तत्तद्देवताओं से ही आयु की कामना की गई है।

५—*नामकरणम्*—

पांचवां 'नामकरण' संस्कार है। विज्ञानदृष्टि के अनुसार 'नाम' भाव आत्मा का एक 'ग्रह' माना गया है। इसी के आधार पर लोक-परलोक के यच्चयावत् व्यवहार सञ्चालित हैं। नाम ने ही वस्तुमात्र का परिग्रह करते हुए 'ग्रह' नाम धारण कर रक्खा है—(देखिए, शत० ब्रा० ४ का० ६।५, ग्रहोपनिषद्ब्राह्मण)। जिस आत्मा का संस्कार किया जा रहा है, उसके 'मन-प्राण-वाक्' ये तीन पर्व मानें गए हैं। इन से क्रमशः 'रूप-कर्म्म-नाम' का विकास

---

१ बृहदारण्यक में इस संस्कार के सम्बन्ध में विशेष विधान माना गया है, जैसा कि, निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

"जाते लौकिकमग्निमुपसमाधाय, स्वाङ्के पुत्रमाधाय, कांस्यपात्रे पृपदाज्यं कृत्वा स्रुवेण जुहोति—अस्मिन्त्सहस्रं पुष्या समेधमानः स्वे गृहे। अस्योपसन्द्यां च्छैत्सीत् प्रजया च पशुभिश्च स्वाहा। मयि प्राणांस्त्वयि मनसा जुहोमि स्वाहा। यत् कर्म्मणाऽत्यरीरिचं यद्वा न्यून-मिहा करम्। अग्निस्स्विष्टकृद् विद्वान् स्विष्टं सुहु करोतु नः स्वाहा"।

हुआ है। रूप, तथा कर्म्म, दोनों का संग्राहक नाम बना हुआ है। वस्तु के नाम-श्रवण मात्र से वस्तु का रूप, तथा कर्म्म, दोनों लक्ष्य में आ जाते हैं। रूप-कर्म्म की समष्टि 'अर्थ' है, नाम पद है, पद-और अर्थ का समुच्चय 'पदार्थ' है। अर्थ 'अर्थब्रह्म' है, पद (नाम) 'शब्दब्रह्म' एवं—'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' इस मीमांसा-सिद्धान्त के अनुसार दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध है। यही नहीं, सृष्टिकामुक प्रजापति नामों को (शब्द-तन्मात्रा को) मूल बना कर ही अर्थसृष्टि में समर्थ होते है। पहिले नाम बोलते हैं, अनन्तर तदनुरूप वस्तु का निर्म्माण करते है, जैसा कि 'स भूरिति व्याहरत्-पृथिव्यभवत्' इत्यादि श्रौत-वचन से स्पष्ट है। अव्याकृत अर्थसृष्टि की नाम, तथा तदनुरूप रूपों से ही व्याकृति (व्यक्तीभाव) हुई है, जैसा कि निम्न लिखित उपनिषच्छ्रुति से सिद्ध है—

'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्। तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत —असौ नामायं, इदं-रूपमिति। तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते-असौ नामायं इदं रूपमिति'।

—बृहदारण्यकोपनिषत् १।४।७।

नाम, एवं रूप से ही प्रजापति ने सम्पूर्ण पदार्थों को अपने आप में आहुत कर रक्खा है, एवं सब में आप स्वयं आहुत हो रहा है। 'ते हैते ब्रह्मणो महती अभ्वे, महती यक्षे' के अनुसार नाम-रूप उस ब्रह्म के बड़े भारी अभ्व, तथा यक्ष है। इन्हीं दोनों विभीषिकाओं के नियन्त्रण से सम्पूर्ण संसार नियन्त्रित है। 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः, दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः' के अनुसार सब नाम सब अर्थों के वाचक हैं। तात्पर्य्य इस सर्वभाव का यही है कि, सर्व-मूर्त्ति प्रजापति से उत्पन्न होने वाले, अंशरूप सब पदार्थ (प्रत्येक पदार्थ) सब धर्म्मों से (मात्रातारतम्य से) युक्त रहते हुए सर्वमूर्त्ति हैं। प्रत्येक पदार्थ में सब तत्त्व विद्यमान हैं। जिस पदार्थ मे जिस तत्त्व का जन्मतः प्राधान्य होता है, 'तद्वादन्याय' से उसे उसी नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए मनुष्य को ही लीजिए। मनुष्य में पुरुष-अश्व-गो-अवि-अज-पक्षी-ऋषि-पितर-गन्धर्व-असुर-आदि सभी प्राणों का प्रत्यंश विद्यमान है। अतएव इसे सभी नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। परन्तु चूंकि इस में पुरुष-प्राण का प्राधान्य है, अतएव इसे अन्य नामों से व्यवहृत न कर उसी नाम से व्यवहृत किया गया है। यदि कोई प्राण-वित प्राणविद्या के आधार पर इन प्राणों का परिवर्त्तन जानता है, तो वह प्राणों के विपर्य्यय से सब पदार्थों को सब पदार्थों के रूप में परिणत कर सकता

है, जैसा कि—'ब्रह्मविद्यया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते' इत्यादि शातपथी श्रुति से स्पष्ट है। सभी के सब नाम हैं, इसीलिए व्यवहार सौकर्य्य के लिए, एवं तत्तत् पदार्थों में जिन जिन प्राणों की प्रधानता है, उनके परिचय के लिए वैज्ञानिकों नें तत्तन्नामों का विधान आवश्यक समझा है। इन साङ्केतिक, अनुरूप नामों से तत्सम्बद्ध अर्थ का विकास हुआ करता है।

यदि आप किसी मनुष्य को अहर्निश 'पशु' नाम से पुकारते रहेंगे, तो निश्चयेन कालान्तर में वह मनुष्य पशुधर्म्मों से युक्त हो जायगा। नामानुसार अर्थ का परिग्रहण ही इस में मूल कारण बनता है। अतएव उसे उसी नाम से व्यवहृत करना चाहिए, जो कि प्राण जन्मतः इस में प्रधान है, एवं जिस का कि हमें विकास अपेक्षित है। क्योंकि नामग्रहण से तद्वाच्य अर्थ संगृहीत होता है। 'जैसा नाम, वैसा काम' यह अनुभव सार्वजनीन है। मान लीजिए, आप ने अपने पुत्र का ऐसा नाम रख दिया, जो नाम आप के शत्रु का भी है, तो परिणाम इस का यह होगा कि, इस नामोच्चारण से तत्सम्बद्ध शत्रु का आप के पुत्र में भी आरोप हो जायगा, एवं परिणामतः पुत्र की भी आप के प्रति शत्रुबुद्धि हो जायगी। इसी लिए शास्त्रकारों नें नाम के सम्बन्ध में विशेषता रखना आवश्यक समझा है। महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि इस सम्बन्ध में आदेश करते हैं कि—

दसम्यां पुत्रस्य—

याज्ञिकाः पठन्ति— दशम्युत्तरकालं पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्याद्-घोषवदाद्यन्तरन्तस्थमवृद्धं त्रिपुरुषानूकमनरिप्रतिष्ठितम्। तद्धि प्रतिष्ठिततमं भवति। द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा नाम कृतं कुर्य्यात्, न तद्धितम् इति'।

उत्पत्ति से आरम्भ कर दस दिन तो आशौच रहता है। अतएव 'दशम्यां पुत्रस्य' का तात्पर्य्य ग्यारहवें दिन से समझना चाहिए। इसी दिन 'नामकरण' संस्कार होना चाहिए। नाम कैसा रखना चाहिए, इस सम्बन्ध में अभिजन लोग कहते हैं—

आदौ घोषवदक्षरान् य-र-वा-न् मध्ये पुनःस्थापये-
दन्ते दीर्घविसर्ज्जनीयसहितं नाम प्रयत्नात् कृतम्॥

नाम के आदि का अक्षर घोष होना चाहिए, नाम के मध्य में य-र-ल-व आदि अक्षरों में से कोई अक्षर होना चाहिए, अन्त का अक्षर दीर्घ, तथा विसर्गान्त होना चाहिए। साथ ही नाम ऐसा होना चाहिए, जो गत तीन पीढ़ियों के पुरुषों के नामों से मिलता जुलता हो। वह नाम किसी शत्रु का न हो, यह भी ध्यान रखना चाहिए। ऐसा बड़ा लम्बा-चौड़ा नाम भी नहीं होना चाहिए, जिस के उच्चारण में ही कष्ट हो। दो अक्षर, अधिक से अधिक चार अक्षर का नाम हो। कृदन्त हो, तद्धितान्त न हो। ऐसा ही नाम प्रतिष्ठिततम कहा जायगा।

'हशः संवारा नादा घोषाश्च' के अनुसार 'हश्' प्रत्याहार में पठित—हकारादि वर्ण ही घोष हैं। इन में एक प्रकार का 'नाद' (गूंज) होता है, एवं नादभाव ओजस्वी माना गया है। 'बालचन्द्रः-हरिश्चन्द्रः-राधाचन्द्रः' इस प्रकार वंशपरम्परा में नामों में अनुरूपता रहनी चाहिए[1]। स्मार्त्त आदेश के अनुसार ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रों के तत्तत्-गुण-कर्म्मों की सूचना के लिए शर्म्मान्त[2]-वर्म्मान्त-गुप्तान्त-दासान्त नाम होनें चाहिएं।

स्मार्त्तग्रन्थों के अतिरिक्त स्वयं श्रुति-ग्रन्थों नें भी इस संस्कार का बड़ा महत्व माना है। "भूतपति संवत्सर ने उषा में रेतः सेक किया। एक संवत्सर मे यह सिक्त रेत 'कुमार' (अग्निविशेष) रूप में परिणत हो गया। उत्पन्न होते ही कुमार ने रोना आरम्भ कर दिया। प्रजापति ने पूँछा, कुमार! क्यों रोते हो? कुमार ने उत्तर दिया, हे प्रजापते! मेरा अभी कोई नाम नहीं है, अतएव मैं दोष-युक्त हूं, अनपहतपाप्मा हूँ। इस लिए आप मेरा नामकरण

---

१ भद्रः, देवः, भवः, इत्यादि। भवनाथः, नागदेवः, रुद्रदत्तः, देवदत्तः, इत्यादि। देवस्वामी, वसुशर्म्मा, जनार्दनः, वेदघोषः, पुरन्दरः, इन्द्रवर्म्मा, विष्णुगुप्तः, द्विजदासः, इत्यादि।

२ ततश्च नाम कुर्व्वीत पितैव दशमेऽहनि।
देवपूर्व्वं नराख्यं हि शर्म्मा-वर्म्मादि संयुतम्॥ १॥
शर्म्मेति ब्राह्मणस्योक्तं वर्म्मेति क्षत्रियस्य च।
गुप्त-दासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः॥ २॥
शर्म्मान्तं ब्राह्मणस्योक्तं वर्म्मान्तं क्षत्रियस्य च।
धनान्तञ्चैवं वैश्यस्य दासान्तञ्चान्त्यजन्मनः॥ ३॥
माङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात् क्षत्रियस्य बलान्वितम्।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्॥ ४॥

संस्कार कीजिए। प्रजापति ने इस के तत्तद्गुण-कर्म्मों के अनुसार क्रमशः रुद्र, सर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव, ईशान, ये आठ नाम रक्खे। एवं स्वयं 'कुमार' नाम नवाँ नाम रहा[1]।" नामकरण की महत्ता-बतलाती हुई श्रुति आगे जाकर कहती है—

'तस्मात् पुत्रस्य जातस्य नाम कुर्य्यात्। पाप्मानमेवास्य तदपहन्ति। अपि द्वितीयं तृतीयमभिपूर्वमेवास्य तत्पाप्मानमपहन्ति'।

—शत० ब्रा० ६।१।१।३।९।

इसी संस्कार की इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

'दशम्यामुत्थाप्य ब्राह्मणान् भोजयित्वा पिता नाम करोति—द्व्यक्षरं, चतुरक्षरं वा, घोषवदाद्यन्तरन्तस्थं, दीर्घाभिनिष्ठानं, कृतं कुर्य्यान्न तद्धितम्। अयुजाक्षरमाकारान्तं स्त्रियै तद्धितम्। शर्म्म ब्राह्मस्य, वर्म्म क्षत्रियस्य, गुप्तेति वैश्यस्य'।

—पा० गृ० सू० १।१७

स्त्रियों के नामों में सन्ध्यक्षर न होनें चाहिएं। साथ ही नक्षत्र, नदी, वृक्ष, पक्षी, सर्प, आदि के नाम भी नहीं रखनें चाहिएं। क्योंकि मनु ने इन नाम वाली स्त्रियों के साथ विवाह करने का निषेध किया है[2]। रोहिणी-चित्रा-आदि नाक्षत्रिक नाम, सरयू-गङ्गा-कावेरी-

---

१ "तान्येतान्यष्टावग्निरूपाणि, कुमारो नवमः। सैवाग्नेस्त्रिवृत्ता" अनुसार ये आठों एक ही अग्नि के आठ रूप हैं। यही पौराणिक अष्टमूर्त्ति शिव हैं। जिन की शिवभक्तिपरायण, भक्तश्रेष्ठ गन्धर्वराज (पुष्पदन्त) ने अपने सुप्रसिद्ध महिम्नस्तोत्र में—"त्वमर्कस्त्वं सोमः०" इत्यादि रूप से स्तुति की है।

२ नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्॥ १॥
अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम्॥ २॥

—मनुः ३।९-१०।

आदि नदी नाम, चम्पा-चमेली-गुलाब-लाजवन्ती-आदि वृक्षनाम, कोयल-चक्रवाकी-(चकवी), आदि पक्षी नाम स्त्रियों के लिए शुभ नहीं होते।

प्रकरण का तात्पर्य्यार्थ यही है कि, 'नाम' भाव अर्थ का परिचायक, तथा उत्तेजक है। अतः यथाशास्त्र वर्णानुरूप नामसंस्कार प्रत्येक दशा में अपेक्षित हैं। अनुरूप नाम ही स्वरूप-कर्म्मों का उत्तेजक बनता है, एवं यही इस कर्म्म की प्रधान उपपत्ति है।--

६—निष्क्रमणम्—

उत्पत्तिकाल से आरम्भ कर पूरे तीन मास तक शिशु को घर से नहीं निकालना चाहिए, बाह्यसंसर्ग में नहीं डालना चाहिए। क्योंकि यह अवस्था अतिशयरूप से सुकुमार होती है। शिशु के अङ्ग-प्रत्यङ्ग सर्वथा पिव्दमान (शिथिल) रहते हैं। बाह्यसंसर्ग से इन में व्याधि उदय की सम्भावना है। यही क्यों, इन तीन महीनों मे तो बच्चे को शीत-वात-आतप आदि बाह्य प्राकृतिक आवरणों से भी बचाते रहना चाहिए। राजपूताना प्रान्त की स्त्रियाँ ऐसे शिशु को 'लवा बालक' कहती हैं, एवं तीन मास तक इसे सर्वात्मना बाह्य आवरणों से बचातीं हैं। इस के अनन्तर चतुर्थमास में शुभ तिथि-वार-नक्षत्र देख कर ही इसे सर्वप्रथम बाहर निकाला जाता है, एवं यही इस का छठा **'निष्क्रमण संस्कार'** है। सुकुमार बच्चे पर आन्तरीक्ष्य, उभयतः परिच्छिन्न, अमूल, वायव्य नाष्ट्रा-राक्षस प्राणों का बहुत शीघ्र आक्रमण हो जाता है। इस आक्रमण से दिव्य-बल दूषित हो जाता है। स्वयं आयुर्वेद ने भी भिन्न भिन्न महीनों में भिन्न भिन्न भूत-बाधाओं का आक्रमण, एवं इन के विरोध का उपाय बतलाया है। बाह्यसंसर्ग में आने पर दृष्टि द्वारा शिशु में गुण-दोषाधान स्वभाविक है। इस दृष्टिदोष से, तथा प्राकृतिक आसुर आक्रमण से बचाने के लिए घर में जैसे **'रक्षाविधि'** नामक एक कर्म्म किया जाता है, वैसे ही बाहर निकलने पर भी रक्षास्थानीय निष्क्रमण संस्कार करना आवश्यक हो जाता है। सूर्य्यभगवान् आत्मा की प्रतिष्ठा हैं, आसुर प्राण के विघातक हैं, चक्षुरिन्द्रिय को दोषरहित बनाने वाले हैं। इन्हीं सौर-दिव्य भावों के सम्बन्ध के लिए इस संस्कार में मन्त्र बोलते हुए बच्चे को सब से पहिले सूर्य्य के ही दर्शन कराए जाते हैं, एवं यही इस संस्कार की संक्षिप्त उपपत्ति है। इसी संस्कार की आवृत् (पद्धति) बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं।

'चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका-सूर्य्यमुदीक्षयति—'तच्चक्षु, रिति'[1]

—पा० गृ० सू० १।१७।५-६।

७—*अन्नप्राशनम्*—

गर्भाशय में प्रतिष्ठित गर्भ का पालन-पोषण मातृभुक्त अन्न-रस से हुआ। उत्पन्न हुए बाद माता के स्तन्य से इस की प्राण रक्षा होगी, परन्तु कब तक? अन्ततोगत्वा इसे उसी अन्नब्रह्म की उपासना करनी पड़ेगी, जो अन्नब्रह्म जीवन का अन्यतम साधन बनता है। उत्पत्ति से छठे महीने में, अष्टम में, नवम में, दशम में, बारहवें मास में, अथवा वर्षान्त में यथारुचि अन्नप्राशन संस्कार कराया जा सकता है। इस रुचि का मूल माता, तथा बालक के स्वास्थ्य पर निर्भर है। यदि मातृदुग्ध से वर्ष भर बच्चे की क्षुधा शान्त हो सकती है, तब तो वर्षान्त में ही इसे अन्नानुगामी बनाना चाहिए। अन्यथा जैसी परिस्थिति हो, ६-७-८-६-१० किसी महीने में संस्कार कर देना चाहिए। एवं कन्या का संस्कार पांचवें मास में, अथवा सातवें मास में कराना चाहिए। जैसा कि स्मृतिकार कहते हैं—

जन्मतो मासि षष्ठे स्यात् सौरेणान्नशनं परम्।
तदभावेऽष्टमे मासि नवमे दशमेऽपि वा॥ १॥
द्वादशे वाऽपि कुर्वीत प्रथमान्नाशनं परम्।
सम्वत्सरे वा सम्पूर्णे केचिदिच्छन्ति पण्डिताः॥ २॥
षष्ठे वाप्यष्टमे वाऽपि पुंसां, स्त्रीणां तु पञ्चमे।
सप्तमे मासि वा कार्यं नवान्नप्राशनं शुभम्॥ ३॥

—नारदः

---

१ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।
पश्येमः शरदः शतं, जीवेम शरदः शतं, शृणुयाम शरदः शतम्।
प्रब्रवाम शरदः शतं, अदीनाः स्याम शरदः शतं, भूयश्च शरदः शतात्॥"

—यजुः सं० ३६।२६

'वर्णव्यवस्थाविज्ञान' में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, वर्णस्वरूपरक्षा का बहुत कुछ श्रेय अन्नमर्य्यादा पर अवलम्बित है। अन्नशुद्धि, प्रकृत्यनुकूल अन्न ही वर्णरक्षक, तथा वर्ण-विकासक बनता है। अतएव तत्तद्वर्णानुरूप तत्तद्विशेष अन्नों का ही संस्कार कराना उचित है। अनुरूप अन्न-संग्रह कर, यथाविधि उनका परिपाक कर सुवर्ण-रजतादि खण्डों के सहारे मन्त्रपूर्वक षष्ठम मास में बच्चे को अन्नप्राशन कराना ही 'अन्नप्राशन' संस्कार है। मन्त्रबल से होने वाला यह प्राथमिक अन्नसंस्कार इस में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित हो जाता है। एवं इसी संस्कार के आकर्षण से आगे जाकर यह अनुरूप अन्नप्राशनों में ही प्रवृत्त रहता है। विपरीत, वर्णविरोधी, असदन्नपरिग्रह में कभी प्रवृत्ति नहीं होती। सभी अन्नों में सभी गुण नहीं होते। जैसा कि वर्णविज्ञान प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है। अतएव जिस वर्ण के लिए जो गुण अपेक्षित हैं, तद्गुणक अन्न से ही यह संस्कार होना चाहिए।

इस नित्यकर्म्म के अतिरिक्त सूत्रकार ने कुछ एक काम्य अन्नों के प्राशन का भी विधान किया है, जिन का कि अनुगमन आज के सम्प्रदाय में घृणास्पद समझा जाता है। जिस पिता की यह कामना हो कि, मेरा पुत्र अतिशय वाग्मी बने, उसे 'भारद्वाजी' (इसी नाम से प्रसिद्ध चिड़िया) के मांस का (अन्नमिश्रणरूप से) प्राशन कराना चाहिए। अन्नों का पूर्णभोक्ता बनाने की कामना से 'कपिञ्जल' नामक पक्षी का, शीघ्रगामी बनाने की कामना से 'मत्स्य' का, दीर्घायु बनाने की कामना से 'कृकणहारिका' का, ब्रह्मवर्चस्वी बनाने की कामना से 'आटि' (जलचरपक्षी) का मांस उपयोग में लाया जा सकता है। आश्वलायन[1] ने अज (अजमांस) को अन्नाद्यकामसमर्थक माना है, एवं तित्तिरमांस को ब्रह्मवर्चसकाम समर्थक माना है। इसी संस्कार की इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

'षष्ठे मासेऽन्नप्राशनम्। स्थालीपाकं श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुती जुहोति—'देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति। सा नो मन्द्रेष-मूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु स्वाहा' इति। 'वाजो नो अद्य' इति च

---

१ "आजमन्नाद्यकामः, तैत्तिरं ब्रह्मवर्चसकामः"। (आ० गृ० सू० १।१६।२-३)।

द्वितीयाम् ।' स्थालीपाकस्य जुहोति–प्राणेनान्नमशीय स्वाहा, अपानेन गन्धानशीय स्वाहा, चक्षुषा रूपाण्यशीय स्वाहा, श्रोत्रेण यशोऽशीय स्वाहा। प्राशनान्ते सर्वान् रसान्त्सर्वमन्नमेकत उद्धृत्य, अथैनं प्राशयेत्। तूष्णीं, हन्तेति वा। 'हन्तकारं मनुष्याः' इति श्रुतेः। भारद्वाज्या मांसेन वाक्प्रसारकामस्य, कपिञ्जलमांसेनान्नाद्यकामस्य, मत्स्यैर्जवनकामस्य, कृकषाया आयुष्कामस्य, आट्या ब्रह्मवर्चसकामस्य, सर्वैः सर्वकामस्य। अन्नपर्य्याय वा, ततो ब्राह्मणभोजनमन्नपर्य्याय वा, ततो ब्राह्मणभोजनम्'

—पा० गृ० सू० १।१९ कं०।

८—चूड़ाकरणम्—

जिसे लोकभाषा में 'केशगुच्छ' कहा जाता है, प्रान्तीय भाषा में जिसे 'लटूरया' कहा जाता है, जिस के लिए 'केशपाशी'[२]–'जूटिका' (जूड़ा) आदि नाम व्यवहृत हुए हैं, वही शिरःकेशसमष्टि 'चूड़ा' नाम से प्रसिद्ध है। 'शिखा' चूंकि इसी का अंश है, अतएव शिखा भी चूड़ा कहलाने लगी है। इस चूड़ा का संस्कार 'चूड़ाकरण संस्कार' है। केशों का मुण्डन ही इस कर्म्म का प्रधान अङ्ग है, एवं दिव्यभाव का विकास ही इस का प्रधान फल है।

केश-लोम अग्नि का मल माना गया है। शारीर वैश्वानर अग्नि अपने जाठराग्नि रूप से चतुर्विध अन्न का परिपाक किया करता है। इस परिपाक से रस-मल का विशकलन (छांट) होता है। प्रधान मल भाग तो अधोद्वार से निकल जाता है, एवं उच्छिष्ट किट्ट भाग रोमकूपों से बाहर निकला करता है। चक्षुमल (गीड), लाला (लार), स्वेद (पसीना),

---

१—वाजो न अद्य प्रसुवति दानं वाजो देवाँ ऋतुभिः कल्पयाति।
वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयम्॥ —यजुः सं० १८।३३।

२—"शिखा, चूड़ा, केशपाशी, जूटिका, जुटिकेत्यपि।
शिरोमध्यबद्धचूडे भवेदेतत्तु पञ्चकम्" ॥ —शब्दरत्नावली।

नासामल, कर्णमल, केश, लोम, नख, आदि शारीराग्नि के ही किट्ट मानें गए हैं। इन में केश लोम क्रमशः ओषधि[१]-वनस्पतियों के मल मानें गए हैं। अन्न ओषधि-वनस्पति भेद से दो भागों में विभक्त है। सोम प्रधान जौ-गेंहूं—आदि अन्न 'ओषधि' नाम से, एवं अग्निप्रधान आम्र, केल आदि फल 'वनस्पति' नाम से प्रसिद्ध हैं। इस के अतिरिक्त प्रत्येक ओषधि, तथा प्रत्येक वनस्पति में भी (सोमाग्नि के समन्वय से) दोनों के धर्म्म रहते हैं। अन्तर केवल यही है कि, ओषधिरूप अन्न में सोमप्राधान्य है, एवं वनस्पतिलक्षण अन्न में अग्नि-प्राधान्य है। ओषधियों का सौम्यमल लोमरूप में परिणत होता है, एवं वनस्पतियों का आग्नेय मल केशरूप में परिणत होता है। दुग्ध रुधिरात्मक दोनों मल रोम कूपों से बाहर निकलते हैं। आन्तरिक्ष्य रूक्षवायु (रुद्रवायु) के आक्रमण से रोमकूपों पर आया हुआ यह उभय विध मल घनरूप में परिणत हो जाता है। चूंकि यह मल भाग विशुद्ध शारीराग्नि से निवारित है, बाहर फेंका हुआ है, अतएव इसे 'वार' कहा जाता है। 'वार' शब्द 'निवारित' भाव का ही सूचक है। वार ही आगे जाकर 'वाल' बनता हुआ आज 'वाल' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है।

अग्निविष्ठा ही वाल (केश) है, अतएव इन में अग्निनिरोध की बड़ी शक्ति मानी गई है। जिस के शरीर में जितनें अधिक वाल होंगे, उसे शीत उतना ही कम लगेगा। कारण यही है कि, मलभागावरण की ओर अग्नि नहीं जायगा। शरीर-ताप यथामात्रा से सुरक्षित बना रहेगा। वालों का कम्वल वस्तुगत्या सर्वथा शीत है। फिर भी शीतनिवृत्ति के लिए इसे ओढ़ा जाता है। कारण वही है। वालमयकम्वलवेष्टन से अग्नि-निर्गमन अवरुद्ध हो जाता है। अग्नि की वहिर्मुख वृत्ति अन्तर्मुख बन जाती है। यही गुण 'भस्म' में माना गया है। क्योंकि भस्म भी अग्नि का ही मल है। इसे मल-लेने से भी अग्नि का निकलना रुक जाता है, शीत नहीं सताता। जनन-मरणाशौचों से उत्पन्न अशुचि भाव का केशों के साथ (मल सजातीयता से) घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है। अतएव आशौच-निवृत्तिकाल में मुण्डन कराना आवश्यक समझा गया है। लोमभाग सौम्य ओषधियों से सम्बन्ध रखते हुए,

---

१—"यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति, वातं प्राण, श्चक्षुरादित्यं, मनश्चन्द्रं, दिशः श्रोत्रं, पृथिवीं शरीरं, आकाशमात्मा, "ओषधीर्लोमानि, वनस्पतीन् केशा" अप्सु लोहितं च-रेतश्च निधीयते" —बृहदारण्यकोपनिषत् ३।२।१३।

स्वसोम गुण के प्रभाव से अशुचि-संसर्ग से बचे रहते हैं। अतः इन का मुण्डन नहीं होता। इन के अतिरिक्त भंवारे, कर्णकेश, उपस्थ, आदि भी वैश्वानर अग्नि के निर्गमन द्वारों पर रहते हुए अशुचिभाव से बचे रहते हैं। अतएव इन का भी मुण्डन नहीं होता। मलभाग से प्रधानतया ज्ञानमूलक शिरोयन्त्र पर ही आक्रमण होता है। अतः मुण्डन कर्म्म में इसी के मुण्डन को प्रधान माना गया है। इन्द्रप्राणरक्षार्थ शिखा को सुरक्षित रखना मुण्डन में भी अपवाद ही माना गया है।

उक्त विवेचन से प्रकृत में हमें केवल यही बतलाना है कि, गर्भकाल से लेकर अद्यावधि बढ़ते-चले आने वाले इन केशों का अवश्य ही वपन होना चाहिए। आगे तो यथाकाल क्षौर-कर्म्म होता ही रहेगा, परन्तु इस आरम्भ के कर्म्म का इस लिए विशेष महत्त्व माना गया है कि, इस में केश अन्तर्य्याम बन जाते हैं। इनके प्रथम-प्रथम काटने से शरीराग्नि द्वार पाकर अतिशय मात्रा से निकल कर बालक के प्राण को, आयुःसूत्र को शिथिल कर सकता है। इस दोष को हटाने के लिए मन्त्रबलपूर्वक ही यह प्रथम-क्षौर-संस्कार किया जाता है। पद्धति-प्रकरणों में पढ़े हुए मन्त्र ही यह सिद्ध कर रहे हैं कि, इस संस्कार का प्रधान फल अग्नि की रक्षा करना ही है।

जन्म से एकवर्ष की समाप्ति पर, अथवा तीसरे वर्ष से पहिले यह संस्कार होता है। आगे जाकर कुलधर्म्म को प्रधानता देते हुए सूत्रकारों नें ४-५-६-७ वें वर्षों को भी ग्राह्य मान लिया है। उपनयनसंस्कारसमय भी इस सम्बन्ध में विकल्प समय मान लिया गया है। कारण इस का यही है कि, जब तक द्विजातिवर्ग का उपनयन संस्कार नहीं हो जाता, तब तक यह शूद्रसधर्म्मा बना रहता है। अतएव तब तक के लिए यज्ञादि दिव्यकर्म्मों में शूद्रवत् यह अनधिकृत माना गया है[1]। यथाकुलाचार ही यह चौलसंस्कार होता है[2]। जिस गोत्रपरम्परा में, जिस ऋषि-वंशपरम्परा में शिखादिधारण की जो पद्धति प्रचलित है, उसी के अनुसार चूड़ा-संस्कार करना चाहिए। किस वंशपरम्परा में कैसी पद्धति प्रचलित

१—प्रागुपनयनात् कामचार-वाद-भक्षाः। नित्यं मद्यं ब्राह्मणोऽनुपनीतोऽपि वर्जयेत्॥
—गौतमः।

२—तत्र कालस्तावत्-प्रथमे, द्वितीये, तृतीये, पञ्चमे, सप्तमे वा वर्षे गततृतीयभागे, अगतत्रिभागे वा, उपनीता सह वा, यथाकुलाचारं चौलं कार्य्यम्" —गदाधरः।

है, यह पद्धतिग्रन्थों में विस्तार से प्रतिपादित है, जैसा कि निम्न लिखित कुछ एक निद-र्शनों से स्पष्ट है—

तत्र केशानां शेषकरणं शिखारक्षणं स्थापनं यथामङ्गलं, यस्य कुले यथा प्रसिद्धं, तस्य तथैव शिखास्थापनं कार्यम्। अत्र कारिकायां—

केशशेषं ततः कुर्य्याद्यस्मिन् गोत्रे यथोचितम्।
वासिष्ठा दक्षिणे भागे, उभयत्रापि कश्यपाः॥ १॥
शिखां कुर्वन्त्यङ्गिरसः शिखाभिः पञ्चभिर्युताः।
परितः केशपङ्क्त्या वा मुण्डाश्च भगवो मताः॥ २॥
कुर्वन्त्यन्ये शिखामत्र मङ्गलार्थमिह क्वचित्॥ ३॥

—कारिका।

'दक्षिणतः कम्बुज-वसिष्ठानां, उभयतोऽत्रिकश्यपानां, मुण्डा भृगवः, पञ्चचूडा अङ्गिरसः, वाजसनेयिनामेका, मङ्गलार्थं शिखिनोऽन्यः' इति॥

—लौगाक्षिः

शुभ नक्षत्र-तिथि-मुहूर्त्त में बालक को स्नान करा के, स्वच्छ वस्त्र पहिना के, माता अपने अङ्क (गोद) में लेकर अग्नि के पश्चिम भाग में बैठ जाती है। ठण्ढे जल में गरम जल डालकर, इस अनुष्णाशीत जल में नवनीत-पिण्ड, अथवा घृत-पिण्ड, अथवा दही डालकर, इस पानी से बच्चे के केश आर्द्र किए जाते हैं। सर्वप्रथम दक्षिणभाग के गोदान को (केश-संघात को) निम्न लिखित मन्त्र बोलता हुआ पिता आर्द्र करता है—

'सवित्रा प्रसूता दैव्या आप उन्दन्तु ते तनूं दीर्घायुत्वाय वर्चसे'।

अनन्तर त्रेणीशलली (तीन सुफेद धारवाली सेह) के शूल से आर्द्र केशों को कंघे की तरह सुलझाता है। त्रेणीशलली के सम्बन्ध का कारण सीमन्त संस्कार में बतला दिया गया है। इसी क्रम से मन्त्रादि प्रयोग द्वारा संस्कार कर सर्वान्त में नापित द्वारा केशवपन होता है।

एवं इस चूड़ासंस्कार की यही संक्षिप्त उपपत्ति है। इसी संस्कार की इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

'साम्वत्सरिकस्य चूड़ाकरणम्। तृतीये वाऽप्रतिहते। ब्राह्मणान् भोजयित्वा माता कुमारमादाय, आप्लाव्य, आहते वाससी परिधाप्य, अङ्के आदाय, पश्चादग्नेरुपविशति०' (इत्यादि)

—पा० गृ० सू० २।१

इस प्रकार गर्भाधानादि चूडाकरणान्त आठ संस्कार यथासमय, यथाशास्त्र किए जाते हैं। इन आठ संस्कारों में से आरम्भ के 'गर्भाधान-पुंसवन-सीमन्त' ये तीन संस्कार गर्भदशा में होते हैं, अतएव इन्हें 'अन्तर्गर्भसंस्कार' कहा जाता है। एवं आगे के 'जातकर्म-नामकरण-निष्क्रमण-अन्नप्राशन-चूड़ाकरण' ये पांच संस्कार उत्पत्ति के अनन्तर होते हैं, अतएव इन्हे 'बहिर्गर्भसंस्कार' कहा जाता है, एवं इन आठों शोधक संस्कारों की समष्टि ही 'गर्भसंस्कार' नाम से प्रसिद्ध है। उपनयन संस्कार से पहिले पहिले इन आठों की इतिकर्त्तव्यता समाप्त हो जाती है। यदि किसी मकान को एकदम साफ सुथरा करना होता है, तो उस मे बार बार बुहारी दी जाती है, कपडे से झाड़ा जाता है। एवं इन अनेक संस्कारों से ही पूरी सफाई होती है। यही पौनः-पुन्य इन संस्कारों के सम्बन्ध में समझिए। गर्भाशय के दोषों से, मल-मूत्र-लाला-कफादि शारीर दोषों से गर्भ आक्रान्त रहता है। इन अनेक दोषों को हटाने के लिए अनेक बार व्युदूहन सस्कार अपेक्षित है। रेतोयुक्त गर्भ पाच उपघातों (दोषों) से युक्त रहता है। इन पाचों का जातकर्म्मादि संस्कारों से निराकरण किया जाता है। ब्रह्मभाव-प्रतिष्ठा, एवं प्राकृतिक दोष मार्जन के लिए गर्भाधान संस्कार होता है, पुंसवन से पुम्भाव की प्रतिष्ठा की जाती है, 'फलस्नपन' (सीमन्त) से दम्पती-कृत दोष हटाए जाते हैं। आठों गर्भसंस्कारों की यही संक्षिप्त उपपत्ति बतलाते हुए धर्म्माचार्य्य कहते हैं—

'गर्भाधानवदुपेतो ब्रह्मगर्भं सन्दधाति, पुंसवनात् पुंसीकरोति, फलस्नपनात् मातापितृजं पाप्मानमपोहति। रेतो-रक्तगर्भोपघातः पञ्चगुणः। जातकर्म्मणा

प्रथममपोहति, नामकरणेन द्वितीयं, प्राशनेन तृतीयं, चूड़ाकरणेन चतुर्थं, स्नानेन पञ्चमम्। एतैरष्टभिः संस्कारैर्गर्भोपघातात् पूतो भवति'

—हारीतः

इन आठ गर्भसंस्कारों से उत्पन्न शिशु शुक्र-शोणितादि उपघातों से निर्मुक्त होता हुआ पूत बन जाता है। अनन्तर होने वाले उपनयनादि अग्निपरिग्रहान्त आठ 'अनुव्रत-'संस्कार' तबतक सर्वथा व्यर्थ रहते हैं, जबतक कि गर्भसंस्कार नहीं कर लिए जाते। जिस प्रकार चिक्कट हटाए बिना वस्त्र पर रंग-रूप अतिशय-संस्कार का आधान नहीं हो सकता, एवमेव जबतक दोपमार्जक गर्भाधानादि आठ संस्कार नहीं कर लिए जाते, तबतक उत्पन्न द्विजाति अतिशयाधाक अनुव्रतसंस्कारों के अतिशयाधान से युक्त नहीं हो सकता। दोप हटाना एकमात्र गर्भसंस्कारों का ही धर्म्म है, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है—

१—एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम् ॥

—याज्ञवल्क्यः।

२—चित्रकर्म्म यथाऽनेकैरागैरुन्मील्यते शनैः।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत् स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः ॥

—अङ्गिराः।

३—गार्भैर्होमैर्जातकर्म्मचूड़ामौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥

—मनुः।

इन आठों संस्कारों के अतिरिक्त 'सोष्यन्तीकर्म्म (जिस का जातकर्म्मसंस्कार के उपक्रम में दिग्दर्शन कराया जा चुका है), मौञ्जीबन्धन, खट्वारोहण,[1] दुग्धपान,

---

१—खट्वारोहः— खट्वारोहस्तु कर्त्तव्यो दशमे, द्वादशेऽपि वा।
पोडशे दिवसेवाऽपि द्वात्रिंशे दिवसेऽपि वा ॥ —प्रयोगपारिजातः।

ताम्बूलभक्षण, चन्द्रदर्शन, उपवेशन' आदि अवान्तर संस्कार यथासमय यथाशास्त्र और किए जाते हैं। इस प्रकार वैज्ञानिक महर्षियों नें प्राकृतिक तत्त्वों का साक्षात्कार कर द्विजाति-वर्ग के ब्रह्मत्व-क्षत्रियत्वादि विकास के लिए ही इन संस्कारों का विधान किया है। प्रकृति का कोई भी पर्व विषम बनता हुआ अहितकर न बन जाय, एकमात्र इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए, हमारे यच्चयावत् कर्म्म प्रकृति के अनुकूल रहते हुए अभ्युदय-निःश्रेयस के कारण बने रहें, इस लक्ष्य की पूर्त्ति के लिए चिरकाल की परीक्षा के अनन्तर प्रकृतिदेवी के सुसूक्ष्म-गुप्ततम कारणों के आधार पर विहित, महामहोपकारक इन संस्कारों को भुला कर हमने क्या क्या

आन्दोलाशयनम्— करत्रये वैष्णवरेवतीषु दितिद्वये चाश्विनकध्रुवेषु।
(पालना) कुर्य्याच्छिशूनां नृपतेश्च तद्वत्-आन्दोलनं वै सुखिनो भवन्ति॥

—ज्योतिर्निबन्धः।

दुग्धपानम्— एकत्रिंशद्दिने चैव पयः शङ्खेन पाययेत्।
अन्नप्राशननक्षत्रे दिवसोदयराशिषु॥ —नृसिंहः।

ताम्बूलभक्षणम्— सार्द्धमासद्वये दद्यात्ताम्बूलं प्रथमं शिशोः।
कर्पूरादिकसंयुक्तं विलासाय हिताय च॥ १॥
मूलार्कचित्रकरतिष्यहरीन्द्रभेषु पौष्णे तथा मृगशिरोऽदितिवासरेषु।
अर्केन्दुजीवभृगुबोधनवासरेषु ताम्बूलभक्षणविधिर्मुनिभिः प्रदिष्टः॥

—चण्डेश्वरः।

चन्द्रदर्शनम्— कुमारस्यास्मिन्नेव मासे शुभदिने रात्रौ चन्द्रदर्शनं कारयेत्—
चन्द्रार्कयोर्दिगीशानां दिशां च वरुणस्य च।
निक्षेपार्थमिदं दद्मि ते त्वां रक्षन्तु सर्वदा॥ १॥
अप्रमत्तं प्रमत्तं वा दिवारात्रमथापि वा।
रक्षन्तु सततं सर्वे देवाः शक्रपुरोगमाः॥ २॥ —गदाधरः।

उपवेशनम्— पञ्चमे च तथा मासे भूमौ तमुपवेशयेत्।
तत्र सर्वे ग्रहाः शस्ता भौमोऽप्यत्र विशेषतः॥ १॥
रक्षैनं वसुधे देवि! सदा सर्वगतं शुभे!
आयुः प्रमाणं निखिलं निक्षिपस्व हरिप्रिये॥ २॥

विपत्तियाँ न सहीं, किन किन पर-भर्त्सनाओं से हमें पदद्‌लित न होना पड़ा, यह स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। सचमुच हमारे जैसा भी कोई मन्दभागी, तथा कृतघ्नी न होगा कि, अभ्युदय-निःश्रेयस के सर्वोत्तम साधनों के विद्यमान रहते हुए भी हम अवैज्ञानिकों की भूत-लिप्सा के अनुगामी बनते हुए पदे पदे परमुखापेक्षी बन रहे हैं, एवं अपनी इस मौलिक निधि की रक्षा करना तो दूर रहा, अपितु अहर्निश इन वैज्ञानिक आदेशों की निन्दा से अपने आप्त-पुरुषों के प्रति कृतघ्नता प्रकट करते हुए प्रायश्चित्त के भागी बन रहे हैं।

कहना न होगा कि, उक्त आठों गर्भसंस्कार, तथा सौष्यन्ती कर्म्मादि इतर गौण संस्कार आज सर्वथा विलुप्त हैं। जब स्मार्त्त संस्कारों की ही यह दुर्दशा है, तो श्रौतसंस्कारों के सम्बन्ध में कुछ न कहना ही अच्छा है। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्त, तीनों संस्कार एकान्ततः विलुप्त हैं। हां, सीमन्त संस्कार यत्र तत्र विकृत रूप से प्रचलित है। इस संस्कार के साथ ही गर्भिणी की दोहद्-कामना की पूर्त्ति के लिए गर्भिणी के पितृकुल से अनेक प्रकार की भोजन-सामग्री आया करती है। यह मानी हुई बात है कि, गर्भिणी को जिस पदार्थ की इच्छा होती है, यदि उस समय उसे वह पदार्थ नहीं मिलता है, तो उत्पन्न प्राणी यावज्जीवन उस पदार्थ की तृष्णा में फँसा रहता है। अतएव शास्त्रकारों नें दोहद्-कामना पूर्त्ति को आवश्यक माना है। इसी लक्ष्य से सीमन्त संस्कार के अवसर पर पितृकुल से भी विविध सामग्रियाँ आतीं हैं। परन्तु आज इस संस्कार की इतिकर्त्तव्यता प्रायः इसी सामग्री पर विश्रान्त है। जातकर्म्म भी अस्तप्राय है। रक्षाविधि की भी केवल नकल ही रह गई है। भूतबाधोपशमन के लिए ही रक्षाविधि विहित है। इसका आसन आज बांदरवाल, स्वस्तिक (साथिया), प्रसूत्यनन्तर माता के सिरहाने तलवार रखना, आदि बाह्यकर्म्मों नें हीं ग्रहण कर लिया है। नामकरण संस्कार की भी यही दुर्दशा है। केवल राशि के अनुसार, सो भी नाममात्र के लिए कुलपुरोहित 'यदृच्छा' नाम रख जाते हैं। 'द्व्यक्षरं, वा चतुरक्षरं नाम कुर्य्यात्-कृतं, न तद्धितम्' इत्यादि नियम स्मृतिगर्भ में विलीन हैं। सूर्य्यावेक्षण भी विस्मृत हो चुका है। यही दशा अन्नप्राशन संस्कार की है। कहीं कहीं विकृत रूप से यह प्रचलित है। कुलदेवता के पूजन के समय रजतखण्डादि से शिशु को पहिली बार क्षीरादि चटाने मात्र से ही कृतकृत्यता मान ली जाती है। इस प्रकार गर्भसंस्कारों में से कहने मात्र के लिए दो-तीन संस्कार, सो भी प्राच्यसंस्कृति के अनुयायी सनातनधर्म्मियों के घरों में यथाकथंचित प्रचलित हैं। नवीन समाज तो इन की प्रतिकृति से भी वञ्चित है। इधर एक 'समाज' ने अपनी कल्पना के आधार पर कल्पित 'षोडशसंस्कार-पद्धति' के द्वारा इन को और भी

अधिक महत्व शून्य, तथा प्रत्यवाय के कारण बना दिया है। भगवान् ही जानें, हम कब अपना स्वरूप समझेंगे, कब इन उपादेय सस्कारो का पुनरुद्धार करेंगे।

२ अथातोऽष्टौ-'अनुव्रतसंस्काराः' विशेषकाः—

१-(९)—कर्णवेध·—

आठ गर्भ-संस्कारों के अनन्तर आठ अनुव्रत सस्कारो की इतिकर्त्तव्यता हमारे सामने आती है। ये आठो ही 'अतिशयाधायक' सस्कार कहलाते हैं, एव इनमें पहिला 'कर्णवेध' सस्कार है। यद्यपि राजपूताना प्रान्त मे इसका विशेष महत्व नहीं है, परन्तु हिन्द प्रान्त मे यह बडे आटोप के साथ किया जाता है। विवाहादि संस्कारो की तरह ('कनछिद' नाम से व्यवहृत) कर्णवेध सस्कार वहा वडे समारम्भ से होता है। यह एक आश्चर्य का विषय है कि, पारस्कर, आश्वलायन, गोभिल, मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु, आदि मे न तो इस सस्कार का नामोल्लेख ही मिलता, एव न इतिकर्त्तव्यता ही। हां, कात्यायन ने अपने गृह्य सूत्र मे 'कर्णवेधो वर्षे तृतीये पंचमे वा' (१।२) इत्यादि रूप से अवश्य ही इसका उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त व्यास, शङ्खादि कतिपय स्मृति ग्रन्थों मे, तथा मदनरत्न, हेमाद्रि आदि निवन्ध ग्रन्थो में भी इसकी इतिकर्त्तव्यता विहित है। चौलकर्म्म के अनन्तर विहित होने से तो इसे नवा सस्कार माना जायगा, एव श्रोत्रेन्द्रिय में अतिशयाधान करने के कारण अतिशयाधायक, आठ अनुव्रत सस्कारों मे इसकी गणना की जायगी।

मानवजीवन मे यो तो सभी इन्द्रियों से यथासमय हमें काम लेना पडता है। परन्तु इन मे चक्षु, तथा श्रोत्रेन्द्रिय की विशेष प्रधानता मानी गई है। इन दोनों के अतिरिक्त आत्मवर्ग मे से वैश्वानर तैजस प्राज्ञसमष्टिरूप भूतात्मा से नित्य युक्त, शुक्र-शोणितानुगृहीत, सौम्य प्रज्ञान मन (जिसे कि इस सस्कार प्रकरण मे हमनें 'ब्रह्म' कहा है) भी अपना प्रधान स्थान रखता है। मानसजगत् से सम्बन्ध रखने वाले शुभ-अशुभ सकल्प, चक्षु श्रोत्र, इन आध्यात्मिक तीन पर्वों का हमारे जीवन मे विशेष प्रभाव पडता है। चक्षुरिन्द्रिय देखने का, श्रोत्रेन्द्रिय सुनने का, तथा प्रज्ञानमन (ब्रह्म) दृष्ट-श्रुत अर्थों के सस्कारग्रहण का कार्य्य करता है। शुभदर्शन शुभश्रवण शुभसकल्प जहा शुभ सस्कार का कारण है, वहा अशुभदर्शन अशुभश्रवण अशुभसकल्प् अशुभसस्कार का जनक बनता है। अतएव यह आवश्यक है

कि, बालक की सुकुमार अवस्था मे ही इन तीनों संस्थाओं मे शुभभावात्मक दिव्य प्राणों का अन्तर्य्याम सम्बन्ध करा दिया जाय। जिसके प्रभाव से आगे जाकर इनकी दृष्टि, श्रुति, एवं मनोवृत्ति सदा शुभ-दिव्य-भावों, दिव्य-कर्म्मों की ओर ही प्रवृत्त रहे। गर्भाधान-पुंसवन-सीमन्त-जातकर्म्म-नामकरण-अन्नप्राशन-चूडाकरण, इन सात सस्कारों से तो प्रज्ञानब्रह्म मे प्रधानतया दिव्यसस्कार-ग्रहण-योग्यता उत्पन्न की जाती है। 'सूर्य्यावेक्षण' नामक निष्क्रमण संस्कार से चक्षुरिन्द्रिय मे शुभदृष्टि-सस्कार ग्रहण-योग्यता पैदा की जाती है। अब तीसरा श्रोत्रेन्द्रिय बच रहता है। इस मे वही योग्यता उत्पन्न करने के लिए यह नवा कर्णवेध संस्कार होता है। भद्रश्रवण की ओर प्रवृत्ति ही इस कर्म्म का मुख्य फल है, जैसा कि—'भद्रं कर्णेभिः०' इत्यादि पद्धति-गृहीत-मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है।

शास्त्रकार इस संस्कार मे कर्णच्छेद करना भी आवश्यक समझते हैं। शिराओं के वेधन से क्या फल होता है ? यह तो आयुर्वेद से प्रष्टव्य है। हा, इस सम्बन्ध में इतना निश्चित है कि, कर्णशिरा के वेधन से शिरोयन्त्र मे सम्बद्ध ज्ञानवाहिनीं नाडियाँ (स्नायुतन्तु) प्रदीप्त हो जातीं है। इन की प्रदीप्ति से प्रज्ञानज्ञान प्रदीप्त होता हुआ श्रुतिधर्म्म-ग्रहण मे बलवान् बन जाता है। इस के अतिरिक्त कर्णच्छेद का शास्त्रों नें एक यह भी फल माना है कि, सूर्य्यरश्मियाँ स्वाभाविक ज्ञानशक्तिप्रभाव से शिरोयन्त्र मे (स्नायुतन्तुओं के द्वारा) ज्ञानप्रसार किया करतीं हैं। यदि सूर्य्यरश्मि का इस शिरोयन्त्र मे अवार-पारीण सम्बन्ध करा दिया जाता है, तो इस कर्म्म मे और भी अधिक बल आ जाता है। इसी आधार पर यह धर्म्मभीरुता[१] उत्पन्न कर दी गई है कि, जिस द्विजाति के कर्णरन्ध्र से रविच्छाया (छाया सयुक्त रविरश्मि) आर-पार नहीं निकलती, उसे देख कर ही पुण्यफल वापस लौट जाते है। ऐसे बिना छिद्र के द्विजाति को श्राद्ध मे भोजन नहीं कराना चाहिए।

यह सर्वथा निश्चित है कि, जिन सस्कारों मे अचिन्त्य-शक्ति रखने वाले मन्त्रो का प्रयोग होता है, उन्हे कभी निरर्थक नहीं माना जा सकता। प्रकृति के गुप्ततम रहस्यों के जानने वाले

---

१ कर्णरन्ध्रे रविच्छाया न विशेदग्रजन्मन ।
तं दृष्ट्वा विलयं यान्ति पुण्यौघाश्च पुन. पुन ॥ १ ॥ —देवल ।
अङ्गुष्ठमात्रसुषिरौ कर्णौ न भवतो यदि ।
तस्मै श्राद्ध न दातव्य दत्त चेदासुर भवेत् ॥ २ ॥ —शङ्ख ।

महर्षियों के द्वारा विहित कर्म्मों का तात्विक रहस्य सर्वात्मना हमें विदित हो जाय, एवं तभी उसे हम प्रमाण मानें, यह असम्भव है। हमें 'स्थालीपुलाक' न्याय का अनुगमन करते हुए कुछ एक विज्ञातरहस्य-कर्म्मों के आधार पर ही यह विश्वास कर लेना चाहिए कि, अवश्य ही शास्त्रीय प्रत्येक कर्म्म में कुछ न कुछ अलौकिक फल है। इसी शास्त्रनिष्ठा के आधार पर सर्वसाधारण प्रजा की इन शुभ कर्म्मों में प्रवृत्ति रह सकती है।

अस्तु, इस संस्कार की इतिकर्त्तव्यता[1] के सम्बन्ध में यही वक्तव्य है कि, तीसरे, अथवा पांचवें वर्ष में शुभ-नक्षत्र-तिथि-मुहूर्त्त देखकर, कुमार को मधुर रस युक्त खाद्यपदार्थ देकर (वेधन से कष्ट होता है, एवं बच्चा इस मधुरप्रलोभन से इस कष्ट का अनुभव नहीं करता) पूर्वाभिमुख बैठे हुए कुमार के दक्षिण कर्ण में 'भद्रं[2] कर्णेभिः०' इत्यादि मन्त्र बोलते हुए, वामकर्ण में 'वक्ष्यन्तिवेदा[3]' इत्यादि मन्त्र बोलते हुए शलाका से वेधन किया जाता है।

उक्त दोनों मन्त्रों से पिता कुमार के दोनों कर्णों में संस्कार कर देता है। अनन्तर स्वर्णकारादि शलाका से वेधन करते हैं। ब्राह्मण[4]-वैश्य का चांदी की शलाका से, क्षत्रिय का सुवर्ण-शलाका से, एवं शूद्र का लौहशलाका से वेधन होता है। वेधनकर्म्म चारों वर्णों के लिए समान है, मन्त्रप्रयोग केवल द्विजाति से ही सम्बन्ध रखता है, जैसा कि प्रकरणोपसंहार में स्पष्ट होने वाला है।

१—"कर्णवेधो वर्षे तृतीये, पञ्चमे वा, पुष्येन्दुचित्राहरिरेवतीषु,पूर्वाह्णे कुमारस्य मधुरं दत्त्वा, प्रत्यङ्मुखायोपविष्टाय दक्षिणं कर्णमभिमन्त्रयते—"भद्रं कर्णेभिः०" इति। सव्यं—'वक्ष्यन्तीवेद' इति च। अथ भिन्द्यात्। ततो ब्राह्मणभोजनम्"।

२—"ओं भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥" —ऋक् सं० १।८९।८

३—वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियं सखायं परिषस्वजाना।
योषेव शिङ्क्ते विततादिधन्वज्ज्या इयं समने पारयन्ती"। —ऋक् सं० ६।७५।३

४—सौवर्णी राजपुत्रस्य, राजती विप्र-वैश्ययोः।
शूद्रस्य चायसी सूची मध्यमाष्टाङ्गुलात्मिका॥ —मदनरत्नम्।

२-(१०)—उपनयनम्—

अनुव्रतसंस्कारों में इस संस्कारों का चूंकि एक विशेष महत्व है, सम्पूर्ण श्रौत-स्मार्त्त अनुष्ठानों की मूल भित्ति यही संस्कार है, अतः इसके सम्बन्ध में हमें विशेष विचार करना है। इस संस्कार के बिना द्विजाति का द्विजत्व सर्वथा मुकुलित रहता है। इसी संस्कार के प्रभाव से परच्छन्द से निकल कर द्विजातिवर्ग गायत्री आदि स्व-छन्दों से युक्त होता है। इस संस्कार से पहिले पहिले जन्मदात्री माता माता रहती है, रेतोधा पिता पिता रहता है, एवं इन दोनों के दाम्पत्य-भाव से ही इसका प्रथम जन्म (भौतिक जन्म) होता है। परन्तु उपनयन संस्कार के अनन्तर सावित्री माता बनती है, आचार्य पिता बनता है। इन दोनों के दाम्पत्य-भाव से इसका द्वितीय जन्म (दिव्यप्राणात्मक जन्म) होता है। सावित्री-क्षेत्र में मन्त्रात्मक बीज (शुक्र) की आहुति होती है। यही आहुति इसके द्वितीय जन्म का कारण बनती है, एवं इसी जन्म में आकर यह अपने 'द्विज' (द्विजन्मा, दो जन्म वाला) नाम को सार्थक करता है। इसी संस्कार से इसे यज्ञाधिकार प्राप्त होता है। यही इसका 'ब्रह्मचर्य्याश्रम' नामक प्रथमाश्रम है। इस से पहिले पहिले यह शूद्रवत् अव्यवहार्य्य ही रहता है। इस संस्कार के–'उपनयन-यज्ञोपवीत-आचार्य्यकरण' इत्यादि अनेक नाम हैं। इसी संस्कार में यह द्विजाति बालक आचार्य के पास वेदाध्ययनादि के लिए गुरुकुल में ले जाया जाता है, इस लिए इसे 'उपनयन' संस्कार कहा जाता है। स्मार्त्तग्रन्थों में उपनयन शब्द का यही निर्वचन हुआ है। 'उप (गुरोः समीपे वेदाध्ययनार्थं)-नीयते येन कर्म्मणा, तदुपनयनम्' (जिस संस्कार कर्म्म के द्वारा प्राप्तवयस्क द्विजबालक को वेदस्वाध्याय के लिए गुरु के पास ले जाते हैं, वही 'उपनयन' कहलाता है) ही उपनयन शब्द का निर्वचन है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

'गृह्योक्त'-कर्म्मणा येन समीपं नीयते गुरोः।
बालो वेदाय तद्योगाद् , बालस्योपनयं विदुः॥'

---

१ "आचार्य्यस्य उप-समीपे, माणवकस्य नयनं-उपनयनशब्देनोच्यते" —गदाधरः

उक्त निर्वचन के अतिरिक्त 'अग्नेः समीपं नयनं'—सावीत्र्याः-समीपे नयनं' भी निर्वचन किए जा सकते हैं। इसी संस्कार के द्वारा द्विजातिबालक के गले में 'यज्ञसूत्र' डाला जाता है, जो कि यज्ञसूत्र 'यज्ञोपवीत' नाम से प्रसिद्ध है। चूंकि इस संस्कार से माणवक को यज्ञोपवीती बनाया जाता है, यज्ञसूत्र से युक्त किया जाता है। अतएव यह 'यज्ञोपवीत संस्कार' नाम से भी व्यवहृत किया जा सकता है। संस्कार की पद्धति के सम्बन्ध में प्रकृत में कुछ भी विशेष वक्तव्य नहीं है। वक्तव्य है केवल उपपत्ति के सम्बन्ध में। एवं इस उपपत्ति के प्रधान पर्व हैं—निम्न लिखित—

१—उपनयन संस्कार क्रमश ८, ११, १२, वें वर्षों मे ही क्यों होता है?

२—शूद्र का उपनयन संस्कार क्यों नहीं होता?

३—यज्ञसूत्र का प्रकृति के साथ क्या सम्बन्ध है?

४—यज्ञसूत्र के निर्माण में तन्तु आदि की सख्या मे नियन्त्रण क्यों लगाया गया?

(१) इन चारो प्रश्नों की उपपत्ति ही इस संस्कार की उपपत्ति है। इन्हीं का क्रमश दिग्दर्शन कराया जाता है। सब से पहिले क्रमप्राप्त प्रथम प्रश्न की ही मीमासा कीजिए। 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेत्, एकादशवर्षं राजन्यं, द्वादशवर्षं वैश्यम्' (पा० गृ० सू० २।२) के अनुसार आठवें, ग्यारहवें, बारहवें वर्ष में ब्राह्मण क्षत्रिय-वैश्य बालक का उपनयन होना चाहिए। इस वर्षसंख्या की अर्गला का प्रधान कारण है—'छन्द'। वर्णव्यवस्थाविज्ञान प्रकरण मे यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, सवनत्रयी, देवत्रयी, वेदत्रयी, लोकत्रयी, शुक्रत्रयी से नित्य सम्बद्ध, गायत्र-त्रैष्टुभ-जागत भावों से नित्य युक्त सवत्सर से ही ब्राह्मण क्षत्रिय-वैश्य वर्णों की उत्पत्ति हुई है। प्रात सवनाधिष्ठाता, अष्टाक्षर गायत्री छन्द से छन्दित प्राणाग्नि ही ब्रह्मवीर्य्य के द्वारा ब्राह्मणवर्णोत्पत्ति का, माध्यन्दिनसवनाधिष्ठाता, एकादशाक्षर त्रिष्टुप्छन्द से छन्दित प्राणेन्द्र ही क्षत्रवीर्य्य द्वारा क्षत्रियवर्णोत्पत्ति का, एव सायंसवनीयाधिष्ठाता, द्वादशाक्षर जगतीछन्द से छन्दित प्राणरूप विश्वेदेव ही विड्वीर्य्य द्वारा वैश्यवर्णोत्पत्ति के कारण बनते हैं। ब्राह्मणवर्ण गायत्री से, क्षत्रियवर्ण त्रिष्टुप् से, एवं वैश्यवर्ण जगती छन्द से छन्दित (सीमित) बनता हुआ क्रमश अष्टावयव आग्नेय ब्रह्मवीर्य्य से, एकादशावयव ऐन्द्र क्षत्रवीर्य्य से, एवं द्वादशावयव वैश्वदेव विड्वीर्य्य से युक्त है। शुक्रशोणितात्मक ब्रह्मभाग में रहने वाले इन गायत्र-त्रैष्टुभ जागतलक्षण ब्रह्म क्षत्र-विड्वीर्य्यों के विकास का समय छन्दोमात्राओं के अनुसार क्रमश ८ ११-१२ वें वर्षों मे ही होता है। आठवें वर्ष में अष्टाक्षर गायत्रीछन्द पूर्ण

हो जाता है, ग्यारहवें वर्ष में एकादशाक्षर त्रिष्टुप् का विकास हो जाता है, एवं बारहवें वर्ष में द्वादशाक्षर जगती विकसित हो जाता है। इन छन्दों के विकास के साथ साथ ही तीनों वर्णों के प्रतिष्ठारूप तत्तच्छन्दोऽनुवर्त्ती तत्तद् वीर्य्यों का विकास भी निश्चित है। एकमात्र इसी आधार पर ८-११-१२ वें वर्षों को द्विजाति के लिए उपनयन संस्कारकाल माना गया है।

जिस समय इन छन्दोयुक्त वीर्य्यों का विकास होता है, उसी समय इन का सावित्री-संस्कार होना आवश्यक है। इस संस्कार से इन वीर्य्यों को सीमित बना कर सुरक्षित कर दिया जाता है। यदि यह समय निकल जाता है, तो छन्दोमर्य्यादा के निकल जाने से छन्द से छन्दित प्राणदेवताओं की संस्कारग्रहण योग्यता नष्ट हो जाती है। इस योग्यता का कुछ अंश प्रत्येक छन्द के २-२ चरणों तक यथाकथंञ्चित बच रहता है। अतएव अधिक से अधिक ब्राह्मण का उपनयनकाल १६ वां वर्ष, क्षत्रिय का २२ वां वर्ष, एवं वैश्य का २४ वां वर्ष माना गया है। अष्टाक्षर-एकादशाक्षर-द्वादशाक्षर-गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती छन्दों के दो चरणों की समाप्ति क्रमशः १६-२२-२४ वें वर्ष में होती है। यदि यह समय भी निकल जाता है, तो द्विजातिवर्ग 'पतितसावित्रीक' कहलाने लगता है। इन्हीं पतित (असंस्कृत) द्विजातियों को 'व्रात्य' कहा जाता है। शास्त्र का आदेश है कि, इन व्रात्य द्विजातियों को शूद्रवत् न तो यज्ञोपवीत धारण का अधिकार है, न वेदाध्ययन का ही अधिकार है, एवं न अन्यशास्त्रीय व्यवहार के ही ये पात्र हैं। इसी कालरहस्य का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते है—

१—'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनेयद्, गर्भाष्टमे वा। एकादशवर्षं राजन्यम्। द्वादशवर्षं वैश्यम्। यथामङ्गलं वा सर्वेषाम्'

—पा० गृ० सू० २।२

३—'अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्, गर्भाष्टमे वा। एकादशे क्षत्रियम्। द्वादशे वैश्यम्। आषोडशात् ब्राह्मणस्य नातीतः कालः। आद्वाविंशात् क्षत्रियस्य, आचतुर्विंशाद् वैश्यस्य। अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति। नैनानुपनयेत्, नाध्यापयेत्, न याजयेत्, नैभिर्व्यवहरेयुः।'

—आश्व० गृ० सू० १।१९।

४—गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥ १॥
आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्त्तते।
आद्वाविंशात् क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशते विशः॥ २॥
अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्री-पतिता व्रात्या भवन्त्यार्य्यविगर्हिताः॥ ३॥
नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित्।
ब्राह्मान्यौनांश्च सम्बन्धानाचारेद् ब्राह्मणः सह॥ ४॥

—मनुः २।३६-३८-३९-४०।

वर्षनियति के अतिरिक्त 'ऋतु' काल भी इस संस्कार के लिए नियत ही ग्राह्य है। आध्यात्मिक देवसम्पत्ति के लिए जहां वर्षनियति का ग्रहण आवश्यक है, वहा आधिदैविक (प्राकृतिक) नियति के लिए ऋतुनियति भी आवश्यकरूप से अपेक्षित है। गायत्रछन्दोऽवच्छिन्न प्राणाग्नि का विकास वसन्त ऋतु में होता है, त्रिष्टुपछन्दोऽवच्छिन्न प्राणेन्द्र का विकास ग्रीष्म ऋतु मे, एवं जगती छन्दोऽवच्छिन्न विश्वेदेवों का विकास वर्षा-ऋतु में होता है। इन प्राकृतिक ऋतुओं मे उपनयन संस्कार होने से प्रकृति भी विकृतिरूप आध्यात्मिक प्राणदेवताओं के विकास में बलाधान करती है। अतः ब्राह्मण का संस्कार का वसन्त ऋतु मे, क्षत्रिय का ग्रीष्मऋतु में, तथा वैश्य का वर्षान्त की शरद-ऋतु मे होना चाहिए, जैसा कि निम्न निखित वचनों से स्पष्ट है—

१—'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यं, शरदि वैश्यम्'।

—श्रुतिः

२—विप्रं वसन्ते, शितिपं निदाघे, वैश्यं घनान्ते व्रतिनं विदध्यात्।
माघादिशुक्लान्तिकपञ्चमासाः साधरणा वा सकलद्विजानाम्॥
—गर्गः।

इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखने की वात है कि, यद्यपि प्रकृति के अनुसार वर्षाऋतु ही विश्वेदेवों से युक्त रहती हुई विड्वीर्य्य की अनुगामिनी वनती है, एवं इसी आधार पर वर्षाऋतु ही वैश्यवर्ण के लिए अग्न्याधानकाल माना गया है, परन्तु वर्षा में (आषाढ़ शुक्ल एकादशी से आरम्भ कर कार्तिक शुक्ल एकादशी पर्य्यन्त) प्राणदेवता सुप्त रहते है, अतएव वर्षाकाल उपनयन के लिए अग्राह्य माना गया है। अतः तत्सन्निहित शरदृऋतु ही वैश्य के लिए ग्राह्य मानी गई है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, प्राकृतिक, तथा आध्यात्मिक छन्दोयुक्त देवसम्पत्तियों के कालानुरोध से ही अष्टमादि वर्षों का, एवं वसन्तादि ऋतुओं का नियन्त्रण लगाया गया है, जोकि सर्वथा मान्य, तथा उपकारक है।

(२)—शूद्र का उपनयन संस्कार क्यों नहीं होता? इस प्रश्न का समाधान यद्यपि वर्णव्यवस्था विज्ञान से ही गतार्थ है। फिर भी प्रकरणसङ्गति के लिए कुछ कह देना आवश्यक है। द्विजातिवर्ण की उत्पत्ति जहां छन्दोयुक्त देवप्राणों से हुई है, वहां शूद्रवर्ण इस छन्दोयुक्त देवसम्पत्ति से सर्वथा वञ्चित है। जिस छन्दोयुक्त देवता का संस्कार होता है, वह देवता ही जब शूद्र में नहीं है, तो फिर संस्कार किस लिए किया जाय? जो सनातनधर्म्मी जन्मना जाति के पक्षपाती हैं, उनके लिए तो कुछ कहना ही नहीं है। परन्तु अभिनिवेश वश जो महाशय कर्म्मणा जाति का उद्घोष करते हैं, उन्हें भी यही पक्ष स्वीकृत है, जैसा कि उनकी कल्पित संस्कार विधियों से स्पष्ट है। संस्कार-विधान का परिज्ञान जहां शास्त्र से हुआ है, वहाँ इनकी इतिकर्त्तव्यता का विधान भी उसी शास्त्र ने किया है। जब शास्त्र यह कहता है कि, ब्राह्मण बालक का आठवें वर्ष में, क्षत्रिय बालक का ११ वें में, वैश्य का १२ वें में संस्कार होना चाहिए, तो सुतरां शूद्र का असंस्कार्य्यत्व सिद्ध हो जाता है। इसके साथ ही इस वर्षनियति से यह भी सिद्ध हो रहा है कि, जाति का सम्बन्ध प्रधानतया जन्म के साथ ही है। यदि कर्म्म के साथ जाति का सम्बन्ध होता, तो—'अष्टमे वर्षे' इत्यादि का कोई अर्थ न होता। कारण इस संस्कार के अनन्तर ही द्विजातिबालक 'द्विज' कहलाने लगते हैं। एवं इस बालावस्था में द्विज-निबन्धन कर्म्म सर्वथा अविकसित रहते हैं। इसके अतिरिक्त 'गर्भ से आठवें, ग्यारहवें, बारहवें में उपनयन करना चाहिए' इस मानव सिद्धान्त के अनु-

सार भी द्विजाति की सन्तान जन्मतः ही द्विजाति बन रही है। अस्तु इस प्रश्न की विशद मीमांसा पूर्वप्रकरण में की जा चुकी है। यहां हमें केवल यही वक्तव्य है कि, प्रकृत्या छन्दोमर्यादा, तथा संस्कारग्राहक देवप्राणमर्य्यादा से वञ्चित रहने के कारण ही वैज्ञानिकों ने अच्छन्दस्क-अदेव-शूद्रवर्ग के लिए यह संस्कार अग्राह्य माना है। हां, उपनयन से पहिले के ६ संस्कार अवश्य ही यथासमय शूद्र के भी होते हैं।

गर्भाधानादि, कर्णवेधान्त नौ संस्कार शूद्र के होंगे तो अवश्य, परन्तु इनके सम्बन्ध में यह ध्यान रखना होगा कि, द्विजाति के ये संस्कार जहां मन्त्रपूर्वक होते हैं, वहां शूद्र के संस्कार अमन्त्रक ही होते हैं। कारण स्पष्ट है। मन्त्र का दिव्यप्राण से सम्बन्ध है, एवं अनुपनीत शूद्र वेदाधिकार से प्रकृत्या वञ्चित है। जब उसमें मन्त्रवर्णित देवता के संस्कार-ग्रहण की योग्यता ही नहीं, तो फिर मन्त्रप्रयोग का क्या उपयोग। प्रश्न हो सकता है कि, जब मन्त्र प्रयोग ही नहीं, तो संस्कारों का क्या महत्त्व ?। उत्तर यह होगा कि, संस्कारों के दो विभिन्न दृष्टिकोण हैं। संस्कारों में जिन भौतिक द्रव्यविशेषों का ग्रहण होता है, उनसे तो गर्भादि के भूत भाग की रक्षा-पुष्टि अभिप्रेत है। एवं संस्कार में प्रयुक्त मन्त्र गर्भादि में अवस्थित प्राणतत्त्व की रक्षा-पुष्टि के कारण बनते हैं। चारों वर्णों के भूतभाग समान हैं, केवल दिव्य प्राण में अन्तर है। अतएव भूतात्मक अमन्त्रक नौ संस्कार शूद्रों के भी होने चाहिएं। इसी आधार पर धर्म्म-ग्रन्थों के निम्न लिखित वचन प्रतिष्ठित हैं—

१—"गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्त्तयत्, त्रिष्टुभा राजन्यं, जगत्या वैश्यं, न केनचिच्छन्दसा शूद्रं निवर्त्तयत्"।

—श्रुतिः।

२—"अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥ १ ॥

३—शूद्रोऽप्येवं विधः कार्यो विना मन्त्रेण संस्कृतः।
न केनचित् समसृजत्-छन्दसा तं प्रजापतिः ॥ २ ॥"

—यमः।

४—शूद्रो वर्णश्चतुर्थोऽपि वर्णत्वाद्धर्म्ममर्हति ।
वेदमन्त्रं-स्वधा-स्वाहा-वषट्कारादिभिर्विना ॥ १ ॥

—व्यासः ।

५—विवाहमात्रं संस्कारं शूद्रोऽपि लभतां सदा। अत्र-सदसच्छूद्रविषयत्वेन व्यवस्था। सच्छूद्रस्य द्वादश, असच्छूद्रस्य विवाहमात्रम्। एते च तूष्णीं कार्य्याः ।

—गदाधरः ।

६—यम-ब्रह्मपुराणवचनाभ्यां शूद्रस्य गर्भाधान-पुंसवन-सीमन्तजातकर्म्म-नामधेय-निष्क्रमण-अन्नप्राशन-चूड़ाकरण-विवाहान्ता, नवसंस्कारा विहितास्ते च तूष्णीं, इतरेषां निवृत्तिः ।

—हरिहरः ।

(३)-(४)—यज्ञसूत्र का प्रकृति के साथ क्या सम्बन्ध है ? इस प्रश्न के समाधान से पहिले यज्ञपदार्थ का स्वरूप जानना आवश्यक है। जिस यज्ञपुरुष ने उपवीत (यज्ञसूत्र) धारण कर रक्खा है, जिस के अनुरूप ही प्रजापति की द्विजाति सन्तान ने यज्ञसूत्र धारण करना एक आवश्यक कर्त्तव्य मान रक्खा है, वह यज्ञप्रजापति अपने त्रिवृद्भाव के कारण 'आधिदैविकयज्ञ-आधिभौतिकयज्ञ-आध्यात्मिकयज्ञ' भेद से तीन संस्थाओं में विभक्त हो रहा है। मौलिक तत्व 'ब्रह्म' कहलाता है, यौगिक तत्त्व ही 'यज्ञ' नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्मलक्षण मौलिक तत्त्वों का योग अन्तर्य्याम-बहिर्य्याम भेद से दो प्रकार से हुआ करता है। जिस तत्त्वयोग से युक्त होने वाले पदार्थों के द्वारा कोई अपूर्व (दूसरा) रूप उत्पन्न न हो, अपितु योग होने पर भी दोनों तत्त्व स्वस्वरूप से सुरक्षित बने रहें, बहिर्य्यामलक्षण ऐसा तत्त्वयोग 'योग' नाम से व्यवहृत हुआ है। एवं जहां अन्तर्य्यामलक्षण चितिसम्बन्ध के कारण दोनों तत्व ग्रन्थि बन्धन से बद्ध होते हुए अपने पूर्वस्वरूप को छोड़ते हुए अपूर्व-नवीन स्वरूप में आ जाते हैं, वही तत्त्वयोग 'याग' नाम से व्यवहृत हुआ है। यही 'याग' 'यज्ञ' नाम से गृहीत है। उदाहरण के लिए सोरे और कोयले के रासायनिक-सम्मिश्रण को ही

लीजिए। इन दोनों के रासायनिक मिश्रण से दोनों का स्वरूप विलीन हो जाता है, एवं दोनों के यागात्मक योग से 'बारूद' नाम का सर्वथा नवीन पदार्थ उत्पन्न हो जाता है। विश्वसृष्टि ब्रह्म (मौलिकतत्त्व) से हुई है, परन्तु यज्ञ द्वारा—(तत्त्वों के रासायनिक मिश्रण-द्वारा)। यज्ञ रूप यागसम्बन्ध में परिणत होकर ही प्रजापति प्रजासृष्टि-वितान में समर्थ होते हैं, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। हमारे नवशिक्षित बालबन्धु इसी स्थिति को यों आसानी से समझ सकते हैं कि, 'फिजिक्स' (PHYSICS) ही मौलिक तत्त्व है, यही 'ब्रह्म' है। एवं इन मौलिक तत्त्वों के रासायनिक मिश्रण से सम्बन्ध रखने वाली 'केमेस्ट्री' (CHEMISTRY) ही 'यज्ञ' पदार्थ है। फिजिक्स ही केमेस्ट्री की आधार भूमि है।

मौलिकतत्वमिश्रणलक्षण यज्ञ के स्वरूप-समर्पक ब्रह्मभाव (तत्व) चाहे संख्या में कितने ही हों, परन्तु भारतीय वैज्ञानिकों ने उन सब का अन्तर्भाव (विश्वसृष्टि की दृष्टि से) दो ही तत्वों में कर लिया है। एवं विश्वस्वरूप सम्पादक वे दोनों तत्व 'तेजः–स्नेह' नाम से प्रसिद्ध हैं। तेजोभाव 'अग्नि' नाम से, एवं स्नेहभाव 'सोम' नाम से प्रसिद्ध है। अग्नितत्व विकासधर्म्मा बनता हुआ 'दाहक' है, सोमतत्व संकोचधर्म्मा बनता हुआ 'दाह्य' है। इस दाहक अग्नितत्व में दाह्य सोम की आहुति हो जाने से दोनों के समन्वय से (अग्नीषोमात्मक) जो अपूर्वरूप उत्पन्न होता है, उसीका नाम 'यज्ञ' है। चूंकि इस यज्ञ की उत्पत्ति सोमाहुति-प्रक्रिया पर निर्भर है, अतएव 'ताच्छब्द्य' न्याय से इस आहुतिकर्म्म को भी यज्ञ कह दिया जाता है। इस प्रकार—'अग्नौ सोमाहुतिर्यज्ञः'—'अग्नौ सोमाहुत्या-उत्पन्नोऽतिशयो यज्ञः' यज्ञ के दोनों ही लक्षण निर्दिष्ट माने जा सकते हैं।

अग्नि-सोमब्रह्म (मौलिकतत्व) के समन्वय से उत्पन्न यह यज्ञ पदार्थ अपनी संस्थाओं से तीन भागों में विभक्त होकर तीन लोकों का प्रभु बन रहा है। कारण इस त्रिसंस्था का यही है कि, यज्ञस्वरूपसमर्पक अग्नि-सोमयुग्म स्वयं तीन संस्थाओं में विभक्त है, एवं उन तीनों संस्थाओं को क्रमशः 'सौरसंस्था-पार्थिवसंस्था-प्रजासंस्था' नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। तीनों में से क्रमप्राप्त पहिले सौरसंस्था को ही लीजिए।

सहस्रांशु सूर्य्य एक अग्नि पिण्ड है। यही सौर-अग्नि 'सावित्राग्नि' नाम से प्रसिद्ध है, एवं 'चयनयज्ञ' परिभाषानुसार इसे ही 'आदित्याग्नि' भी कहा जाता है। अग्नि स्वभावतः अन्नाद होता है। अपने इसी अन्नादभाव की रक्षा के लिए इसे निरन्तर अन्नाहुति की

अपेक्षा बनी रहती है। मानना पड़ेगा कि, अवश्य ही इस सौर-अन्नाद-अग्नि में अन्न-सोम आहुत हो रहा है। एवं इसी अजस्र-सोमधारा के आगमन से सृष्टि के आरम्भ से लेकर आजतक अपने अंशों को सृष्टिप्रक्रिया में प्रदान करता हुआ भी सौर अग्नि कम नहीं होने पाता। सृष्टिप्रक्रिया में जितना सौर अग्नि खर्च होता है, सोमाहुति के प्रभाव से यह कमी पूरी होती रहती है। इसी सोमाहुति को लक्ष्य में रख कर वैज्ञानिकों ने सूर्य्य को 'अग्निहोत्र' माना है जैसा कि—'सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम्' (शत० २।३।१।१) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। जिस दिन यह आहुतिक्रम बन्द हो जायगा, यज्ञप्रक्रिया उच्छिन्न हो जायगी, सौराग्नि निःशेष हो जायगा, सूर्य्यास्त के साथ साथ सृष्टिकालोपलक्षित पुण्याहकाल विलीन हो जायगा, प्रलयकालोपलक्षित रात्रिकाल का साम्राज्य हो जायगा।

'तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत्' (३।६।२।१) के अनुसार तृतीय द्युलोक से उपलक्षित, सूर्य्य से भी पारस्थान में प्रतिष्ठित, अतएव 'परमेष्ठी' नाम से प्रसिद्ध विष्णुलोक में 'ब्रह्मणस्पति' नामक पवित्र सोम की सत्ता मानी गई है। पूर्व के सीमन्तसंस्कार प्रकरण में गायत्री द्वारा जिस सोम का अपहरण बतलाया गया है, वह यही पारमेष्ठ्य 'ब्रह्मणस्पति' नामक 'पवित्र' सोम है। यही सोम इस सावित्राग्नि में निरन्तर आहुत होता रहता है। इसी सोमाहुति से अग्नीषोमात्मक सम्वत्सर का जन्म हुआ है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, स्वयं सूर्य्य सत्याग्नि-सत्यसोमात्मक है। एवं सम्वत्सर का स्वरूप ऋताग्नि-तथा ऋत सोम के समन्वय से सम्पन्न हुआ है। अग्नीषोमात्मक सूर्य्य से प्रवर्ग्यरूप से निकलनेवाले, केन्द्रशून्य, अतएव ऋतरूप अग्नि-सोम के उद्ग्राम-निग्राम (चढ़ाव-उतार) से ही वसन्तादि षड्-ऋतुओं की उत्पत्ति हुई है। चूंकि ऋत अग्नि में ऋत सोम की आहुति होने से वसन्तादि का जन्म हुआ है, अतएव इन्हें—'ऋतु' कहा गया है। स्वयं वेद में तो इस ऋताग्नि का विशद निरूपण है ही, साथ ही वेदोपबृंहक पुराणों में भी इन तत्त्वों का कथामुख से विशद निरूपण हुआ है। इसी ऋताग्नि का स्वरूप बतलाता हुआ 'पुराण' कहता है—

१—'सत्यमात्रात्मिकामेव ततोऽन्यां जगृहे तनुम्।
पितृवन्मन्यमानस्य पितरस्तस्य जज्ञिरे।
उत्ससर्ज पितृन् सृष्ट्वा ततस्तासामपि प्रभुः॥

—विष्णुपुराण

'शरत्'-'यस्मिन् काले ऽग्निकणा हीनतां गता भवन्ति, (सोमकणाश्च प्रवृद्धतरा भवन्ति), स कालो 'हेमन्तः'-'पुनःपुनरतिशयेन यस्मिन् काले अग्निकणाः शीर्णा भवन्ति (सोमकणाश्च प्रवृद्धतमा भवन्ति), 'स कालः 'शिशिरः' इन निर्वचनार्थों से स्पष्ट है। प्राणात्मक देवता अग्निप्रधान हैं। वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा, इन तीन ऋतुओं में चूंकि अग्नि का प्राधान्य है, अतएव ये तीनों ऋतुएं देवप्राणात्मिका मानीं गई हैं। प्राणात्मक पितर सोम-प्रधान हैं। शरत-हेमन्त-शिशिर, इन तीन ऋतुओं में चूकि सोम की प्रधानता है, अतएव इन्हे पितृप्राणात्मिका माना गया है, जैसा कि निम्न लिखित श्रुति से स्पष्ट है—

१—'वसन्तो, ग्रीष्मो, वर्षाः। ते देवा-'ऋतवः'।
शरत्, हेमन्तः, शिशिरः। ते पितरो-'ऋतवः'।

२—य एवापूर्य्यतेऽर्द्धमासः, स देवाः।

३—योऽपक्षीयते, स पितरः।

४—अहरेव देवाः, रात्रिः पितरः।

५—पुनरह्नः पूर्वाह्णो देवाः, अपराह्णः पितरः।

६—ते वाऽएतऽऋतवो देवाः, पितरः।'

—शत० ब्रा० २।१।३।१-२

२—ऋतमग्निस्तु यः प्रोक्तः स तु सम्वत्सरो मतः ।
जज्ञिरे ऋतवस्तस्माद् ऋतुभ्यश्चार्त्तवस्तथा ॥ १ ॥
आर्त्तवाह्यनुमासाख्याः पितरो[1] ह्यनुसूनवः ।
ऋतुः पितामहा मासा आर्त्तवाश्चास्य सूनवः ।
प्रपितामहास्तु वै देवाः पञ्चाब्दा ब्रह्मणः सुताः ॥२॥

—वायुपुराण

३—प्रजापतिः स्मृतो यस्तु स तु सम्वत्सरो मतः ।
सम्वत्सरः स्मृतो ह्यग्निऋ॑तमित्युच्यते बुधैः ॥१॥
ऋतात्तु ऋतवो देवा जज्ञिरे ऋतवस्तु ते ।
मातास्तत्रार्त्तवा ज्ञेया ऋतोरेतेऽभवन् सुताः ॥२॥

—आदित्यपुराण

वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा, ये तीन ऋतुएं ऋताग्नि-प्रधान हैं, एवं शरत्-हेमन्त-शिशिर, ये तीन ऋतुएं ऋतसोम-प्रधान हैं, जैसा कि इनके—'यस्मिन्कालेऽग्निकणाः पदार्थेषु वसन्तो भवन्ति, स कालो 'वसन्तः'—'यस्मिन् कालेऽतिशयेनाग्निः पदार्थान् गृह्णाति, स कालो 'ग्रीष्मः'—'नितरां दहत्यग्यिग्निर्यस्मिन् काले पदार्थान्, स कालो 'निदाघः' इति वा'—'यस्मिन् कालेऽग्निर्वर्षीयान् (प्रवृद्धः-अतिशयेनोरू) भवति, स कालो 'वर्षा'—'यस्मिन् कालेऽग्निकणाः शीर्णा भवन्ति (सोमकणाश्च प्रवृद्धा भवन्ति), स कालः

---

[1] इन पुत्र[१]-पिता[२]-पितामह[३]-प्रपितामह[४]-वृद्धप्रपितामह[५]-अतिवृद्धप्रपितामह[६]-वृद्धातिवृद्धप्रपितामह[७]-लक्षण ऋतुपितरों का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'श्राद्धविज्ञाना'न्तर्गत 'ऋतुपितरविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रकरण में देखना चाहिए ।

'शरत्'—'यस्मिन् काले ऽग्निकणा हीनतां गता भवन्ति, (सोमकणाश्च प्रवृद्धतरा भवन्ति), स कालो 'हेमन्तः'—'पुनःपुनरतिशयेन यस्मिन् काले अग्निकणाः शीर्णा भवन्ति (सोमकणाश्च प्रवृद्धतमा भवन्ति), स कालः 'शिशिरः' इन निर्वचनार्थों से स्पष्ट है। प्राणात्मक देवता अग्निप्रधान हैं। वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा, इन तीन ऋतुओं में चूंकि अग्नि का प्राधान्य है, अतएव ये तीनों ऋतुएं देवप्राणात्मिका मानी गई हैं। प्राणात्मक पितर सोम-प्रधान हैं। शरत्-हेमन्त-शिशिर, इन तीन ऋतुओं में चूंकि सोम की प्रधानता है, अतएव इन्हें पितृप्राणात्मिका माना गया है, जैसा कि निम्न लिखित श्रुति से स्पष्ट है—

१—'वसन्तो, ग्रीष्मो, वर्षाः। ते देवा-'ऋतवः'।
शरत्, हेमन्तः, शिशिरः। ते पितरो-'ऋतवः'।

२—य एवापूर्य्यतेऽर्द्धमासः, स देवाः।

३—योऽपक्षीयते, स पितरः।

४—अहरेव देवाः, रात्रिः पितरः।

५—पुनरह्नः पूर्वाह्णो देवाः, अपराह्णः पितरः।

६—ते वाऽएतऽऋतवो देवाः, पितरः।'

—शत० ब्रा० २।१।३।१-२

नित्यसिद्ध, त्रिधाविभक्त, उक्त प्राकृतिक यज्ञ के आधार पर ही उन वैज्ञानिकों (ऋषियों) की ओर से 'वैधयज्ञ' का आविष्कार हुआ है, जिसके कि प्राकृतिक यज्ञपर्वों के अनुसार- 'अग्निहोत्र-दर्श-पौर्णमास-चातुर्मास्य-पशुबन्ध-सम्वत्सर-राजसूय-वाजपेय-चयन-अश्वमेध-धर्म्मयाग' आदि अवान्तर अनेक भेद हैं। जिनकी इतिकर्त्तव्यता कर्म्मकाण्डात्मक ब्राह्मणग्रन्थों में विस्तार से निरूपित है। यही—'वैधयज्ञविद्या' भारतवर्ष की मूलप्रतिष्ठा है (थी), गौरव है (था)। पदार्थविद्या को भुला देने से सर्वोपकारिणी, सर्वविधफलप्रदात्री वही यज्ञविद्या (यज्ञकर्म्म) आज एक प्रकार की बालक्रीड़ा बनती हुई अभ्युदय के स्थान में प्रत्यवाय का कारण बन रही है, यह जान कर किसे अन्तर्वेदना न होगी।

यह तो हुआ 'यज्ञ' का संक्षिप्त स्वरूप परिचय। अब उस 'सूत्र' का अन्वेषण कीजिए, जो कि यज्ञपुरुष के उत्तमाङ्ग की शोभा बढ़ा रहा है। एवं जिस (यज्ञसूत्र) का परिज्ञान उसी पूर्वोक्त संवत्सरयज्ञ-स्वरूप-परिज्ञान पर अवलम्बित है। सौर-सम्वत्सरमण्डल को ही हम ज्यौतिष-परिभाषा के अनुसार 'खगोल' कहेंगे। वैदिक परिभाषा के अनुसार यह सम्वत्सरचक्र 'अग्न्यात्मकसम्वत्सर, तथा कालात्मकसम्वत्सर' भेद से दो भागों में विभक्त है। अग्न्या० सं० मुख्य है, एवं कालात्मक सं० गौण है। जितने समय में साम्वत्सरिक अग्नि का भोग होता है, वह समय भी आगे जाकर सम्वत्सर कहलाने लगा है। वस्तुतः 'सर्वं त्सरति' व्युत्पत्ति से परिभ्रमणशील अग्नि ही 'सर्वत्सर' है। सर्वत्सर अग्नि ही परोक्षभाषानुसार सम्वत्सर कहलाया है—(देखिए शत० ब्रा० ११।१।६।१२) यहां हमें दोनों सम्वत्सरों का समानरूप से विचार करना है। अग्निगर्भित-कालात्मक इस सम्वत्सरचक्र का स्वरूप निम्न लिखित रूप से हमारे सामने उपस्थित होता है।

ज्यौतिःशास्त्र के अनुसार ६० 'प्रतिविकला' की एक 'विकला' होती है, ६० विकला की एक कला होती है, ६० कला का १ अंश होता है, ६० अंश की १ राशि होती है, एवं १२ राशि का १ 'भगण' होता है। इस विभाग का प्रधान सम्बन्ध 'क्रान्तिवृत्त' के साथ माना गया है। इसके अतिरिक्त 'विष्वद्वृत्त' से सम्बन्ध रखने वाला पल-घटी आदि का विभाग स्वतन्त्र है। ६ श्वासप्रमाण का १ पल होता है, ६० पल की एक घटी (घड़ी) होती है, ६० घटी का १ अहोरात्र (दिनरात) होता है, ३० अहोरात्र का एक मास होता है, एवं

षड्ऋतुमण्डलपरिलेखः—
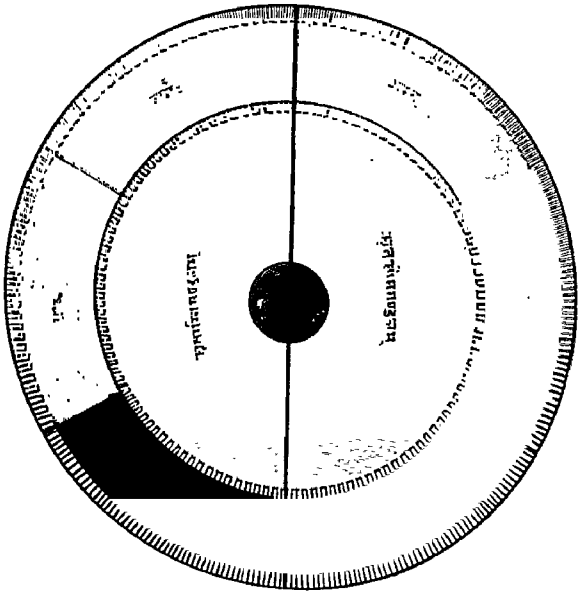
१२ मासों का एक वर्ष होता है। इन दोनों विभागों के समतुलन से पाठकों को इस निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ेगा कि, क्रान्तिवृत्त की १ कला विष्वद्वृत्त के एक श्वास प्रमाण से समतुलित है। कारण स्पष्ट है। खगोलीय चक्र में ३६० अंश होते हैं। प्रत्येक अंश में ६०-६० कला हैं। सब मिल कर ३६० अंशों की २१६०० (इक्कीस हजार छस्सौ) कला हो जाती हैं। ६ श्वास-प्रमाण का एक पल, ६० पल की १ घड़ी, ६० घड़ी का एक अहोरात्र, इस हिसाब से ३६० अंशात्मक क्रान्तिवृत्त के एकांशरूप एक अहोरात्र में २१६०० ही श्वास हो जाते हैं। इतने श्वासप्राण हमें प्रतिदिन सौर-सम्वत्सर चक्र से मिला करते हैं[1]।

क्रान्तिवृत्त सम्बन्धी विभाग	विष्वद्वृत्त सम्बन्धी विभाग
६०—प्रतिविकला की १ विकला	६—श्वासप्राणों का १ पल
६०—विकला की १ कला	६०—पल की १ घड़ी
६०—कला का १ अंश	६०—घड़ी का १ अहोरात्र
६०—अंश की १ राशि	३०—अहोरात्र का १ मास
१२—राशि का १ भगण	१२—मास का १ वर्ष
३६० अंश की २१६०० कला	एक अहोरात्र के २१६०० श्वास

कला-अंश-राशि-घड़ी-पल-अहोरात्रादि पर्वों से युक्त, जीवन (श्वास) प्रदाता, सम्बत्सराग्निगर्भित इस कलात्मक सम्वत्सर चक्र के दूसरी दृष्टि से सात विवर्त्त हो जाते हैं, जो

---

१ षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्रं त्वेकविंशतिः।
हंस हंसेति हंसेति जीवो जपति नित्यशः॥

कि सात विवर्त्त क्रमशः '१-युग, २-सम्वत्सर, ३-अयन, ४-मास, ५-पक्ष, ६-अहोरात्र, ७-मुहूर्त्त' इन नामों से प्रसिद्ध हैं। युग ५ हैं, सम्वत्सर १ है, अयन २ हैं, मास १२ हैं, पक्ष २४ हैं, अहोरात्र ३६० हैं, एवं मुहूर्त १०८०० (दस हजार आठ सौ) हैं। खगोल के जिन ३६० अंशों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उसके केवल ४८ अंशों में ही हमारे इस सम्वत्सर चक्र का स्वरूप प्रतिष्ठित है, एवं इस प्रतिष्ठा का विभाजन होता है, सुप्रसिद्ध 'विष्वद्वृत्त' से। मध्याकाशस्थ, पूर्वापरवृत्त नाम से प्रसिद्ध, विष्वद्वृत्त से ९० अंशपर उत्तरध्रुव है, एवं ९० अंशपर ही दक्षिणध्रुवबिन्दु है। दोनों का परिमाण १८० अंशात्मक हो जाता है। इतना ही खगोल अधः प्रदेश में समझिए। सम्भूय ३६० अंश हो जाते हैं। षष्ट्यधिक त्रिशतांशात्मक इस खगोल के ऊपर के ४८ अंश ही सम्वत्सर चक्र के स्वरूपसम्पादक बनते हैं। मध्यस्थ विष्वद्वृत्त से २४ अंश उत्तर, एवं २४ अंश दक्षिण, कुल ४८ अंश होते हैं। ४८ अंश के परिसर का यही मार्ग पितृत्रिलोकी के अनुसार 'भूलोक' कहलाता है। अथवा पार्थिव सृष्टि का सम्बन्ध चूंकि इसी परिसर के साथ है, इस लिए भी इस खगोलांश को 'भूलोक' कहा जा सकता है। उत्तर गोल के २४ अंशों को इसमें युक्त कर लेने से ९० अंशपर रहने वाले ध्रुव पर्य्यन्त ६६ अंश शेष रह जाते हैं, एवं ये ही ६६ अंश विष्वद् से दक्षिण गोल में शेष रहते हैं। उत्तरभाग के ६६ के क्रमशः ४२-२४ ये दो विभाग कीजिए। ४२ अंशात्मक परिसर अन्तरिक्ष लोक कहलाता है, यही सुप्रसिद्ध 'देवयानमार्ग' है। एवं ध्रुवानुगत २४ अंशात्मक परिसर द्युलोक है, यही आत्मगति से सम्बन्ध रखने वाला 'देवस्वर्ग' है। इसी प्रकार दक्षिणभाग के ६६ के भी ४२-२४, दो विभाग कीजिए। ४२ अंशात्मक परिसर 'पितृयाण' मार्ग कहलाता है, २४ अंशात्मक परिसर (शनिकक्षानुगमन के कारण) अधोलोक (नरक) नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार १८० अंशात्मक अर्द्धखगोल में विष्वद्वृत्त को मूल प्रतिष्ठा मान कर '$(४८^{१})-(४२^{२}.२४^{३})-(४२^{४}.२४^{५})$'+(१८०) पांच विभाग हो जाते हैं, जो कि क्रमशः १-भूलोक, २-देवयान, ३-देवस्वर्ग, ४-पितृयाण, ५-अधोलोक, नामों से प्रसिद्ध हैं। जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

लोकमण्डलपरिलेख –
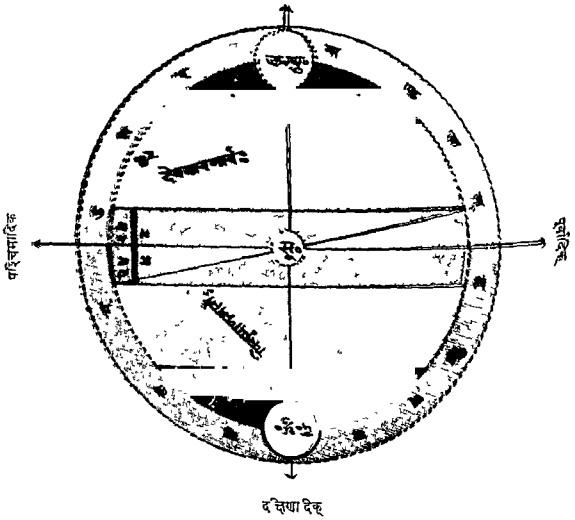
उक्त परिलेख में ४८ अंशात्मक जिस मध्य परिसर का दिग्दर्शन कराया गया है, जिस की प्रतिष्ठा विष्वद्वृत्त माना गया है, उस विष्वद्वृत्त के आधार पर ४८ के परिसर के भीतर भीतर ६ पूर्वापर वृत्त और बन जाते हैं। विष्वद्वृत्त से उत्तर की ओर १२ वें, ८ वें, ४ थे अंश पर तीन पूर्वापरवृत्त और बना डालिए, इसी प्रकार दक्षिण के २४ अंशों से १२ वें, ८ वें, ४ थे अंश पर तीन वृत्त बना डालिए। इस प्रकार ६ वृत्त बन जायँगे, सातवाँ प्रतिष्ठारूप स्वयं विष्वद्वृत्त होगा। जिस प्रकार मध्य का वृत्त 'विष्वद्' कहलाता है, एवमेव दक्षिणस्थ चौथे अंश का पूर्वापरवृत्त (मकरराशि के सम्बन्ध से) 'मकरवृत्त' कहलाया है, एवं उत्तरस्थ चौथे अंश का पूर्वापरवृत्त (कर्कराशि के सम्बन्ध से) 'कर्कवृत्त' कहलाया है। दक्षिणगोल की अन्तिम परिधि के केन्द्र में रहने वाला मकरवृत्त ही 'उत्तरायणकाल' का उपक्रम-स्थान है, एवं उत्तरगोल की अन्तिम परिधि पर रहने वाला कर्कवृत्त ही 'दक्षिणायन-काल' का उपक्रमस्थान है। इस से तात्पर्य्य यह निकला कि, उत्तरायण का आरम्भ दक्षिणगोल से, एवं समाप्ति उत्तरगोल में होती है। दक्षिणायन का आरम्भ उत्तरगोल से, एवं समाप्ति दक्षिणगोल में होती है।

ये ही सातों वृत्त वैदिक परिभाषा में (दक्षिण से उत्तर की ओर के क्रम से) क्रमशः **'१–गायत्री, २–उष्णिक् ३–अनुष्टुप्, ४–बृहती, ५–पङ्क्ति, ६–त्रिष्टुप् ७–जगती'** इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। इन में मध्य का पूर्वापरवृत्त ही वृत्तपरिभाषानुसार—'विष्वद्वृत्त' कहलाया है, छन्दःपरिभाषा के अनुसार यही 'बृहती' कहलाया है, एवं दिव्याश्वपरिभाषा के अनुसार 'ऐतश' कहलाया है। इसी 'ऐतश' के सम्बन्ध से 'ऐतशप्रलाप' नामक एक याज्ञिक कर्म्म होता है, जिस का वैज्ञानिक रहस्य यज्ञग्रन्थों में ही द्रष्टव्य है। अस्तु, प्रकृत में यही कहना है कि, ये सातों वृत्त, किंवा सातों छन्द ही ७२० अहोरात्रों के (३६० दिन, ३६० रात्रियाँ) जनक बनते हैं, अतएव इन्हें 'अहोरात्रवृत्त' भी कहा जाता है। छन्दोविज्ञान के अनुसार उक्त सातों छन्द क्रमशः $\frac{१}{६-}$ $\frac{२}{७-}$ $\frac{३}{८-}$ $\frac{४}{९-}$ $\frac{५}{१०-}$ $\frac{६}{११-}$ $\frac{७}{१२-}$ इन अक्षरसंख्याओं में विभक्त हैं। छन्द का प्रत्येक चरण षड्-सप्तादि अक्षर युक्त है, एवं प्रत्येक छन्द के चूंकि ४-४ चरण होते हैं, अतएव प्रत्येक छन्द की क्रमशः $\frac{१}{२४-}$ $\frac{२}{२८-}$ $\frac{३}{३२-}$ $\frac{४}{३६-}$ $\frac{५}{४०-}$ $\frac{६}{४४-}$ $\frac{७}{४८-}$ ये अक्षरसंख्या हो जाती है।

यह कहा जा चुका है कि, सात देवच्छन्दों में मध्यस्थ बृहती-छन्द के उत्तर-दक्षिण-पार्श्व के ३-३-छन्द (वृत्त) क्रमशः १२ वें, ८ वें, तथा ४ थे अंश पर प्रतिष्ठित हैं। इस से यह निष्कर्ष निकला कि, दक्षिणगोल के चौथे अंश से सम्बन्ध रखने वाला षडक्षर गायत्रीछन्द, एवं उत्तरगोल के चौथे अंश से सम्बन्ध रखने वाला द्वादशाक्षर जगतीछन्द, दोनों समानांश-सम्बन्ध की अपेक्षा से समतुलित है, सम्बन्धी है। इसी प्रकार दक्षिणस्थ ८ अंश सम्बन्धी सप्ताक्षर उष्णिक्छन्द, उत्तरस्थ ८ अंश सम्बन्धी एकादशाक्षर त्रिष्टुप्छन्द, दोनों समतुलित हैं। एवमेव दक्षिणस्थ १२ अंश सम्बन्धी अनुष्टुपछन्द, उत्तरस्थ १२ अंश सम्बन्धी पङ्क्तिछन्द, दोनों समतुलित हैं। मध्यस्थ बृहतीछन्द सर्वप्रतिष्ठा बनता हुआ सब का सम्बन्धी है, सब से समतुलित है।

गायत्री-जगती, दोनों का एक युग्म, उष्णिक्-त्रिष्टुप्, दोनों का एक युग्म, एवं अनुष्टुप्-पङ्क्ति, दोनों का एक युग्म, इस प्रकार ३ युग्म हो जाते हैं। इन तीनों युग्मछन्दों की अक्षर-संख्या का यदि संकलन किया जाता है, तो प्रत्येक युग्म की ७२-७२ संख्या हो जाती है। मध्यस्थ बृहतीछन्द स्वयं एकाकी ही पाङ्क्त-सम्वत्सर यज्ञ द्वारा पञ्चधा ७२-७२ संख्याओं में परिणत होता हुआ सर्वछन्दोवितान की मूलप्रतिष्ठा बन रहा है। 'बार्हतो वै सम्वत्सरः' के अनुसार बृहतीछन्दोऽवच्छिन्न सौर-प्राणमण्डल ही सम्वत्सर है। एक सम्वत्सर यज्ञ में ७२-७२ अहोरात्र के हिसाब से ३६० अहोरात्रों की ५ ऋतु हैं। पञ्चचितिविज्ञानानुसार पांचों (७२ कलात्मक) ऋतुओं का अन्ततोगत्वा ७२ पर पर्य्यवसान है, जो कि ७२ की समष्टि पूर्णभाव (० शून्यभाव) के समन्वय से (७२-०) ७२० संख्या में परिणत हो रही है। ३६० अहः, ३६० रात्रियां, सम्भूय एक सम्वत्सर चक्र में ७२० पर्व हो जाते हैं। अवश्य ही इस संख्या-चक्र से विषय का पूरा पूरा स्पष्टीकरण नहीं हो रहा। परन्तु विस्तारभय ही इस का प्रतिबन्धक बन रहा है। जिन्हें इस विषय की विशेष जिज्ञासा हो, उन्हें 'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डा'न्तर्गत 'प्राजापत्यवेदमहिमा' नामक प्रकरण के 'बृहती, और बृहतीसहस्र' नामक परिच्छेद में देखना चाहिए। प्रकृत में इन ७२ संख्याओं के सम्बन्ध में केवल यही कहना है कि, जहां तीन छन्दोयुग्म दो दो छन्दों के सहयोग से द्वासप्ततिभाव में परिणत हैं, वहां मध्यस्थ बृहतीछन्द स्वयं अपनी प्राणव्याप्ति से ही द्वासप्ततिभावात्मक बन रहा है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

सप्ताहोरात्रवृत्तपरिलेखः—
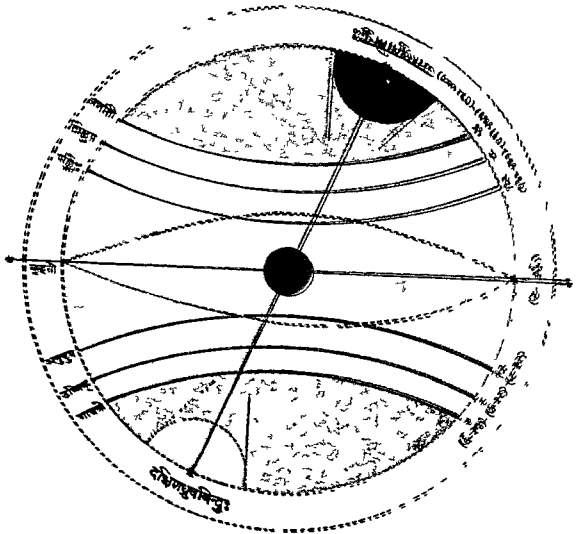
सप्त वै देवच्छन्दांसि—

(१)—७—जगती—द्वादशाक्षरा (१२×४=४८) ४ अंश
[illegible] एकादशाक्षरा (११×४=४४) ८ अंश
(३)—५—पङ्क्तिः—दशाक्षरा (१०×४=४०) १२ अंश
(उत्तरमण्डलम्)

(१)—४—बृहती—नवाक्षरा (९×४=३६) } ——————सर्वप्रतिष्ठा

(३)—३—अनुष्टुप्—अष्टाक्षरा (८×४=३२) १२ अंश
(२)—२—उष्णिक्— सप्ताक्षरा (७×४=२८) ८ अंश
(१)—१—गायत्री— षडक्षरा (६×४=२४) ४ अंश
(दक्षिणमण्डलम्)

१ (१)—७—जगती—द्वादशाक्षरा— १२×४=४८
(२)—१—गायत्री—षडक्षरा — ६×४=२४ } =४८+२४=७२-(७२०-अहोरात्राणि)

२ (१)—६—त्रिष्टुप्—एकादशाक्षरा—११×४=४४
(२)—२—उष्णिक्—सप्ताक्षरा — ७×४=२८ } =४४+२८=७२-(७२० अहोरात्राणि)

३ (१)—५—पङ्क्ति—दशाक्षरा— १०×४=४०
(२)—३—अनुष्टुप्—अष्टाक्षरा— ८×४=३२ } =४०+३२=७२-(७२०-अहोरात्राणि)

४ (१)—४—बृहती— नवाक्षरा—९-१८×४=७२ }—........ ७२-(७२०-अहोरात्राणि)

इन सातों छन्दों में नवाक्षर बृहती-छन्द ही इतर ६ ओं छन्दों की मूलप्रतिष्ठा है, यह कहा जा चुका है। यदि इस सम्बन्ध मे यह भी कह दिया जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी कि, एकमात्र बृहतीछन्द के वितान से ही इन शेष छन्दों का वितान हुआ है। यही मध्यप्राणात्मक मुख्य छन्द है। यही ७२० अहोरात्रों का विभाजक बनता हुआ अहोरात्रवृत्त कहला रहा है। यही खस्वस्तिक, अध स्वस्तिक, उदयविन्दु, अस्तविन्दु, इन चारों भावों की प्रतिष्टा है। यही अपने ऋजुभाव के कारण वर्ष में दो दिन सम-अहोरात्र का प्रवर्त्तक

बनता है। इसी के धर्म्मों का शेप ६ ओं छन्दों में नमन (गमन) होता है। इसी के सम्बन्ध से शेप तीनों युग्म ७२० विभक्तियों से युक्त रहते हैं। कुटिलमार्गानुगामी, अतएव अहोरात्रों को छोटा-बड़ा करनेवाले ६ ओं छन्दों में इसी के धर्म्मों का नमन हो रहा है।

बृहतीछन्द नवाक्षर है। नवाक्षर बृहतीछन्द के '९—९—९—९' इन चार संस्थाओं की अपेक्षा से बृहतीवृत्त '९०—९०—९०—९०' इन चार भागों में परिणत होता हुआ ३६० अंशों में विभक्त हो जाता है। ये ही ३६० अंश ३६० दिनों के स्वरूप समर्पक बनते हैं। **'अह्नां विभक्तयो रात्रयः'** इस आप्त सिद्धान्त के अनुसार अहर्विभाजिका, सोमप्राणमयी, ३६० विभक्तियाँ हीं ३६० रात्रियाँ हैं। सम्भूय ७२० अहोरात्रवृत्त बन जाते हैं। इस प्रकार बृहतीछन्द ही अपनी अक्षर महिमा से अहोरात्र का अध्यक्ष बन रहा है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

स्वस्तिकपरिलेखः—
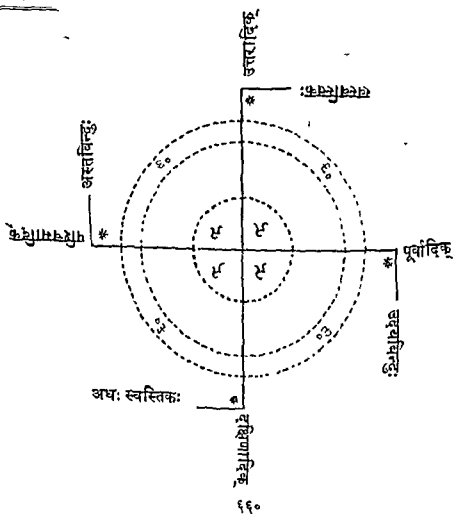
'सूर्य्यो बृहती मध्यूदस्तपति'—'नैवोदेता नास्तमेता, मध्ये एकल एव स्थाता' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार सहस्राशु सूर्य्य इसी नवाक्षर, स्वस्तिकस्वरूपसम्पादक, बृहतीछन्द के केन्द्र में प्रतिष्ठित है। इस बृहतीछन्द की पूर्वापर दोनों सीमाओं को छूता हुआ, विष्वत् से उत्तर के चौवीसवें, तथा विष्वत से दक्षिण के चौवीसवें अंश से स्पर्श करता हुआ जो एक तिर्य्यक् (तिरछा) वृत्त बनता है, वही 'क्रान्तिवृत्त' नाम से प्रसिद्ध है। इसी वृत्त पर पृथिवी अपने स्वाक्षपरिभ्रमण से दैनंदिनगति की अधिष्ठात्री बनती हुई साम्वत्सरिकगति किया करती है। २४ अंशों के उच्चावचभावों से ही यह वृत्त तिर्य्यक् है। क्रान्तिवृत्त के तिर्य्यक् भाव के कारण ही दिन-रात-ऋतु-आदि मे उच्चावचभाव उत्पन्न होते हैं।

विष्वद्वृत्त की प्रत्येक विन्दु से उत्तरध्रुव ६० अंश पर है, अतएव इसे 'विष्वद्वृत्तीयपृष्ठीकेन्द्र' कहा जाता है। एवं क्रान्तिवृत्त की प्रत्येक बिन्दु से ९० अंश पर 'कदम्ब' है, अतएव इसे 'क्रान्तिवृत्तीयपृष्ठीकेन्द्र' कहा जाता है। विष्वत्, और क्रान्तिवृत्त का चौवीस अंश का अन्तर है। अतएव तत्पृष्ठीकेन्द्ररूप ध्रुव, तथा कदम्ब का भी २४ का ही अन्तर है। २४ अंश के व्यासार्ध से ध्रुवविन्दु इस कदम्ब के चारों ओर परिक्रमा लगाया करती है। एव ध्रुव की यह परिक्रमा २५००० वर्ष मे पूरी होती है। ध्रुव का चूंकि विष्वत् से सम्बन्ध है, ध्रुव परिभ्रमणशील है, अतएव पार्थिव विष्वत् भी बदलता रहता है। इसी परिवर्त्तन को अयनपरिवर्त्तन कहा जाता है। यह क्रान्तिवृत्त अपने त्रिकेन्द्रभाव के कारण 'दीर्घवृत्त' है। तीन केन्द्रों से ही दीर्घवृत्त का स्वरूप निष्पन्न होता है। साथ ही यह क्रान्तिवृत्त अजर (अपरिवर्त्तनीय) है, अनर्वा (अशिथिल) है। यही क्रान्तिवृत्त उस हिरण्मय (आग्नेय) रथ का एक पहिया है, जोकि रथरूप सम्वत्सराग्नि ४८ अंश के परिसर में व्याप्त है। उक्त सातों छन्द हीं इस रथ के वाहक सात अश्व हैं। विष्वद्वृत्त नामक एक ही अश्व ने शेष ६ ओं छन्दों में अपने धर्म्मों का नमन करते हुए सात रूप धारण कर रक्खे हैं, जैसा कि पूर्व मे स्पष्ट किया जा चुका है। इस प्रकार अग्निमण्डलरूप रथ, क्रान्तिवृत्तरूप रथचक्र, सप्तपूर्वापरवृत्तरूप सप्त अश्व, इन भावों से युक्त इस सम्वत्सरप्रजापति ने रोदसी-त्रैलोक्य को अपने ऊपर प्रतिष्ठित कर रक्खा है। उत्तरायण, दक्षिणायन, विष्वद्, ये तीन इसके प्रधान पर्व हैं। सम्वत्सर प्रजापति के इसी गुहानिहित स्वरूप का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्त नामा ।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः ॥

—ऋक् सं० १।१६४।२।

घनतेजोमय (सावित्राग्निमय) सूर्य्य के हिरण्मयरथ का यही संक्षिप्त विवेचन है। इसी रथ पर प्रतिष्ठित होकर सूर्य्यभगवान् (दृष्टिमण्डल की अपेक्षा से) त्रैलोक्य की परिक्रमा लगाया करते हैं। सम्वत्सरयज्ञाधिष्ठाता ये ही अंशुमाली अपनी सहस्ररश्मियों से सब का पालन-पोषण कर रहे हैं। जो महानुभाव अज्ञानतावश 'पुराण' की उपादेयता पर शङ्का करते हुए प्रायश्चित्त के भागी बन रहे हैं, उनके उद्बोधन के लिए वेदोक्त सौर-सम्वत्सर-चक्र का निरूपण करने वाले पुराण के कुछ एक वचन उद्धृत किए जाते हैं। इनसे उन्हें विदित होगा कि, जिन प्राकृतिक तत्त्वों का वेदशास्त्र सङ्केतभाषा में दिग्दर्शन कराता है, उन्हीं तत्त्वों का पुराणशास्त्र विस्पष्ट भाषा में प्रतिपादन कर रहा है। देखिए !

१—नक्षत्रग्रहसोमानां प्रतिष्ठा योनिरेव च ।
ऋक्षचन्द्रग्रहाः सर्वे विज्ञेयाः सूर्य्यसम्भवाः ॥
२—नक्षत्राधिपतिः सोमो ग्रहराजो दिवाकरः ।
शेषाः पचग्रहा ज्ञेया ईश्वराः कामरूपिणः ॥

—वायुपुराण ५० अ० ।

३—आदित्यमूलमखिलं त्रैलोक्यं नात्र संशयः ।
भवत्यस्य जगत्कृत्स्नं सदेवासुरमानुषम् ॥
४—रुद्रेन्द्रोपेन्द्रचन्द्राणां विप्रेन्द्राग्निदिवौकसाम् ।
द्युतिर्द्युतिमतां कृत्स्ना यत्तेजः सार्वलौकिकम् ॥

६—सर्वात्मा, सर्वलोकेशो मूलं परमदैवतम् ।
ततः सञ्जायते सर्वं तत्र चैव प्रलीयते ॥

७—भावाभावौ हि लोकानामादित्यान्निःसृतौ पुरा ।
जगज्ज्ञेयो ग्रहो विप्रा दीप्तिमान् सुग्रहो रविः ॥

८—यत्र गच्छन्ति निधनं जायन्ते च पुनः पुनः ।
क्षणा मुहूर्त्ता दिवसा निशा पक्षाश्च कृत्स्नशः ॥

९—मासाः सम्वत्सराश्चैव ऋतवोऽब्दयुगानि च ।

१०—स एव कालाग्निश्च द्वादशात्मा प्रजापतिः ।
तपत्येष द्विजश्रेष्ठास्त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥

—वायुपुरान, ५३ अ० ।

११—सूर्य्य[1] एव तु वृष्टीनां स्रष्टा समुपदिश्यते ॥

१२—ध्रुवेणाऽऽवेष्टितः सूर्य्यस्ताभ्यां वृष्टिः प्रवर्त्तते ।
ध्रुवेणाऽऽवेष्टितो वायुर्वृष्टिं[2] संहरते पुनः ॥

१३—'अतः सूर्य्यरथस्यास्य सन्निवेशं निबोधत ।
संस्थितेनैकचक्रेण पञ्चारेण त्रिनाभिना ॥

---

१ "अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति, मरुतः सृष्टान्नन्ति, यदा खल्वसावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यैति, अथ वर्षति" (श्रुतिः)-"आदित्याज्जायते वृष्टिः" (स्मृतिः)

२ "वायुर्वै वृष्ट्या ईशे" (श्रुतिः)—"वायुनैवोद्धृतं तोयं वायुरेव प्रवर्षति" (कादम्बिनी)

१४—हिरण्मयेन[1] भगवान् पर्वणा तु महौजसा।
नष्टवर्माऽन्धकारेण पट्प्रकारैकनेमिना॥

१५—चक्रेण भास्वता सूर्यः स्यन्दनेन प्रसर्पति॥

१६—दशयोजनसाहस्रो विस्तारायामतः स्मृतः।
द्विगुणोऽस्य रथोपस्थादीषादण्डप्रमाणतः॥

१७—स तस्य ब्रह्मणा सृष्टो रथो ह्यर्थवशेन तु।
असङ्गः काञ्चनो दिव्यो युक्तः परमगैर्हयैः॥

१८—छन्दोभिर्वाजिरूपैस्तु यतः शुक्रस्ततः स्थिरः।
वरुणस्यन्दनस्येह लक्षणैः सदृशस्तु सः॥

१९—तेनासौ सर्पति व्योम्नि भास्वता तु दिवाकरः।

२०—अथेमानि तु सूर्यस्य प्रत्यङ्गानि रथस्य तु।
सम्वत्सरावयवैः कल्पितानि यथाक्रमम्॥

२१—अहस्तु नाभिः सूर्यस्य एकचक्रः स वै स्मृतः।
आराः पञ्चर्त्तवस्तस्य नेमिः षडृतवः स्मृताः॥

२२—रथनीडः स्मृतो ह्यब्दस्त्वयने कूबरावुभौ।
मुहूर्त्ता वन्धुरास्तस्य शम्या तस्य कलाः स्मृताः॥

१—आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्मयेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥

—यजुः सं० ३३।४३।

२३—तस्य काष्ठाः स्मृता घोणा ईषादण्ड क्षणास्तु वै।
निमेषाश्चानुकर्षोऽस्य ईषा चास्य लवाः स्मृताः॥

२४—रात्रिर्वरूथो धर्म्मोऽस्य ध्वज उर्ध्वः समुच्छ्रितः।
युगाक्षकोटी ते तस्य अर्थकामावुभौ स्मृतौ॥

२५—सप्ताश्वरूपोश्छन्दांसि वहन्ते वामतो धुरम्।
गायत्री चैव त्रिष्टुप् च अनुष्टुप् जगती तथा॥

२६—पङ्क्तिश्च बृहती चैव उष्णिक् चैव तु सप्तमम्।
अक्षे चक्रं निबद्धं ध्रुवे त्वक्षः समर्पितः॥

२७—सहचक्रो भ्रमत्यक्षः सहाक्षो भ्रमति ध्रुवः।
अक्षः सहैव चक्रेण भ्रमतेऽसौ ध्रुवेरितः॥

२८—एवमर्थवशात्तस्य संनिवेशो रथस्य तु।
तथा संयोगभागेन संसिद्धो भास्वरो रथः॥
तेनासौ तरणिर्देवस्तरसा सर्पते दिवि॥

—वायुपुराण ५१ अ०।

२९—इत्येष एकचक्रेण सूर्य्यस्तूर्णं रथेन तु।
भद्रैस्तैरक्षतैरश्वैः सर्पतेऽसौ दिवि क्षये॥

३०—अहोरात्राद्रथेनाऽसौ एकचक्रेण तु भ्रमन्।
सप्तद्वीपसमुद्रान्तं सप्तभिः सप्तभिर्हयैः॥

३१—छन्दोभिरश्वरूपैस्तैर्यतश्चक्रं ततः स्थितैः ।
कामरूपैः सकृद्यु क्तैरमितैस्तैर्मनोजवैः ॥
३२—ग्रथितैर्वचोभिरग्र्यैः स्तूयमानो महर्षिभिः ।
सेव्यते गीतनृत्यैश्च गन्धर्वैरप्सरोगणैः ॥
३३—पतङ्गः पतगैरश्वैर्भ्रममाणो दिवस्पतिः ॥

—वायुपुराण ५२ अ० ।

३४—सूर्य्याचन्द्रमसोर्दिव्ये मण्डले भास्वरे खगे ।
ज्वलत्तेजोमये शुक्ले वृत्तकुम्भनिभे शुभे ॥
३५—घनतोयात्मकं तत्र मण्डलं शशिनः स्मृतम् ।
घनतेजोमयं शुक्लं मण्डलं भास्करस्य तु ॥
३६—विशन्ति सर्वदेवास्तु स्थानान्येतानि सर्वशः ।
मन्वन्तरेषु सर्वेषु ऋक्षसूर्य्यग्रहाश्रमाः ॥

—वा० पु० ५३ अ० ।

इसके अतिरिक्त इसी सम्वत्सर मण्डल में सात कक्षावृत्त और होते हैं। नाड़ीवृत्त ही कक्षावृत्त कहलाते हैं। इन्हीं के लिए 'सप्तस्वसारः' शब्द प्रयुक्त हुआ है । बुध, शुक्र, चन्द्रमा, ये तीन अन्तर्ग्रह हैं, एवं मङ्गल, बृहस्पति, शनि, ये तीन बहिर्ग्रह हैं। दोनों विभागों के मध्य में पृथिवी है। बुधादि ६ ओं ग्रहों की प्रतिष्ठा भृगु-अङ्गिरा ही मानें गए हैं। भृगु के 'आपः-वायु सोम' ये तीन रूप मानें गए हैं, एवं अङ्गिरा-अग्नि, यम, आदित्य, इन तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। बुध-भार्गव-शिववायुरूप है, शुक्र भार्गव आपोमय है, चन्द्रमा भार्गव सोममय है, मङ्गल आङ्गिरस अग्निमय है, बृहस्पति आङ्गिरस आदित्यमय है, एवं शनि-आङ्गिरस यमवायुप्रधान है। सूर्य्य के चारों ओर बुध परिक्रमा लगाता है। बुध के अन-

न्तर शुक्र, शुक्र के अनन्तर सचन्द्रा पृथिवी, पृथिवी के अनन्तर मङ्गल, तदनन्तर बृहस्पति, तदनन्तर शनि की परिक्रमा होती है। सर्वान्त में नक्षत्र-मण्डल है। इन विवर्त्तों में से सूर्य्य, तथा पृथिवी, ये दोनों तो सम्वत्सर के स्वरूप में ही अन्तर्भुक्त हैं। शेष सात वृत्त बच जाते हैं। ये ही सप्त नाड़ीवृत्त माने गए हैं। इन सातों के क्रमशः 'सुषुम्णा,' हरिकेश, विश्वकर्म्मा, विश्वश्रवा, संयद्वसु, अर्वाग्वसु, स्वराट्,' ये नाम हैं। नाड्यात्मक ये सातों प्राण सूर्य्य से निकल कर बुधादिग्रहों से युक्त होते हैं। अतएव इन्हें सूर्य्यस्वसा मान लिया गया है। इन्हीं मार्गों के द्वारा सूर्य्य-महप्राणों का परस्पर गमनागमन होता है। जिस प्रकार पूर्वप्रतिपादित सात पूर्वापरवृत्तों (गायत्री आदि सात छन्दों) ने चक्र का वहन कर रक्खा है, एवमेव सात नाड़ीवृत्त भी वही वाहन-कर्म्म कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त सुप्रसिद्ध सूर्य्य की सात रश्मियाँ भी इसी कर्म्म की अनुगामनीं बन रहीं हैं। इन्हीं सप्तरश्मियों को 'सप्त गौ' कहा जाता है। इस प्रकार सात कक्षावृत्त (नाड़ीवृत्त), सात पूर्वापरवृत्त, सात रश्मियाँ, इन २१ पर्वों से सम्वत्सर यज्ञ का स्वरूप निष्पन्न हो रहा है। इसी रहस्य का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

१—तेषां श्रेष्ठाः पुनः सप्त रश्मयो ग्रहयोनयः।
१-सुषुम्णा २-हरिकेशश्च ३-विश्वकर्म्मा तथैव च॥ १॥
४-विश्वश्रवाः पुनश्चान्यः ५-संयद्वसुरतः परम्।
६-अर्वावसुः पुनश्चान्यः ७-स्वराडन्यः प्रकीर्त्तितः॥ २॥
सुषुम्णा सूर्य्यरश्मिस्तु क्षीणं शशिनमेधयत्।
तिर्य्यगूर्ध्वप्रचारोऽसौ सुषुम्णः परिकीर्त्तितः॥ ३॥
हरिकेशः पुरस्त्वाद्या ऋक्षयोनिः प्रकीर्त्तिता।
दक्षिणे विश्वकर्म्मा तु रश्मिर्वर्द्धयते बुधम्॥ ४॥
विश्वश्रवास्तु यः पश्चात्-शुक्रयोनिः स्मृतो बुधैः।
संयद्वसुस्तु यो रश्मिः सा योनिर्लोहितस्य तु॥ ५॥

इमं* रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्तवहन्त्यश्वाः।
सप्त स्वसारो अभिसंनवन्ते यत्र गवां निहिता सप्त नाम॥

—ऋक् सं० १।१६४।३

पञ्चस्त्ववर्वाग्वसुरश्मिर्योनिस्तु स बृहस्पतेः।
शनैश्चरं पुनश्चापि रश्मिराप्यायते स्वराट्॥ ६॥
एवं सूर्य्यप्रभावेण ग्रह-नक्षत्रतारकाः।
वर्द्धन्ते विदिताः सर्वा विश्वं चेदं पुनर्जगत्॥ ७॥

—वायुपुराण, ५० अ०-ज्योतिष्प्रचारप्रकरण।

*—इसके अतिरिक्त निम्न लिखित ऋङ्मन्त्र भी इसी सम्वत्सर का स्वरूप प्रतिपादन कर रहे हैं। विस्तार भय से यहां इनके अर्थों का निरूपण नहीं किया जा सकता। अग्न्यात्मक, तथा कालात्मक संम्वत्सर के सम्यक् परिज्ञान के लिए 'अस्यवामीयसूक्तविज्ञानभाष्य' नामक स्वतन्त्र निबन्ध ही देखना चाहिए—

१—द्वादशारं न हि तज्जराय वर्वर्त्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः॥
२—पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षळर आहुरर्पितम्॥
३—पञ्चारे चक्रे परिवर्त्तमाने तस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्य्यते सनाभिः॥
४—सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति।
सूर्य्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा॥

—ऋक्सं० १।१६४—अस्यवामीयसूक्त।

ग्रहपरिलेखः—

(१)—७—शनिः	वायुः	(यमवायुराङ्गिरसः)	—बहिर्ग्रहाः
६—बृहस्पतिः	आदित्यः	(आङ्गिरसः)	
५—मङ्गलः	अग्निः	(आङ्गिरसः)	
४—पृथिवी	अग्निः	(आङ्गिरसः)	—भूमिः
३—चन्द्रमाः	सोमः	(भार्गवः)	—अन्तर्ग्रहाः
२—शुक्रः	आपः	(भार्गवः)	
१—बुधः	वायुः	(शिववायुर्भार्गवः)	
सूर्य्यः	अग्निः	(आङ्गिरसः)	—प्रतिष्ठा

(२)—१—विश्वकर्म्मा	बुधनाड़ी
२—विश्वश्रवा	शुक्रनाड़ी
३—सुषुम्णा[1]	चन्द्र-पृ० नाड़ी

१ पृथिवीसम्बन्धात् सैव नाड़ी-'अदितिः', चन्द्रसम्बन्धात् सैव सुषुम्णा।

४—संयद्वसुः मङ्गलनाडी
५—अर्वाग्वसु' बृहस्पतिनाडी
६—स्वराट् शनिनाडी
७—हरिकेश. नक्षत्रनाड़ी -

सप्ताश्व-सप्त नाडीवृत्त-सप्तरश्मि सम्बन्ध से सम्वत्सर यज्ञ के २१ पर्व बतलाए गए हैं। इस के अतिरिक्त १२ मास, ५-ऋतु,[१] ३-लोक, २१ वा स्वय सूर्य, इस दृष्टि से भी सम्वत्सरयज्ञ पुरुष को एकविंशावयव माना जा सकता है। यही सम्वत्सरयज्ञ चूकि पुरुषयज्ञ की प्रतिष्ठा बनता है, अतएव पुरुषयज्ञ के भी शिर-प्राणादि २१ ही पर्व होते हैं। इसी प्राकृतयज्ञ के आधार पर वैधयज्ञ का वितान होता है। अतएव 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या' इस आदेश के अनुसार इस मनुष्यकृत वैधयज्ञ के भी प्रणीता-इध्मादि २१ ही पर्व होते हैं। इन सब यज्ञरहस्यों का स्पष्टीकरण तो यज्ञग्रन्थों में ही देखना चाहिए। यहा प्रकरणसङ्गति के लिए इन की तालिका मात्र उद्धृत कर दी जाती है।

सम्वत्सरयज्ञपरिलेखः—

---
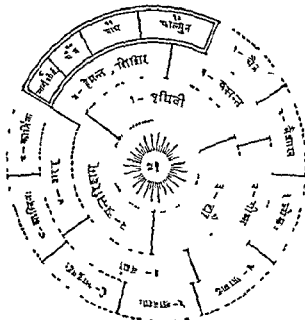
१ यद्यपि पूर्व में ऋतु ६ बतलाई गई हैं। परन्तु पाङ्क्तयज्ञ के पांच पर्वों के सम्बन्ध से—'हेमन्त-शिशिरयोः समासेन' इस श्रुति के अनुसार हेमन्त, तथा शिशिर, दोनों को एक ऋतु मानते हुए ७२-७२

आधिदैविकयज्ञमनु-आध्यात्मिकयज्ञः			तदनु वैधयज्ञः
(१)—१—शिरः	...	प्रणीताः	पूर्वाङ्गकर्म्माणि (६) १
(२)—२—प्राणः	...	इध्मः	
(३)—३—अनूकम्	...	सामिधेन्यः	
(४)—४—वाङ्मनसी	...	आघारौ	
(५)—५—पञ्चशीर्षण्याः प्राणः	...	पञ्चप्रयाजाः	
(६)—६—चक्षुषी	...	आज्यभागौ	
(७)—१—दक्षिणोऽर्द्धः	...	आग्नेयपुरोडाशः	आवाप-(प्रधान) कर्म्माणि-(३) २
(८)—२—हृदयम्	...	उपांशुयाजः	
(९)—३—उत्तरोऽर्द्धः	...	अग्नीषोमीयपुरोडाशः	
(१०)—१—उत्तरोऽर्द्धः	...	सान्नाय्यम्	उत्तराङ्गकर्म्माणि—(१२) ३
(११)—२—अन्तरांसम्	...	स्विष्टकृत्	
(१२)—३—विपयन्त्रः	...	प्राशित्रम्	
(१३)—४—उदरम्	...	इडा	
(१४)—५—अधस्तनास्त्रयः प्राणः	...	त्रयोऽनुयाजाः	
(१५)—६—दक्षिणबाहुः	...	सूक्तवाकः	
(१६)—७—वामबाहुः	...	शंयुवाकः	
(१७)—१—, (१८)—२— द्वौ ऊरू		चत्वारः पात्नीसंयाजाः	
(१९)—३—, (२०)—४— द्वौ अष्ठीवन्तौ			
(२१)—१—पादौ	...	समिष्टयजुः	

दिन की पाच ऋतु मानलीं जातीं हैं। प्रत्येक ऋतु ७२ दिन की है। इस के १६-४०-१६, तीन पर्व हैं। प्रात सवनीय १६ दिन ऋतु की बालावस्था है, माध्यन्दिनसवनीय ४० दिन ऋतु की युवावस्था है, एवं सायसवनीय १६ दिन ऋतु की वृद्धावस्था है, जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट है।

१—दक्षिणायनम्	२—उत्तरायणम्	३—विषुवः	प्रधानसम्पत्तिः
(१)	१—प्रातःसवनम्	२—माध्यन्दिनंसवनम्	३—सायंसवनम्
(२)	१—गायत्रीछन्दः	२—त्रिष्टुप्छन्दः	३—जगतीछन्दः
(३)	१—अग्निर्देवता	२—इन्द्रोदेवता	३—विश्वेदेवादेवता
(४)	१—ब्रह्मवीर्य्यम्	२—क्षत्रवीर्य्यम्	३—विड्वीर्य्यम्
(५)	१—पृथिवीलोकः	२—अन्तरिक्षलोकः	३—द्युलोकः
(६)	१—चत्वार आत्मा (विषुवः)	२—दक्षिणः पक्षः (दक्षिणा०)	३—उत्तरः पक्षः (उत्तरा०)
(७)	१—ज्ञानशक्तिः	२—क्रियाशक्तिः	३—अर्थशक्तिः

'सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋक् सं० १०।१८६।३) इत्यादि मन्त्र-वर्णन के अनुसार सम्वत्सरयज्ञाधिष्ठाता भगवान् सूर्य्य चन्द्रमा के सहयोग से ही यथापूर्व सृष्टि रचना में समर्थ हुए हैं। अतएव सौरसम्वत्सरयज्ञ के स्वरूप का विचार करते हुए हमें चान्द्र धर्म्मों की भी मीमांसा करनी पड़ेगी। न केवल मीमांसा ही करनी पड़ेगी, अपितु उन चान्द्र धर्म्मों से युक्त सौरसम्वत्सर को ही 'सम्वत्सरयज्ञ' का पूर्ण स्वरूप माना जायगा। जिस प्रकार पृथिवी-परिभ्रमणवृत्त 'क्रान्तिवृत्त' कहलाता है, एवमेव जिस कक्षावृत्त पर चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगाता हुआ सम्वत्सरयज्ञ के साथ सम्बन्ध करता है, वह चन्द्र-परिभ्रमणवृत्त 'दक्षवृत्त' नाम से प्रसिद्ध है। जिस प्रकार सूर्य्य के अग्निमय (हिरण्मय) रथ में क्रान्तिवृत्त नामक एक चक्र (पहिया) है, एवमेव चान्द्ररथ में भी 'दक्षवृत्त' नामक एक ही चक्र है। यदि तीन मार्गों को चक्र मान लिया जाता है, तो चान्द्ररथ के तीन चक्र हो जाते हैं। अतएव कहीं कहीं पुराणों में चान्द्ररथ को त्रिचक्र भी माना गया है। मार्गों को चक्रमान लेने पर दक्षवृत्त नाड़ीवृत्तों की तरह अश्व मान लिया गया है। और इसी लक्ष्य से ६ के स्थान में १० अश्व मान लिए गए हैं, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा। जिस प्रकार सूर्य्यमण्डल में तीन पर्व हैं, एवमेव चन्द्रमण्डल में भी मार्गात्मक तीन ही पर्व हैं। अन्तर केवल अश्वों (घोड़ों) में है। सूर्य्यरथ का वहन सप्तछन्दोरूप सात अश्व करते हैं, चान्द्ररथ का वहन नाड़ीवृत्तोपलक्षित ६ अश्व करते हैं। उन्हीं का संक्षेप से दिग्दर्शन कराया जाता है।

ख—पृथिवीपरिभ्रमणपरिलेख –
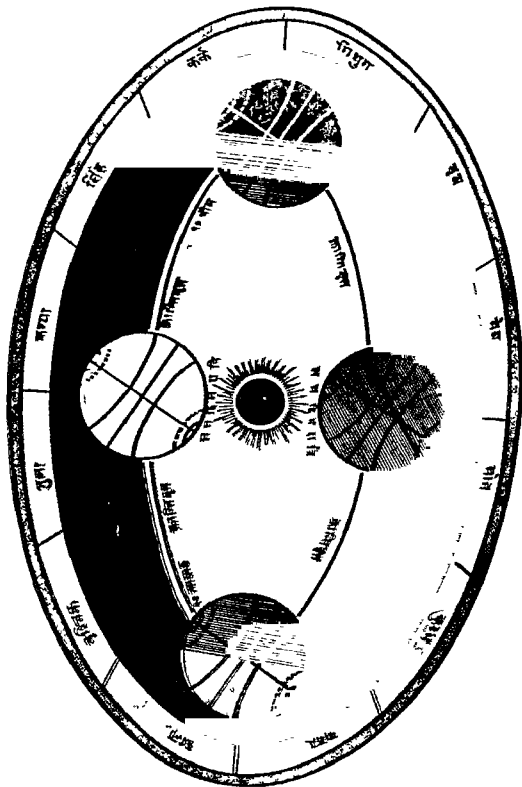
अश्विनी नक्षत्र से आरम्भ कर रेवत्यन्त २७ नक्षत्र, सम्पूर्णग्रह, आदि ४८ अंशात्मक परिसर में प्रतिष्ठित रहते हैं। इसी लिए सौरसम्वत्सर को ऋक्ष-ग्रहादि का अधिपति बतलाया जाता है। इस सम्वत्सरचक्र मे प्रतिष्ठित रहने वाले ग्रह-नक्षत्रादि के मार्ग (छन्दोऽनुवर्त्ती उच्चावचभावों की अपेक्षा से) तीन भागों में विभक्त माने गए है। खगोलीय, साम्वत्सरिक ग्रह-नक्षत्र मण्डल के 'उत्तर-मध्य-दक्षिण' भेद से तीन विभाग कीजिए। (दृश्यमण्डल की अपेक्षा से) दक्षिण की ग्रह-नक्षत्रसंस्था छोटी रहेगी, मध्य की इस से वड़ी रहेगी, एवं उत्तर की सबसे वड़ी रहेगी। इसी सादृश्य को लेकर मार्गात्मक इन तीनों विभागों को क्रमशः 'ऐरावतमार्ग-(उत्तरमार्ग),—जरद्गवमार्ग (मध्यमार्ग),–वैश्वानरमार्ग (दक्षिणमार्ग)' नामों से व्यवहृत किया गया है। 'हाथी-वैल-वकरा' तीनों की ऊँचाइ में जो अन्तर है, अथवा तीनों में जो उच्चावचभाव है, वही अन्तर इन तीनों मार्गों में है। 'ऐरावत' हाथी है, 'जरद्गव' बुड्ढा वैल है, 'वैश्वानर' वकरा है।

ये तीनों उस सम्वत्सररूप महानगर के महाराजपथ (सड़कें) हैं। राजपथ में वीथियाँ (गलियाँ) और हुआ करतीं हैं। हमारे इन तीनों राजपथों में भी प्रत्येक में तीन-तीन वीथियाँ और हैं। इन वीथियों का सम्बन्ध 'नाक्षत्रिक सर्प' के साथ माना गया है। जिस क्रम से अश्विन्यादि, रेवत्यन्त २७ नक्षत्र प्रतिष्ठित हैं, उस क्रम से नाक्षत्रिक मण्डल सर्पाकार वन जाता है। तीन मार्ग खगोलीय सम्वत्सर चक्र के तीन खण्ड हैं। प्रत्येक खण्ड में ९-९ नक्षत्रों का भोग हो रहा है। एवं प्रत्येक वीथी में अश्विन्यादि तीन तीन नक्षत्र अन्तर्भुक्त हैं। इस प्रकार तीनों मार्गों में ९ वीथियाँ, ९ वीथियों में २७ नक्षत्र उपभुक्त हैं। इन्हीं मार्गों, तथा वीथियों का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् व्यास कहते हैं—

१—'सर्वग्रहाणां त्रीण्येव स्थानानि द्विजसत्तम !
स्थानं 'जरद्गवं' मध्ये तथै-रावतमुत्तमम् ॥
२—'वैश्वानरं' दक्षिणतो निर्दिष्टमिह तत्त्वत' ॥
३—अश्विनी- कृत्तिका- याम्या,- नागवीथी' ति शब्दिता।
रोहि- ण्यार्द्रा- मृगशिरो,- 'गजवीथी' त्यभिधीयते ॥

४—पुष्यांऽऽ-श्लेषा-तथाऽऽदित्या,-वीथी 'चैरावती' स्मृता ।
एतास्तु वीथयस्तिस्र उत्तरो मार्ग उच्यते ॥
५—तथा द्वे चाऽऽर्य्यै फाल्गुन्यौ-मघा-चैवा 'र्षभी' मता ।
हस्त-श्चित्रा-तथा स्वाती,-'गोवीथी' तिच शब्दिता ॥
६—ज्येष्ठा-विशाखाऽ-नुराधा,-वीथी 'जारद्गवी' मता ।
एतास्तु वीथयस्तिस्रो मध्यमो मार्ग उच्यते ॥
७—(मूल-)-पूर्वापाढो-त्तरापाढा,-सा 'ऽजवीथ्य'भिशब्दिता ।
श्रवणं च-धनिष्ठा च-'मार्गी' शतभिषक॥
८—'वैश्वानरी'- भाद्रपदे- रेवती चैव कीर्त्तिता ।
एतास्तु वीथयस्तिस्रो दक्षिणो मार्ग उच्यते ॥'

—वायुपुराण

नववीथ्यात्मक, त्रिमार्गपरिभुक्त इन २७ नक्षत्रों की अश्विन्यादि—पूर्वभाद्रपदान्त, भरण्यादि—उत्तरभाद्रपदान्त, कृत्तिकादि रेवत्यन्त, तीन नाडियाँ हो जातीं हैं, जो कि ज्योतिःशास्त्र में क्रमशः 'आदिनाड़ी, मध्यनाड़ी, अन्तनाड़ी' नामों से प्रसिद्ध हैं। इन नाड़ियों के सम्बन्ध से ही पुराण ने इसे 'नाडीसर्प', किंवा 'नाक्षत्रिकसर्प' कहा है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

नाडीवृत्तपरिलेखः—(नाक्षत्रिकसर्पप्रतिकृतिः)।

(१)	(२)	(३)			
अश्विनी १	भरणी २	कृत्तिका ३	१	नागवीथी (१)	ऐरावतमार्गः (उत्तरमार्गः) १
(३) आर्द्रा ६	(२) मृगशिरा ५	(१) रोहिणी ४	२	गजवीथी (२)	
(१) पुनर्वसु ७	(२) पुष्य ८	(३) अश्लेषा ९	३	ऐरावतीवीथी (३)	
(३) उत्तरफल्गुनी १२	(२) पूर्वफल्गुनी ११	(१) मघा १०	४	आर्षभीवीथी (१)	जारद्गवमार्गः (मध्यमार्गः) २
(१) हस्त १३	(२) चित्रा १४	(३) स्वाती १५	५	गोवीथी (२)	
(३) ज्येष्ठा १८	(२) अनुराधा १७	(१) विशाखा १६	६	जारद्गवीवीथी (३)	
(१) मूल १९	(२) पूर्वाषाढ़ २०	(३) उत्तराषाढ़ २१	७	अजवीथी (१)	वैश्वानरमार्गः (दक्षिणमार्गः) ३
(३) शतभिषक २४	(२) धनिष्ठा २३	(१) श्रवणा २२	८	मार्गीवीथी (२)	
(१) पुर्वभाद्रपद २५	(२) उत्तरभाद्रपद २६	(३) रेवती २७	९	वैश्वानरीवीथी (३)	
आदिनाडी १	मध्यनाडी २	अन्तनाडी ३			

पाठकों को स्मरण होगा कि, अर्द्धखगोल के १८० अंशों का विभाग करते हुए हमने ४८ अंशात्मक सम्वत्सर चक्र से उत्तर-दक्षिण ४२-४२ अंशों का देवयान-पितृयाण मार्ग बतलाया था। उत्तर की सब से अन्त की वीथी नागवीथी है, दक्षिण की सब से अन्त की वीथी वैश्वानरवीथी है। इन दोनों वीथियों से उधर ही ये दोनों मार्ग है, यही स्पष्ट करता हुआ पुराण कहता है—

१—उत्तरं यदगस्त्यस्य अजवीथ्याश्च दक्षिणम्।
पितृयाणः स वै पन्था वैश्वानरपथाद्बहिः॥
२—नागवीथ्युत्तरं यश्च सप्तर्षिभ्यश्च दक्षिणम्।
उत्तरः सवितुः पन्था देवयानस्तु स स्मृतः॥

—वा० पु० ५० अ० २०८-२१६ श्लोक।

त्रिमार्ग परिभुक्त इन्हीं नौ वीथियों में नक्षत्राधिपति, अतएव 'उडुपति' नाम से प्रसिद्ध घनतोयात्मक चन्द्रमा अपने दक्षवृत्त पर परिक्रमा लगाया करता है। सूर्य्यरथ अग्निसम्बन्ध से जहां हिरण्मय था, वहां चन्द्ररथ सोम सम्बन्ध से सोममय माना गया है। जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है, यदि तीनों मार्गों को तीन चक्र मान लिया जाता है, तो चन्द्र-रथ के तीन चक्र हो जाते हैं। इस दशा में दक्षवृत्त अश्व मान लिया जाता है। फलतः ९ वीथ्यात्मक ९ अश्व, १—दक्षवृत्तात्मक अश्व, सम्भूय चान्द्ररथ के दस अश्व हो जाते हैं। परन्तु यज्ञोपवीत के सम्बन्ध से प्रकृत में हम ९ अश्वों को ही प्रधानता देंगे। घनतोयात्मक[1] इसी चान्द्ररथ का स्वरूप बतलाते हुए 'सूत' कहते हैं—

१—वीथ्याश्रयाणि चरति नक्षत्राणि तथा शशी।
ह्रासवृद्धी तथैवास्य रश्मीनां सूर्य्यवत् स्मृते॥

---

१ "घनतोयात्मकं तत्र मण्डलं शशिनः स्मृतम्।"
"तरणिकिरणसङ्गादेष पानीयपिण्डो, दिनकरदिशि चञ्चच्चन्द्रिकाभिश्चकास्ते"।

२—शतारैश्च त्रिभिश्चक्रैर्युक्तः शुक्लैर्हयोत्तमैः ॥
३—दशभिस्तु कृशैर्दिव्यैरसङ्गैस्तैर्मनोजवैः ।
सकृद्युक्ते रथे तस्मिन्वहन्ते चाऽऽयुगक्षयात् ॥
४—संगृहीतो रथे तस्मिञ्श्वेतचक्षुःश्रवास्तु वै ।
अश्वास्तमेकवर्णास्ते वहन्ते शङ्खवर्चसम् ॥
५—ययुश्च, त्रिमनाश्चैव, वृषो, राजीवलो हयः ।
अश्वो वामतुरण्यश्च, हंसो, व्योमी, मृगस्तथा ॥
६—इत्येते नामभिः सर्वे दश चन्द्रमसो हयाः ।
एते चन्द्रमसं देवं वहन्ति दिवसक्षयात् ॥
७—देवैः परिवृतः सोमः, पितृभिश्चैव गच्छति ।
सोमस्य शुक्लपक्षादौ भास्करे पुरतः स्थिते ॥

—वा० ५३ अ० ।

८—वीथ्याश्रयाणि चरति नक्षत्राणि निशाकरः ।
त्रिचक्रोभयतोऽश्वश्च विज्ञेयस्तस्य वै रथः ॥

—लिङ्गपु० ६५ अ० ।

चान्द्रमण्डलावच्छिन्न सौर सम्वत्सर मण्डल ही यज्ञप्रजापति है। इस सम्वत्सर प्रजापति के साम्वत्सरिक यज्ञ को सीमित रखनेवाला चन्द्रात्मक सूत्र ही इसका 'उपवीत' है। एवं इसी उपवीत से प्रजापति 'यज्ञोपवीती' बने हुए हैं। प्रजापति के इस यज्ञसूत्र की उत्तर-दक्षिण विषुवकालभेद से 'यज्ञोपवीत-प्राचीनावीत-निवीत' तीन अवस्था रहती हैं। यज्ञोपवीत का दैवभाव से, प्राचीनावीत का पित्र्यभाव से, तथा निवीत का मानुषभाव से सम्बन्ध है। खगोल की परिस्थिति पर दृष्टि डालिए, तीनों अवस्थाओं का स्पष्टीकरण हो जायगा।

न्तरतर ९ सूत्र हैं। प्रत्येक वीथी से सम्बन्ध रखने वाले ३-३-नक्षत्र प्रत्येक अवान्तरतर सूत्र के ३-३ अवान्तरतम सूत्र हैं। सम्भूय २७ अवान्तरतम सूत्र हो जाते हैं। उद्गीथोद्गारमूर्त्ति स्वयं सूर्य्य 'ब्रह्मग्रन्थि', किंवा 'ब्रह्मपाश' है। एवं अयनादि पृथक् पृथक् भावों से सम्बन्ध रखने वाले ९६ अवयव ही अङ्गुलि-सम्पत् है।

क्रान्तिवृत्तात्मक सम्वत्सर प्रजापति का यज्ञसूत्र अयनादि-वीर्य्यान्त ९६ भावों से, छन्द से सम्वत्सरान्त ९६ भावों से, तिथ्यादि-मासान्त ९६ भावों से युक्त है। अनुगमभाव से सम्बन्ध रखने वाले इन ९६ भावों की उत्पत्ति इसी प्रजापति से सम्बन्ध रखती है, जिन का विवेचन विस्तारभय से प्रकृत में सम्भव नहीं है। यहां केवल उनके नाम उद्धृत कर दिए जाते हैं-

(क)		(ख)		(ग)	
अयन	२	छन्द	७	तिथि[1]	१५
विषुव	१	लोक	७	वार	७
ऋतु	६	ऋषि	७	नक्षत्र	२८
मास	१२	पितर	७	तत्त्व	२४
पक्ष	२४	रश्मि	७	वेद	४
नक्षत्र	२७	ग्रह	७	गुण	३
वेद	३	नरक	७	काल	३
लोक	३	देवस्वर्ग	७	मास	१२
देव	३	द्वीप	७	अङ्गुलिसम्पत्–९६	
छन्द	३	समुद्र	७		
सवन	३	अर्चि	७		
मार्ग	३	वायु	७		
नाड़ी	३	पाताल	७		
वीर्य्य	३	महाभूत	५		
		सम्वत्सर	१		
अङ्गुलिसम्पत्–९६		अङ्गुलिसम्पत्–९६			

१ तिथि-वारश्च-नक्षत्रं-तत्त्वं-वेदा-गुणत्रयम्।
कालत्रयश्च-मासश्च-ब्रह्मसूत्रं हि षण्णव॥

क—पृथिवीपरिभ्रमणपरिलेखः—
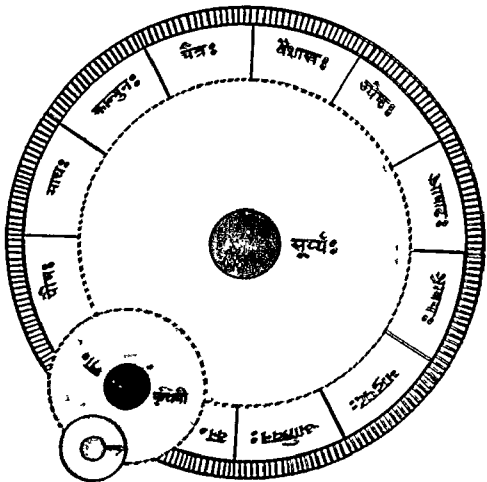
यज्ञोपवीत से सम्बन्ध रखने वाली सभी उपपत्तियों का दिग्दर्शन कराया गया। इन कुछ एक उपपत्तियों के आधार पर एततकर्म्म सम्बन्धी अन्य सभी प्रश्न गतार्थ हो जाते हैं। उदाहरण के लिए देवकर्म्म यज्ञोपवीती बन कर किया जाता है, पितृकर्म्म प्राचीनावीती बन कर किया जाता है। ऐसा क्यों ? उत्तर वही साम्वत्सरिक यज्ञसूत्र है। पितृप्राणोपलक्षित दक्षिणायन काल में इस प्राकृतिक सूत्र की जैसी स्थिति रहती है, पितृकर्म्म (श्राद्ध) में उसी प्राकृतिक स्थिति के समावेश के लिए तदनुरूप ही प्राचीनावीती बनना पड़ता है। देवप्राणोपलक्षित उत्तरायण काल में सूत्र की जैसी स्थिति है, देवकर्म्म में यज्ञसूत्र को वैसी ही स्थिति रखने से अध्यात्म का अधिदैवत के साथ सम्बन्ध हो जाता है। छन्दोविज्ञान के सम्यक् परिज्ञान के अनन्तर पाठक इस निश्चय पर पहुंचेंगे कि, प्रकृति के पर्वों का जैसा संस्थानक्रम है, यदि हमारे आध्यात्मिक कर्म्म, आध्यात्मिक पर्व उन पर्वों से, उसी संस्थान क्रम से समतुलित हो जाते हैं, तो वहाँ का बल यहां प्रविष्ट हो जाता है। इसी समतुलन के लिए छन्दःसम्पत्ति को विशेष महत्व दिया जाता है। 'भौतिकविज्ञान' को ही लीजिए। इसके सम्पूर्ण नियमोपनियम इसी छन्दःसम्पत्ति से युक्त हैं। विद्युतस्तम्भों का समसामुख्य किस प्रकार विद्युनसञ्चार का कारण बन जाता है, यह स्पष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं है। 'वायरलेस टेलीग्राफी' (बेतार का तार) के रहस्य से परिचित विद्वानों को यह मालूम है कि, इस वायुसूत्र से इतस्ततः आने जाने वाली खबरों का प्रत्यक्ष में कोई स्वरूप नहीं दीखता। फिर भी केवल विद्युतस्तम्भों के साम्मुख्य मात्र से सब काम यथावत् हो जाता है, और यही हमारी छन्दःसम्पत्ति है, जिस की मूलप्रतिष्ठा 'अथर्वासूत्र' कहलाता है। कहना तो दुःस्साहस ही माना जायगा। अवश्य ही वैदिक तत्त्वों को भुला देने से आज हमारे इस अभिमान का कोई मूल्य नहीं है। फिर भी जब प्रत्यक्षरूप में हमें इन प्राकृतिक तत्त्वों का मूल अपनें ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, तो उसे उद्धृत करने की इच्छा हो ही जाती है। बेतार के तार को देख कर आज हम आश्चर्य्य में डूब जाते हैं। डूबना भी चाहिए, जब कि अपनी सम्पत्ति को हमनें सर्वात्मना जलाञ्जलि समर्पित कर पराश्रय को ही जीवन का परमपुरुपार्थ मान लिया है। जब हम अपनें पूर्वजों से इस सम्बन्ध में पूंछनें जाते हैं, तो वे उत्तर देते हैं—

सोऽब्रवीत्—पतञ्जलं काप्यं, याज्ञिकांश्च—'वेत्थ नु त्वं काप्य ! तत् सूत्रं, यस्मिन्नयं च लोकः, परश्च लोकः, संदृब्धानि भवन्ति ? इति'। सोऽब्रवीत् पतञ्जलः—'नाहं तद्भगवन् वेद'-इति। सोऽब्रवीत्

पतञ्जलं काप्यं, याज्ञिकांश्च—'यो वै तत् काप्य ! सूत्रं विद्यात्, तं चान्तर्यामिणं, स ब्रह्मवित्, स लोकवित्, स देववित्, स यज्ञवित्, स भूतवित्, स आत्मवित्, स सर्ववित्, इति तेभ्योऽब्रवीत्। तदहं वेद। तच्चेत्त्वं याज्ञवल्क्य ! सूत्रमविद्वांस्तं चान्तर्यामिणं, ब्रह्मगवीरुद्जसे, मूर्द्धा ते विपतिष्यति, इति। वेद वाऽहं गौतम ! तत् सूत्रं, तं चान्तर्यामिणम्। वायुर्वै गौतम ! तत् सूत्रम्। वायुना वै गौतम तत् सूत्रेण-अयं च लोकः, परश्च लोकः, सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति। तस्माद्वै गौतम ! पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रंसिषतास्यांगानि, इति। वायुना हि गौतम ! सूत्रेण संदृब्धानि भवन्ति, इति'।

—शत० ब्रा० १४।५।४।३-४-५-६।

बहुत पुरानी घटना है। "राजर्षि जनक समय समय पर अपने यहां विद्वानों को एकत्रित कर उन से वैज्ञानिक-तत्त्वों का निर्णय कराया करते थे। एक बार जनक ने प्रभूतदक्षिणसाध्य बहुत बड़ा यज्ञ किया। उस अवसर पर कुरुपञ्चाल देश के विद्वान् भी एकट्ठे हुए थे। जनक ने एक सहस्र गौ (सुवर्णमयी गौ की प्रतिमा के सिक्के) सामने रखते हुए आगत विद्वानों से यह निवेदन किया कि, आप लोगों में से जो उत्कृष्ट विद्वान् हो, वह इन्हें ले ले। परन्तु किसी विद्वान् की सहसा हिम्मत न हुई। सब एक दूसरे की ओर देखने लगे। जनक के पुरोहित याज्ञवल्क्य भी अपने 'मधुश्रवा सामश्रवा' आदि पट्ट शिष्यों के साथ वहीं बैठे थे। उन्होंने अपने ब्रह्मचारी को आदेश किया कि, 'सामश्रवा ! देखते क्या हो, ले जाओ इन गायों को अपने घर'। उसने तत्काल वैसा ही कर डाला। फिर क्या था, वहां बैठे हुए ब्राह्मण कुपित हो गए, और कहने लगे कि, 'याज्ञवल्क्य ! हमारे रहते तुम्हारा यह साहस क्यों, और कैसे हो गया। हम तुम से आज प्रश्न करेंगे, यदि तुम उनका ठीक ठीक उत्तर दे सके, तो हम तुम्हें सर्वश्रेष्ठ मानते हुए इन गायों के अधिकारी मान लेंगे, नहीं तो तुम्हें गाएं वापस करनी पड़ेगी"। कथा बहुत लम्बी चौड़ी है। आश्वल, आर्त्तभाग, भुज्यु, कहोड, उपस्त, वाचक्नवी (स्त्री) आदि विद्वान, तथा विदुषियां याज्ञवल्क्य से अनेक वैज्ञानिक प्रश्न करतीं हैं, याज्ञवल्क्य सब का यथोचित उत्तर देते हैं। आगे जाकर अरुण के पुत्र, अतएव 'आरुणि' नाम से

प्रसिद्ध 'उद्दालक' महर्षि प्रश्न करते हुए याज्ञवल्क्य से कहते हैं कि, याज्ञवल्क्य! मैं एक समय मद्रदेश में पतञ्जलकाप्य के घर में यज्ञरहस्य जानने के लिए ठहरा हुआ था। काप्य की पत्नी में आथर्वण[1] 'कबन्ध' नामक गन्धर्व का आवेश हुआ करता था। एक बार काप्य की स्त्री में आए हुए कबन्ध ने वहां बैठे हुए काप्य से, एवं अन्य याज्ञिकों से यह प्रश्न किया कि, यदि तुम जानते हो, तो बतलाओ, वह सूत्र कौन सा है, जिस से यह लोक (पृथिवी), परलोक (सूर्य्यलोक), तथा सम्पूर्ण भूत परस्पर में बद्ध हैं ? वह अन्तर्य्यामी कौन सा है, जिस से यह, वह लोक, सम्पूर्ण भूत नियन्त्रित हैं ? कबन्ध के इन दोनों प्रश्नों का कोई भी उत्तर न दे सका। कबन्ध नें इन तत्त्वों का महत्व बतलाते हुए यह कहा कि, जो सूत्र, तथा अन्तर्य्यामी के तात्त्विक स्वरूप को जानता है, वही ब्रह्मवेत्ता है, वही लोक-देव-वेद यज्ञ भूतरहस्यवेत्ता है, वही सर्ववित् है। याज्ञवल्क्य! मैं (उद्दालक) उन का रहस्य जानता हूं। यदि तुम भी जानते हो, तो बतलाओ। तभी तुम इस 'ब्रह्मगवी' के अधिकारी माने जा सकते हो, अन्यथा तुम्हारा मस्तक नीचा हो जायगा। याज्ञवल्क्य ने बड़े आवेश के साथ—'हां, गौतम! मैं अवश्य ही इन दोनों का तात्विक स्वरूप जानता हूँ' कहते हुए उत्तर देना आरम्भ किया—

> "हे गौतम! वायु ही वह सूत्र है, जिससे यह लोक, परलोक, तथा सम्पूर्ण भूत परस्पर एक दूसरे से बद्ध है। इसी वायव्य सूत्र से हमारे भौतिक शरीर के भौतिक पर्व एक दूसरे से बद्ध रहते हैं। प्राप्तकाल होने पर जब शरीर से यह सूत्र निकल जाता है, तो शरीर के सब पर्व बिखर से जाते हैं। सबका पारस्परिक सम्बन्ध टूट जाता है। इसीलिए प्रेतशरीर के सम्बन्ध में यह लोकप्रसिद्धि है कि,—'इसके अङ्ग विस्रस्त हो गए, बिखर गए"।

इस आख्यान श्रुति से यह स्पष्ट हो रहा है कि, वायव्यसूत्र न केवल पृथिवीलोक में ही व्याप्त है, अपितु परलोक तक इस सूत्र का साम्राज्य है। इसी सूत्र के द्वारा इस लोक के भूत-भौतिक पदार्थों का तो आकर्षण किया ही जा सकता है, साथ ही परलोकगत प्रेतात्माओं, तथा परलोक के अन्य ग्रह-नक्षत्रादि प्राकृतिक पदार्थों के साथ भी छन्दोमर्य्यादा के आधार पर सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। इसी सम्बन्ध-सूत्र के द्वारा हम इस पृथिवी पर बैठे बैठे

---

[1] भूतयोनि में रहनें वाले गन्धर्वादि प्राण परकायों में प्रवेश कर उपद्रव मचाया करते हैं, यह प्रसिद्ध ही है।

ही छन्द-देवता-ऋषि-उच्चावच स्वरलहरी आदि भावों से युक्त मन्त्रशक्ति द्वारा उन प्राकृतिक तत्त्वों का समसाम्मुख्य प्राप्त करते हुए यदि उनकी दिव्यशक्तियाँ अपने अध्यात्म में प्रतिष्ठित कर लेते हैं, तो इसमें कोई आश्चर्य्य नहीं है। वातरश्मियों के इसी व्यापक सम्बन्ध को लक्ष्य में रख कर पुराण कहता है—

१—'एते वाह्या ग्रहाणां वै मया प्रोक्ता रथैः सह।
सर्वे ध्रुवनिवद्धास्ते प्रवद्धा 'वातरश्मिभिः' ॥
२—एते वै भ्राम्यमाणास्तु यथायोगं भ्रमन्ति वै।
'वायव्याभिरदृश्याभिः प्रबद्धा वातरश्मिभिः ॥
३—परिभ्रमन्ति तद्बद्धा चन्द्रसूर्य्यग्रहा दिवि।
भ्रमन्तमनुगच्छन्ति ध्रुवं ते ज्योतिषां गणाः ॥
४—यथा नद्युदके नौस्तु सलिलेन सहोह्यते।
तथा देवालया ह्येते उह्यन्ते वातरश्मिभिः ॥
५—यावत्यश्चैव तारास्तु तावन्तो वातरश्मयः।
सर्वा ध्रुवनिवद्धास्ता भ्रमन्त्यो भ्रामयन्ति तं ॥
—ध्रुवम्।
६—तैलपीडाकरं चक्रं भ्रमद् भ्रामये यथा।
तथा भ्रमन्ति ज्योतींषि वातवद्धानि सर्वशः ॥
७—अलातचक्रवद्यान्ति वातचक्रेरितानि तु।
यस्माज्ज्योतींषि वहते 'प्रवहं' स्तेन सस्मतः ॥'
—वायुपुराण ५३ अ०।

अथर्वात्मक इस वायव्य सूत्र के आधार पर ही तन्त्रशास्त्रोक्त आकर्षणादि प्रयोग प्रतिष्ठित हैं। यहाँ तक कि, पहिने वस्त्र, केश, नख आदि में अनुशयरूप से प्रतिष्ठित रहनेवाले अथर्वा के आधार पर भी तान्त्रिक प्रयोग विहित हैं। इसी अथर्वासूत्र के संसर्ग से आशीर्वादि

सम्बन्ध सापिण्ड्यों में व्याप्त होता है, यही अथर्वासूत्र चान्द्र श्रद्धानाडी के द्वारा प्राकृतिक पितरों की तृप्ति का कारण बनता है, इसी सूत्र से सौर-सप्तरश्मियों द्वारा देवयजनकर्म्म सम्पन्न होता है, और आध्यात्मिक जगत् को आधिभौतिक साधनों के द्वारा आधिदैविक जगत् से मिला देनेवाला यही वायुमय अथर्वासूत्र है। इसीलिए तो यज्ञपरिभाषा में 'वायु' को ही याज्याकर्म्म-सञ्चालक 'अध्वर्यु' कहा गया है। इसी सूत्र का समसाम्मुख्य प्राप्त करने के लिए, स्वच्छन्दों को प्राकृतिक छन्दों से मिलाने के लिए, तद्द्वारा उन प्राकृतिक शक्तियों का अध्यात्म में आधान करने के लिए यज्ञसूत्र को उपवीत-प्राचीनावीतादि-भावों में परिणत किया जाता है।

आधिदैविक सम्वत्सरयज्ञ से ही प्रजोत्पत्ति होती है, यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, यज्ञसूत्रधारी प्रजापति के 'नाभि' प्रदेशावच्छिन्न उत्तमाङ्ग से तो ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य, इन तीन वर्णों की उत्पत्ति हुई है, एवं अधमाङ्गस्थानीय भूपिण्ड (तदुपलक्षित पूषा) से शूद्र उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार अदृश्य खगोलात्मक चान्द्रप्राण से उत्पन्न होने वाली स्त्री भी प्रजापति के यज्ञाङ्ग से वञ्चित ही है। अतएव स्त्री, तथा शूद्र, दोनों इस सूत्र से वञ्चित रक्खे गए हैं। आध्यात्मिक जगत् में मस्तक ब्राह्मण स्थानीय है, उरः क्षत्रिय स्थानीय है, उदर वैश्य स्थानीय है। इस प्रकार नाभि पर द्विज-मर्य्यादा समाप्त है, जैसा कि, 'वर्णव्यवस्था विज्ञान' में विस्तार से बतलाया जा चुका है। चूंकि द्विजभावसम्पादक वीर्य्य नाभि पर्य्यन्त ही रहता है, इसी आधार पर यज्ञसूत्र नाभि तक ही प्रतिष्ठित रहता है। नाभि[१] से नीचे यज्ञसूत्र नहीं जाना चाहिए।

यज्ञसूत्र मे जो ब्रह्मपाश लगाया जाता है, वह साक्षात् सूर्य्य की प्रतिकृति है। सूर्य्य प्रणवमूर्त्ति माना गया है। इसी प्रणवब्रह्म से त्रैलोक्य का विकास हुआ है। यही चर-अचर, सब की प्रतिष्ठा है। जिस प्रकार प्रणवब्रह्मलक्षण, सम्वत्सरमूर्त्ति, सूर्य्यप्रजापति अखिललोक-मूल है, एवमेव यज्ञसूत्रधारी एक ब्राह्मण के हाथ में सम्पूर्ण विश्व का नियति सूत्र रहता है। आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, तीनों प्रपञ्चों का पूर्ण विज्ञाता बना हुआ, यज्ञो-पवीती ब्राह्मण संसार का सर्वश्रेष्ठ रक्षक बन रहा है, एवं इस रक्षासूत्र की ही प्रतिकृति है– 'यज्ञसूत्र'। मन्त्रशक्तिद्वारा इस सूत्र को गले में डालते हुए द्विजबालक में बल-तेज-आयु-वीर्य्य-आदि का आधान किया जाता है, जैसा कि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है–

---

१ "स्तनादूर्ध्वं, अधोनाभेर्न धार्य्यं कथञ्चन"।

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥

—श्रुतिः ।

सचमुच यज्ञोपवीत सम्वत्सरप्रजापति का सहजन्मा बनता हुआ अनादि है। अवश्य ही यथाविधि, यथासंस्कार, यथामन्त्र ग्रहण करने से यह द्विज-वीर्य्य का प्रतिष्ठापक बनता है। सर्वजगदधिष्ठात्री, जगन्माता सावित्री का आधान ही इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य है। यही वेदमाता है, अतएव जबतक यह द्विजाति के ब्रह्मभाग में प्रतिष्ठित नहीं हो जाती, तब तक द्विजाति को न तो वेदाध्ययन का ही अधिकार मिलता, न वेदसम्मत, प्राकृतिक वेदमूलक यज्ञादि श्रौत कर्म्मों का ही अधिकार मिलता। इसी लिए द्विजाति के लिए इस संस्कार का विशेष महत्व माना गया है।

स्वयं सम्वत्सर प्रजापति क्रान्तिवृत्तादि लक्षण, गायत्र्यादिछन्दोलक्षण, ब्रह्मग्रन्थिलक्षण, नवसूत्रात्मक यज्ञसूत्र से युक्त होकर ही वेदद्वारा यज्ञ-देव-भूत-धर्म्मादि सृष्टियां करने में समर्थ हुए हैं। अतएव सावित्री के आधान से पहिले द्विजाति को भी सम्वत्सरयज्ञ की प्रतिकृति रूप यज्ञसूत्र से युक्त कर यज्ञोपवीती बनाना आवश्यक हो जाता है। जब यह यज्ञसूत्र से स्व स्व-गायत्र्यादि छन्दों द्वारा सीमित बन जाता है, सावित्री संस्कार के लिए क्षेत्र तय्यार हो जाता है। एवं तदनन्तर ही इसे मन्त्रदीक्षा मिलती है। यज्ञसूत्र गले में डालते हुए संकेतरूप से इसके ब्रह्मभाग को यह आदेश मिलता है कि, आज से तुम अपने छन्द से विकसित होते हुए द्विज बन रहे हो। इस सूत्र मे जितनें पर्व हैं, उनकी रक्षा करना, रक्षित साम्वत्सरिक पर्वों से विश्व की रक्षा करना तुह्मारा आवश्यक कर्त्तव्य है। यज्ञसूत्रग्रहण काल में इसे जिन जिन नियमों के परिपालन का आदेश मिलता है, उनका यथाविधि, यथाकाल, यथामन्त्र, अनुगमन करता हुआ—'द्विजाति-ब्राह्मणो ब्रह्म लौकिकम्' को अवश्य ही चरितार्थ कर देता है। यदि केवल सूत्र गले में डाल दिया, एवं सूत्रानुबन्धी व्रत-वेद-यज्ञ-आदि नियमों का अनुगमन न किया, तो सब कुछ निरर्थक है, जैसा कि आगे के 'व्रतादेश' संस्कार में स्पष्ट होने वाला है। (३)—प्रकृति के साथ यज्ञसूत्र का क्या सम्बन्ध है ?, एवं (४)—यज्ञसूत्र के निर्म्माण में तन्तु आदि की संख्या में नियन्त्रण क्यों लगाया गया ? इन प्रश्नों का यही संक्षिप्त साधन है।

सम्वत्सरयज्ञसूत्र के अतिरिक्त यज्ञोपवीत की और भी अनेक उपपत्तियाँ हैं। जिनका यथावत् निरूपण 'सन्ध्याविज्ञान' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ मे हुआ है। विस्तारभय से उन सब का यहाँ दिग्दर्शन कराना भी असम्भव है। अब प्रसङ्गागत केवल एक आगन्तुक प्रश्न का समाधान और शेष रह जाता है, जब कि उस प्रश्न का आस्तिक, शास्त्रनिष्ठ, प्रजा की दृष्टि मे कोई विशेष महत्त्व नहीं है। सनातनधर्म्म से सम्बन्ध रहने वाले धार्म्मिक आदेशों की उपपत्ति पूछने वाले महानुभावों की मनोवृत्ति का स्पष्टीकरण पूर्व प्रकरणो मे किया जा चुका है। अतएव इन की इस उपपत्ति-जिज्ञासा को विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता। अपने जीवन के प्रायः सभी कर्म्मों की उपपत्ति से अपरिचित रहने वाला, अधिकाश मे प्रकृति-विरुद्ध, वीर्य्य-विरुद्ध, योग्यता-विरुद्ध कर्म्मों का अनुगमन करने वाला जो आधुनिक बुद्धिवादी समाज आज हम से यह कहता है कि, हमे तो जब तक उपपत्ति न बतला दी जायगी, तबतक उस कर्म्म का अनुगमन न करेंगे, उस से हम करबद्ध यही निवेदन करेंगे कि, प्रकृति के गुप्ततम, सुसूक्ष्म रहस्यों से सम्बन्ध रखने वालीं इन उपपत्तियों की जिज्ञासा आप अवश्य ही रखिए, परन्तु एकहेलया इन से सिद्ध, शास्त्रादिष्ट कर्म्मों का दया कर परित्याग न कीजिए। जबतक आप का बौद्ध धरातल उन गभीरतम रहस्यों का अधिकारी न बन जाय, तबतक केवल "जिन महामहर्षियों ने आत्म-परमात्म जैसे गूढतम तत्त्वों का जगत् मे प्रसार किया, उन की ओर से विहित इन कर्म्मों मे अवश्य ही कुछ न कुछ तथ्य होगा" इस बात पर विश्वास करते हुए ही आप कर्म्म का अनुगमन करते रहिए। इसी मे आप का, तथा आप के समाज का कल्याण है। प्रश्न कीजिए, अतिप्रश्न से बचिए। तर्क के अनुगामी बनिए, कुतर्क का परित्याग कीजिए। पदे पदे तर्कवाद का अनुगमन करने से आप का अन्तर्जगत् शून्य बन जाता है। आप पूरे संशयवादी बन जाते हैं। और संशयवादी की जो दशा होती है, उस से आप परिचित हैं 'संशयात्मा विनश्यति'।

आज यह भी देखा जाता है कि, योग्यता के अभाव से जिन विषयों की उपपत्ति जाननी चाहिए, उन के सम्बन्ध मे कोई विशेष प्रश्न न होकर उन कर्म्मों की बाह्य इतिकर्त्तव्यताओं के सम्बन्ध मे हीं जिज्ञासा की जाती है। उदाहरण के लिए 'शिखा-सूत्र' को ही लीजिए। "चोटी क्यों रक्खी जाती है? जनेऊ कान पर क्यों चढाई जाती है?" ये दोनों प्रश्न आज सभी शिक्षितों की जिह्वा पर ताण्डवनृत्य कर रहे है। बात यथार्थ मे यह है कि, और और जितने धार्म्मिक कर्म्म हैं, उन्हें तो सर्वसाधारण के सामने प्रकट होने का अवसर नहीं मिलता। अतएव वे कर्म्म तो इन की प्रचलित सभ्यता पर कोई आघात-प्रत्याघात नहीं करते। परन्तु

शिखा, सूत्र, दो चिह्न ऐसे हैं, जिन्हे ये प्रश्नकर्ता महोदय सभ्यसमाज की दृष्टि से नहीं बचा सकते। बस, एकमात्र इसी अभिप्राय से आज ये दो चिह्न ही विशेष महत्व के कारण बन रहे हैं। उच्छिष्ट सभ्यता के झञ्झावात में पड़ने वाले हमारे नवयुवकों ने किस तरह इन दोनों चिह्नों की अवहेलना की है, यह स्पष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वेशभूषादि के विन्यास से सम्बन्ध रखने वाला भार तो इन के लिए भार नहीं है, परन्तु ब्रह्मरन्ध्र पर अवस्थित, इन्द्र-प्राणरक्षिका शिखा, एवं सर्वप्रतिष्ठालक्षण यज्ञसूत्र का इन्हें बोझा मालूम होता है। इन की दृष्टि में शिखा जहां इनके सौन्दर्य्याभास का कण्टक बन रही है, वहाँ यज्ञसूत्र एक निरर्थक, अटपटा सा, धागा बन रहा है। इन दोनों में से शिखा धारण की उपपत्ति संक्षेप से सीमन्त-कर्म्म में बतलाई जा चुकी है। यज्ञोपवीत की उपपत्ति पूर्व प्रकरण से गतार्थ ही है। अब प्रश्न रह जाता है—इसे (मूत्र-पुरीषोत्सर्गकाल में) कान पर चढ़ाने का। सर्वथा महत्त्वशून्य होने पर भी लोकरुचि को लक्ष्य में रखते हुए इस सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना आवश्यक हो जाता है।

"दृष्टफल के रहने पर अदृष्ट फल की कल्पना करना द्रविडप्राणायाम है" इस लोकन्याय के अनुसार यदि उक्त प्रश्न का हमें कोई प्रत्यक्ष कारण मिल जाता है, तो अप्रत्यक्ष कारण की जिज्ञासा करना व्यर्थ ही माना जायगा। मन्त्रशक्ति से युक्त यज्ञसूत्र एक पवित्र पदार्थ है, यह तो निःसंदिग्ध है। इधर मल-मूत्र अपवित्र पदार्थ हैं, यह भी निर्विवाद है। ऐसी दशा में मल-मूत्रोत्सर्गकाल में पवित्र यज्ञसूत्र को अधोभागों के संसर्ग से बचाने के लिए यदि स्मृति-कारों ने इसे 'कान' जैसे ऊर्ध्व, एवं सुरक्षित स्थान मे चढ़ा लेने का आदेश दे डाला, तो कौन सा अनर्थ कर डाला। इस प्रत्यक्ष कारण के रहते हुए अन्य कारण की जिज्ञासा रखना प्रश्नातिमर्य्यादा नहीं, तो और क्या है। कान पर चढ़ाने से कैसी सुविधा रहती है, यह सभी को विदित है। इस का यह अर्थ भी नहीं है कि, केवल मलमूत्र के संसर्ग से बचाना ही कान पर चढ़ाने का मुख्य उद्देश्य है। स्मृतिकारों के प्रत्यक्ष आदेश में प्रत्यक्ष कारण के साथ साथ कोई न कोई शुभ कारण भी अवश्य ही रहता है। जो प्रयोजन कान पर चढ़ाने से निकल सकता है, वह प्रयोजन गले में दोहरा कर लपेटने से, कटिभाग में खोंचने से, जनेऊ उतार कर नागदन्त (खूटी) पर टांगने से भी सिद्ध हो सकता था। परन्तु केवल संसर्गदोष हटाना ही प्रयोजन नहीं है। इसी लिए एकमात्र कान पर ही चढ़ाने का आदेश हुआ है।

सदोपवितिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन तु ।
विशिखो, व्युपवीतश्च यत् करोतित न तत् कृतम् ॥

—कात्यायनः

इस कात्यायन वचन के अनुसार द्विजाति को सदा यज्ञोपवीती, एवं सदा बद्धशिख रहना चाहिए। जिस स्थिति में यज्ञसूत्र हम सदा रखते हैं, वही हमारी यज्ञोपवीतता है। इसे न तो कभी इस स्थिति से वञ्चित किया जा सकता, एवं न शरीर से पृथक् किया जा सकता। कटिप्रदेश में टांगने से स्थिति विच्युति है, गले में दोहरा कर लटकाने से स्थिति विच्युति के साथ साथ निवीतोपलक्षण-मानुपभाव का समावेश है, शरीर से अलग कर देना द्विजत्व से वञ्चित होना है। ऐसी दशा में यज्ञसूत्र का यज्ञोपवीतत्त्व एकमात्र कान पर चढ़ाने से ही सुरक्षित रह सकता है। इन सब कारणों के अतिरिक्त सबसे बड़ा, एवं महत्वपूर्ण कारण है—'सजातीयसम्बन्ध' सम्पूर्ण इन्द्रियों में जो इन्द्रिय पवित्रतम होगी, वही पवित्रतम यज्ञसूत्र के साथ समतुलित मानी जायगी। इन्द्रियविज्ञान के अनुसार 'वाक्-प्राण-चक्षुः-श्रोत्र-मन' ये पांच इन्द्रियां मानी गई हैं। इतर दार्शनिक-इन्द्रियों का इन्हीं पांचों में अन्तर्भाव है, जैसा कि 'शतपथविज्ञानभाष्य' आदि में विस्तार से प्रतिपादित है। अग्नि से वागिन्द्रिय (मुख) का, वायु से प्राणेन्द्रिय (नासिका) का, आदित्य से चक्षुरिन्द्रिय का विकास हुआ है। भास्वर, सायतन, चान्द्रसोम से इन्द्रियमन का विकास हुआ है। एवं निरायतन, सब दिशाओं में प्रतिष्ठित, अतएव 'दिक्सोम' नाम से प्रसिद्ध पवित्र सोम से श्रोत्रेन्द्रिय का निर्म्माण हुआ है, जैसा कि निम्न लिखित उपनुपच्छ्रुति से स्पष्ट है—

'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणीप्राविशत्, दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्, चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्,

—ऐतरेयोपनिषत् २।४।

तत्तत्प्राणदेवताओं से उत्पन्न तत्तदिन्द्रियओं में से तत्तत् दिव्यप्राण सूक्ष्मरूप से आगच्छत्-निर्गगच्छत् अवस्थाओं से नित्य युक्त रहते है। फलतः पवित्रसोममय श्रोत्रेन्द्रियगोलकों (कानों) से भी पवित्र-सौम्य प्राण का गमनागमन सिद्ध हो जाता है। असच्छब्द श्रवण से

जब यह इन्द्रिय प्राण अपने पवित्र धर्म्म से अभिभूत हो जाता है, तो इस के द्वारा शब्दसंस्कार ग्राहक मन के संकल्प भी बुरे हो जाते है, एवं मन से युक्त बुद्धि के विचार भी दूषित बन जाते है। इसी लिए दूसरों की रक्षा के लिए जहां हमें मङ्गलवाणी के उच्चारण का आदेश मिला है, वहां अपने संकल्प-विचारों को पवित्र रखने के लिए असच्छब्द श्रवण का निषेध हुआ है।

पुरुष का वामाङ्ग सोमप्रधान है, दक्षिणाङ्ग अग्निप्रधान है। दक्षिणाङ्ग में सोम अग्नि के गर्भ में है। एवं यही स्थिति अग्निसोममूर्त्ति, यज्ञोपवीत, सम्वत्सरप्रजापति की है। पारमेष्ठ्य सोमाहुति को अपने गर्भ में लेकर ही सम्वत्सरचक्र स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है, अतः वाम-दक्षिण, दोनों कर्णों में से दक्षिण कर्ण ही सम्वत्सरप्रजापति के क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न साम्वत्सरिक यज्ञसूत्र का प्रधानरूप से सजातीय माना जायगा। दक्षिणकर्ण सौम्यप्राणप्रधान बनने के साथ साथ आग्नेय होने से अतिशय पवित्र है। इसी लिए इसे सर्वदेवावासभूमि माना गया है। एवं इसी आधार पर इसे गाङ्गेय तीर्थ कहा गया है। धर्म्मशास्त्र का आदेश है कि, कार्य्यारम्भ से पहिले यथासम्भव तत्तन्निमित्तों पर दक्षिण कर्ण का स्पर्श करना चाहिए। पाठक यह जानते ही है कि, अवरवर्ण के शिल्पी (कारीगर) कार्य्यारम्भ से पहिले कर्णस्पर्श किया करते हैं। निम्न लिखित वचन इसी आदेश का समर्थन कर रहे हैं—

१—निमित्तेष्वेव सर्वेषु दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत्।
आदित्या- वसवो- रुद्रा- वायु- रग्निश्च-धर्म्मराट् ॥
विप्रस्य दक्षिणे कर्णे नित्यं तिष्ठन्ति वै यतः ॥

—बृहस्पतिः।

२—प्रभासादीनि तीर्थानि गङ्गाद्याः सरितस्तथा।
विप्रस्य दक्षिणे कर्णे वसन्तीति मनोर्मतम् ॥

—पराशरः।

इसी सजातीय सम्बन्ध को लक्ष्य में रख कर धर्म्माचार्य्यों नें दक्षिण[1] कर्ण में ही यज्ञसूत्र टांगने को प्रधानता दी है। अशुचिभाव के संसर्ग से बचाने के लिए पवित्रतम यज्ञसूत्र को

---

१ "पवित्रं दक्षिणे कर्णे कृत्वा विण्मूत्रमुत्सृजेत्"—हारीतः।

पवित्र सोम्यप्राणमूर्त्ति दक्षिणकर्ण में टांगना क्यों आवश्यक समझा गया? इस प्रश्न की यही संक्षिप्त वैज्ञानिक उपपत्ति है।

इस के अतिरिक्त धर्म्मशास्त्रों में यह भी विधान है कि, मूत्र-पुरीपोत्सर्ग करते हुए बोलना नहीं चाहिए। पुरीपोत्सर्ग काल में—'शिरः प्रावृत्य वाससा' के अनुसार शिरः कपाल को किसी वस्त्र से वेष्टित रखना चाहिए, एवं भोजन वेला में शिर को उघाड़ा रखना चाहिए। इन आदेशों में भी कोई तथ्य अवश्य ही मानना पड़ेगा। मल-मूत्रोत्सर्ग में वारुण-अपान-प्राण की प्रधानता रहती है, जो कि अपानप्राण—'मृत्यु'[1] नाम से प्रसिद्ध है। तन्त्रशास्त्र के अनुसार यही ब्रह्मग्रन्थिस्थान है। जबतक अपानप्राण इस ग्रन्थि से युक्त रहता है, तभी तक आयुरक्षा है। ग्रन्थि से पृथक् होते ही यह अपान मलभाण्ड को विचलित करता हुआ अपने मृत्युरूप से प्रकट हो जाता है। एवं इस अवस्था में यह मृत्युदेवता अमृतात्मक, आयुः प्रवर्त्तक, इन्द्रप्राण को शरीर से पृथक कर देता है। 'ऐन्द्रवायवग्रह' विज्ञान के अनुसार वायु के सम्पर्क से इन्द्र ही शब्दसृष्टि के अधिष्ठाता बनते हैं। शब्दप्रपञ्च इन्द्र का प्रातिस्विक शरीर है, जैसा कि 'इन्द्राय वौषट्' इत्यादि 'वषट्कार' विज्ञान से भी स्पष्ट है, जिस का योगसङ्गतिप्रकरण में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। मलमूत्रोत्सर्ग में वारुण-अपानप्राण का व्यापार होता है। इस समय यदि मुख से शब्द बोला जायगा, तो शब्द-सूत्रद्वारा अपानप्राण का इन्द्र पर आक्रमण होगा। एवं इस आक्रमण से यह प्राण भी अशुचिभाव से युक्त होता हुआ निर्बल हो जायगा। इन्द्रप्राण को इसी दोष से बचाने के लिए शब्दोच्चारण पर नियन्त्रण लगाया गया है। यही कारण शिरोवेष्टन का समझिए। इन्द्रप्राण का प्रधान गमनागमन द्वार ब्रह्मरन्ध्र बतलाया गया है। मलोत्सर्ग करते समय वही मृत्युप्राण, (साथ ही में मलरूप दूषित भूतभाग भी) इस पर आक्रमण कर सकता है। भोजन वेला में इन्द्रप्राण की दीप्ति अपेक्षित है। अतएव यहां मस्तक उघाड़ा रखना आवश्यक समझा गया है। इसी प्रकार शुचिप्रदेश में हाथ-पैर-इन्द्रियों को धोकर आचमनपूर्वक भोजन करना, आदि आदि इतर आदेश भी हमारी दिव्यसंस्था के स्वरूप-रक्षक ही बनते हैं। जो इन दिव्य भावों के उपासक है, वे इन्हे सुरक्षित विकसित रखना चाहते हैं, उन श्रद्धालु-आस्तिकों की दृष्टि में जहां ये सब श्रौत-स्मार्त्त आदेश महामहोप-

---

१ "मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्"—ऐ॰ उप॰ २।४ ।

कारक हैं, वहां आसुरभावप्रेमी, तामस महानुभावों की दृष्टि में यदि ये आदेश निरर्थक सिद्ध हों, तो इसमें कौनसा आश्चर्य है? यह है उपनयनसंस्कार की संक्षिप्त उपपत्ति। अब पद्धति का प्रश्न शेष रह जाता है। इसके सम्बन्ध में प्रकरणारम्भ में ही यह निवेदन किया जा चुका है कि, संस्कारों की पद्धति बतलाना इस प्रकरण का उद्देश्य नहीं है। संस्कार-पद्धतियों का परिज्ञान तो स्व-स्व गृह्यग्रन्थों से ही प्राप्त करना चाहिए। यहां प्रकरणसङ्गति के लिए इस सम्बन्ध में दो शब्द कह दिए जाते हैं—

यह संस्कार आचार्य्यकर्तृक है, एवं आचार्य्य का लक्षण निम्न लिखित माना गया है—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥

—मनुः २।१४०।

कल्परहस्यपूर्वक वेदस्वाध्याय कराने का अधिकार ब्राह्मण को ही है। अतएव मन्त्रोपदेष्टा आचार्य के सम्बन्ध मे जहां स्मृतियों ने पिता[1], पितामह, भ्राता, गोत्रज, आदि का ग्रहण माना है, वहां यह ग्रहणमर्य्यादा ब्राह्मणवर्ण से ही सम्बद्ध माननी चाहिए। क्षत्रिय, तथा वैश्य को वेदाध्यापन का अधिकार नहीं है, अतः इन का संस्कार कुल-पुरोहित के द्वारा ही सम्पन्न होगा।

शुभ तिथि-नक्षत्र-वारादि का निर्णय कर 'संस्कारकाल' निश्चित करना चाहिए। अनन्तर उपनेता निर्विघ्न कर्म्मपरिसमाप्ति के लिए सान्तपनाग्निमूर्त्ति ब्राह्मणों को भोजन कराता है। भोजनान्तर वटुक का मुण्डन कराया जाता है। मुण्डन-स्नानान्तर इसे मन्त्रोपदेष्टा आचार्य्य की सेवा में (संस्कारार्थ) उपस्थित किया जाता है। आगत वटुक को अग्नि के पश्चिम भाग में, तथा अपने दक्षिण भाग मे बैठा कर सब से पहिले स्वयं आचार्य इसके मुख से—'ब्रह्मचर्य्यमागामि' (मैं ब्रह्मचर्य्या में आ रहा हूं) यह बुलवाता है। इस वाक्य

१—पिता, पितामहो, भ्राता, ज्ञातयो, गोत्रजाग्रजाः।
उपायनेऽधिकारी स्यात् पूर्वाभावे परः परः॥ १॥
पितैवोपनयेत् पुत्रं तदभावे पितुः पिता।
तदभावे पितुर्भ्राता तदभावे तु सोदरः॥ २॥

के अनन्तर पूर्वाभिमुख बैठा हुआ ही बटुक 'ब्रह्मचार्य्यसानि' (मैं-ब्रह्मचर्य्या के द्वारा-ब्रह्मचारी बनता हूं) यह बोलता है। पूर्वादिक् देवताओं की मानी गई है। देवताओं की विकासभूमि सूर्य्य है, सूर्य्य त्रयीवेदघन है, त्रयीवेद ही 'ब्रह्म' है, इसकी चर्य्या (आचरण-अनुगमन) ही ब्रह्मचर्य्या है, इस चर्य्या से युक्त बटुक ही 'ब्रह्मचारी' है। अतएव ब्रह्मात्मक-सूर्य्य की पूर्वादिक् की ओर देखते हुए ही उक्त संकल्प किया गया है।

प्रतिज्ञानन्तर ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य, तीनों वर्णों के बटुकों को क्रमशः 'शाण-क्षौम-आविक, वस्त्र पहिनाने का विधान है। ब्राह्मणबटुक को शाणवस्त्र, क्षत्रियबटुक को क्षौमवस्त्र, एवं वैश्यबटुक को आविकवस्त्र पहिनाए जाते हैं। स्वयं आचार्य्य निम्न लिखित मन्त्र बोलता हुआ वस्त्र पहिनाता है—

> येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्य्यदधादमृतम्।
> तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय, बलाय, वर्चसे। इति।

वस्त्रानन्तर—'इयं दुरुक्तं परिबाधमाना०'[1] यह मन्त्र बोलते हुए, अथवा 'युवा सुवासा परिवीत आगात्०' यह मन्त्र बोलते हुए, अथवा चुपचाप ही त्रिगुण मेखला लेकर बटुक के कटिप्रदेश में प्रदक्षिणरूप से तीन वार लपेटता है। तीसरे वेष्टन में प्रवरानुसार तीन-पांच-अथवा सात ग्रन्थियां लगाता है। मेखला के सम्बन्ध में भी क्रमशः वर्णानुसार मुञ्ज-धनुज्या-मौर्वी का विधान है। ब्राह्मण को मूंज की मेखला, क्षत्रिय को धनुज्या की मेखला, एवं वैश्य को मौर्वी मेखला पहिनाई जाती है।

मेखलानन्तर यथाविधि यज्ञोपवीत पहिनाया जाता है, मृगचर्म्म उढ़ाया जाता है, दण्ड दिया जाता है, 'आपो हि ष्ठा०' इत्यादि मन्त्र से प्रोक्षण किया जाता है। 'तच्चक्षु०' इत्यादि मन्त्र से सूर्य्यदर्शन कराया जाता है। हृदय का स्पर्श कर 'मम व्रते ते हृदयं

१—इयं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती म आगात्।
प्राणापानाभ्यां बलमादधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेयम्॥ १॥
युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्त॥ २॥

दधामि०' इत्यादि मन्त्र प्रयोग पूर्वक दोनों की (आचार्य्य, तथा बटुक की) आध्यात्मिक शक्तियों का समसाम्मुख्य किया जाता है। अनन्तर इसे देवताओं की रक्षा मे सौंपा जाता है। अनन्तर यथाविधि सावित्री का उपदेश होता है। इस प्रकार गृह्योक्त पद्धति के अनुसार यह संस्कार यथाविधि समाप्त होता है। इस सस्कार मे वस्त्र-मेखला-दण्ड-मृगचर्म्म आदि जितने पदार्थ गृहीत हैं, उन सब का मन्त्रशक्तियों से युक्त रहना तो विशेष महत्व रखता ही है। साथ ही मे वर्णभेदभिन्न इन पदार्थों में भी ब्रह्म-क्षत्र-विट्-वीर्य्य प्रतिष्ठित हैं जैसा कि वर्णविज्ञानप्रकरण में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। सस्कार की प्रत्येक प्रक्रिया मे, प्रत्येक मन्त्र मे, प्रत्येक पदार्थ मे अवश्य ही प्राकृतिक वीर्य्यों का (छन्दो-मर्य्यादा के अनुग्रह से) समावेश है। यदि यथाविधि इन सब इतिकर्त्तव्यताओं का अनुगमन किया जाता है, तो अवश्य ही हमारी अध्यात्मसंस्था का उस आधिदैविकसस्था के साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध हो जाता है, जो कि प्राकृतिक सम्बन्ध संस्कार पद्धतियों के विलोम से आज हम से वियुक्त हो रहा है।

३-(१)—व्रतादेशः—

यदि यज्ञोपवीतसंस्कार में बल-तेज-वीर्य्यादि के आधान की शक्ति है, तो फिर ये सूत्रधारी द्विजाति आज अधिकांश मे निर्बल, निस्तेज, निर्वीर्य्य से क्यों प्रतीत होते हैं ? इस प्रश्न का समाधान यही 'व्रतादेश' संस्कार कर रहा है। यथाविधि यज्ञोपवीत संस्कार हो जाने पर मन्त्रोपदेष्टा आचार्य्य की ओर से ब्रह्मचारी के प्रति कुछ एक ऐसे नियम आदिष्ट होते हैं, जो कि नियम यज्ञानुबन्धी सावित्री सस्कार को दृढमूल बनाते हैं। यदि ब्रह्मचारी उन नियमों का पालन नहीं करता, तो उस का सावित्रीसस्कार कुछ ही काल में विलुप्त हो जाता है।

ब्रह्मचर्य्य-आश्रम को समाप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने वाला युवापुत्र ही 'स्नातक' कहलाता है। 'विद्यास्नातक, व्रतस्नातक, विद्या-व्रतस्नातक' भेद से स्नातक मर्य्यादा तीन भागों मे विभक्त है। स्वशाखानुकूल साङ्ग, मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदाध्ययन समाप्त कर लौटने वाला ब्रह्मचारी 'विद्यास्नातक' कहलाता है। द्वादशवर्षादिक व्रत को समाप्त कर, वेद का कुछ भाग पढ कर ही वापस लौटने वाला 'व्रतस्नातक' कहलाता है। एवं विद्या-व्रत, दोनों को यथाविधि समाप्त कर लौटने वाला 'विद्या-व्रतस्नातक' कहलाता है। तात्पर्य्य यही है कि,

व्रतपालन का भी समय नियत है, एवं वेदाध्ययन का भी समय नियत है। यदि कोई ब्रह्मचारी नियत समय तक, अथवा नियत समय से पहिले ही बुद्धिप्रकर्ष से वेद समाप्त कर देता है, परन्तु अभी व्रतचर्य्या का समय शेष है। इसे पूरा न कर वेदाध्ययन समाप्त कर ही वह लौट आता है, तो इसे 'विद्यास्नातक' कहा जायगा। व्रतपालन तो नियत समय तक किया, परन्तु वेद का पूर्ण अध्ययन न किया, ऐसा ब्रह्मचारी 'व्रतस्नातक' कहलाएगा। जिस ने नियत समय तक व्रत का भी पालन किया, नियत समय के बाद भी साङ्गोपाङ्ग अध्ययन किया, वह 'विद्या-व्रतस्नातक' कहलाएगा। इन्हीं तीन विभागों को लक्ष्य मे रख कर सूत्रकार कहते हैं।

"त्रयः स्नातका भवन्ति–विद्यास्नातकः, व्रतस्नातकः, विद्याव्रतस्नातकः-इति। समाप्य वेदं, असमाप्य व्रतं यः समावर्त्तते, स 'विद्यास्नातकः'। समाप्य व्रतं, असमाप्य वेदं यः समावर्त्तते, स 'व्रतस्नातकः'। उभयं समाप्य यः समावर्त्तते, स 'विद्या-व्रतस्नातकः'"

—पा० गृ० २।५।

विद्याभाव को सुरक्षित रखने वाला यही व्रतादेश संस्कार है। वाग्विसर्जनान्तर ही इसे आचार्य्य की ओर से आदेश मिलते हैं—

१—ब्रह्मचार्य्यसि, (तुम ब्रह्मचारी हो, यह स्मरण रक्खो)।

२—अपोशानकर्म्म कुरु, (मूत्र-पुरीपादि के अनन्तर शास्त्र विहित आचमन करो)।

३ – दिवा मा स्वाप्सीः, (दिन में कभी शयन न करो)।

४—आचार्य्याधीनो वेदमधीष्व, (गुरु की आज्ञा में रहते हुए वेदाध्ययन करो)।

इस के अतिरिक्त अधःशयन, लवण-क्षारपरित्याग, दण्डधारण, अग्निपरिचर्य्या, गुरुशुश्रूषा, भिक्षाचर्य्या का अनुगमन, मधु-मांस-ऊंचा आसन, स्त्रीगमन-अनृतभाषण-अदत्तादान (चोरी) आदि का परित्याग, आदि नियमों पर और लक्ष्य रखना पड़ता है। जिन का यत्र तत्र स्मृति-सूत्र-ग्रन्थों में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। जैसा कि उदाहरण रूप से कुछ वाक्य यहां उद्धृत कर दिए जाते हैं—

आधिदैविक सूर्य्य खगोलीय 'सूर्य्य' है, एवं आध्यात्मिक सूर्य्य 'बुद्धि' है। दोनों ही मन्देहा नाम के असुरों से आक्रान्त रहते हैं। पारमेष्ठ्य सोमाहुति से सम्पन्न होने वाले प्राकृतिक अग्निहोत्र से, गायत्रतेज की प्रदीप्ति से तो आधिदैविक सूर्य्य के आगे विचरने वाले मन्देहा-असुर नष्ट होते हैं, एवं गायत्री-मन्त्रोपासना से, मन्त्रपूत अञ्जलि से, सायं-प्रातः होने वाले, 'जरामर्य्यसत्र' नाम से प्रसिद्ध 'अग्निहोत्र' से द्विजाति के बुद्धिरूप सूर्य्य पर आक्रमण करने वाले मन्देहा असुर नष्ट होते है, यही तात्पर्य्य है।

ऋतपदार्थ का यह स्वभाव है कि, यदि उसके साथ किसी अन्य पदार्थ का सम्बन्ध कराया जाता है, तो उस सम्बद्ध पदार्थ का लम्बन हो जाता है। उदाहरण के लिए पानी को ही लीजिए। पानी सर्वथा ऋतपदार्थ है। यदि आप इसमे एक यष्टि (लकड़ी) खड़ी करेंगे, तो आप देखेंगे कि, लकड़ी का जितना अंश पानी में प्रविष्ट है, वह लम्बित हो रहा है। बस ठीक यही परिस्थिति प्रातः-सायं समझिए। भूपिण्ड के चारों ओर व्याप्त वायुमयी भूभा भी एक ऋत पदार्थ है। प्रातःकाल आप जिस समय सूर्य्य को पूर्वक्षितिज पर देखते हैं, वस्तुतः वहा सूर्य्य नहीं है। इस समय सूर्य्य भूकेन्द्र के सधस्थ पर प्रतिष्ठित रहता है। बात यह है कि, सधस्थ पर प्रतिष्ठित सूर्य्य से रश्मियाँ निकलतीं हैं। इन रश्मियों का भूभा के साथ सम्बन्ध होता है। भूभा वायुप्रधान होने से जलवत् ऋतपदार्थ है। अतएव इसके साथ सम्बन्ध होने से सूर्य्यरश्मियों का (जलप्रविष्टयष्टिवत्) लम्बन हो जाता है। इस लम्बन से लम्बन सूत्र के सामने 'ऋकूतत्त्व' के आधार पर प्रतिबिम्बात्मक नवीन सूर्य्य (काल्पनिक-सूर्य्य) का स्वरूप बन जाता है। इसे ही हम देखा करते हैं, जैसा कि आगे के परिलेख से स्पष्ट हो जायगा। यह सूर्य्य मन्देहात्मक आसुरप्राण से युक्त रहता है। आसुरप्राण के समावेश से ही इस समय की सूर्य्य-रश्मियाँ बुद्धि के दिव्यभाव को मलिन कर देतीं हैं। यही अवस्था सायंकालीन सूर्य्य की रहती है। इस मालिन्य-दोष से बुद्धि को बचाए रखने के लिए ही स्मृति ने आदेश दिया है कि—'**नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं, नास्तं यान्तं कदाचन**'।

ग्रहणकाल में राहू से ग्रस्त सूर्य्य इसी तमोमय आसुरप्राण से युक्त रहता है। दृष्टिसूत्र के द्वारा ये मलिन रश्मियाँ बुद्धि पर बुरा प्रभाव डाल सकतीं हैं। अतएव इस उपसृष्ट (राहुग्रहग्रस्त) सूर्य्य को भी नहीं देखना चाहिए। इन्हीं मलिन-रश्मियों के संसर्गदोष से उपयोग में आने वाले पदार्थों को बचाने के लिए ग्रहणकाल में सौम्यविद्युतयुक्त पवित्र दर्भों को रक्खा जाता है, जैसा कि शतपथभाष्यान्तर्गत 'दर्भोत्पत्तिरहस्य' प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादित है। पानी वरुणदेवता की आवासभूमि है। वरुण और इन्द्र, विरोधी प्राण हैं। इन्द्र प्राण
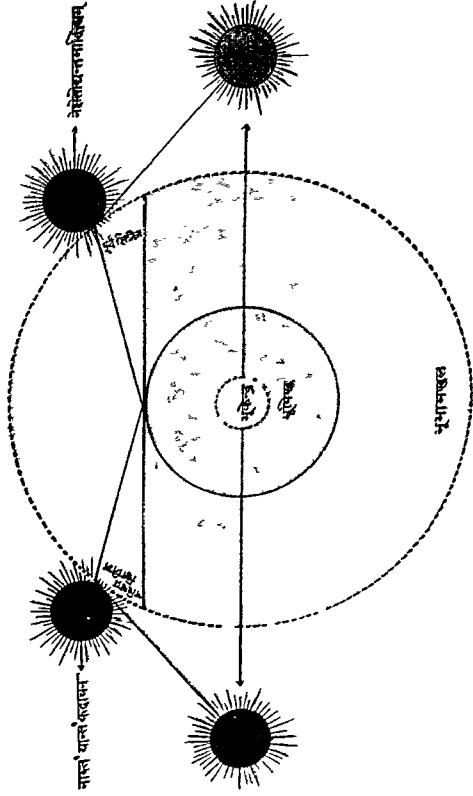
भूभामण्डलपरिलेखः-

आत्मा का अनुगामी है। इसीलिए वरुणप्राणमय जल में प्रतिबिम्बित वारुणसूर्य्य को देखने का निषेध हुआ है। मध्याकाशस्थ सूर्य्य अपने पूर्णक्षेत्र से प्रदीप्त रहता हुआ अत्युग्र रहता है। इस की ओर देखने से दृष्टिमान्द्यदोष सम्भव है। इससे बचाने के लिए ही 'न मध्य-नभसो गतम्' यह कहा गया है। इस प्रकार ब्रह्मचारी के लिए विहित यच्चयावत् व्रतों का अवश्य ही कोई न कोई मौलिक रहस्य है। इन व्रतों के अनुपालन से ही उपनयन-संस्कार में आहित सावित्री संस्कार पुष्पित-पल्लवित होता हुआ दृढ़मूल बनता है। यही 'व्रतादेश' संस्कार की संक्षिप्त उपपत्ति है।

४-(१२)-वेदस्वाध्यायः-

यह वह संस्कार है, जिस के अनुगमन से द्विजातिवर्ग के ब्राह्म-दैव, इतर संस्कार सफल होते हैं। द्विजातिवर्ग ने, विशेषतः ब्राह्मणवर्ग ने सब संस्कार यथाविधि कर लिए, यदि वेद-स्वाध्याय संस्कार नहीं हुआ, तो सब कुछ निरर्थक है। यही क्यों, बिना इस संस्कार के दैव (श्रौत) संस्कारों (जो कि स्वकर्तृक माने गए हैं) का तो ऐसे ब्राह्मण को अधिकार ही नहीं मिल सकता। यही कारण है कि, मन्वादि धर्म्माचार्य्यों ने वेदशून्य ब्राह्मण को सवंशज शूद्रवत् माना है। मनु की दृष्टि में वेदस्वाध्याय ही ब्राह्मण के जीवन का परमपुरुषार्थ है। यही इसकी तपश्चर्य्या है, यही इसका ब्राह्मण्य है। जो ब्राह्मण ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर, यज्ञोपवीती बनकर भी वेदस्वाध्याय नहीं करता, अपितु अर्थलाभ से इतर कर्म्मों में प्रवृत्त रहता है, शीघ्र ही उसका ब्रह्मवीर्य्य मुकुलित बन जाता है। जो दशा एक असंस्कृत शूद्र की है, ठीक वही दशा ऐसे वेदशून्य ब्राह्मण की मानी गई है। जैसा कि निम्न लिखित कतिपय वचनों से स्पष्ट है—

१—यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्म्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥

—मनुः २।१५७।

(१)—"जिस प्रकार लकड़ी का हाथी, चमड़े[1] का मृग, केवल कहने भर के लिए हाथी और मृग है, एवमेव जो ब्राह्मण वेद विद्या शून्य है, वह भी केवल नाम मात्र का ही (जात्या) ब्राह्मण है" ।

२—यथा पण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला ।
यथाचाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥
—मनुः २।१५८ ।

(२)—"जिस प्रकार नपुंसक मनुष्य स्त्रियों के लिए निरर्थक है, जैसे स्त्रीगवी गवी में निष्फल है, जिस तरह मूर्ख को दिया हुआ दान निष्फल है, एवमेव ऋचाओं (वेद) से शून्य ब्राह्मण भी सर्वथा निष्फल है" ।

३—तपो विशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः ।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ॥
—मनुः १६४ ।

(३)—"ब्रह्मचर्य्य, अहिंसा, सत्य अस्तेय, सर्वभूतहितरति, क्षमा, दया, तितिक्षा, कारुण्य, आदि शास्त्रोक्त व्रतों का अनुगमन करते हुए ब्राह्मण को रहस्यज्ञानपूर्वक सम्पूर्ण वेद का स्वाध्याय करना चाहिए" ।

४—वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥
—मनुः २।१६६ ।

१—पुराने समय में शुष्कचर्म्म के मृगाकार के खिलौने बना करते थे। उन्हीं के लिए 'यथा चर्म्ममयो मृगः' कहा गया है।

(४)—"तपश्चर्य्या की कामना रखने वाले ब्राह्मण को सदा वेद का ही अभ्यास करना चाहिए। क्योंकि इस जन्म में वेदाभ्यास ही ब्राह्मण के लिए सर्वोत्कृष्ट तप माना गया है"।

५—आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः।
यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम्॥

—मनुः २६७।

(५)—"वह ब्राह्मण अपने नखाभागपर्यन्त (सम्पूर्ण शरीर से) उत्कृष्ट तप ही कर रहा है, जो कि ब्राह्मण अपने गले में माला डाले हुए भी यथाशक्ति प्रतिदिन वेदस्वाध्याय करता है"। माला, अभ्यञ्जन, स्त्रीगमन आदि ब्रह्मचारी के लिए वर्ज्य मानें गए हैं। क्योंकि ये सब स्वाध्याय के विरोधी धर्म्म हैं। वेदस्वाध्याय की उत्कृष्टता बतलाने के लिए 'यः स्रग्व्यपि' कहते हुए मनु ने इन नियमों की उपेक्षा सूचित की है। मनु का तात्पर्य्य यही है कि, भौतिक सांसारिक विषयों में रत रहता हुआ भी यदि वह ब्राह्मण प्रतिदिन वेदस्वाध्याय करता है, तो यह उस की उत्कट तपश्चर्य्या ही मानी जायगी।

६—योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

—मनुः २।१६८।

(६)—"जो ब्राह्मण वेद न पढ़ कर अन्य कर्म्मों में श्रम करता है, वह अपने इसी जीवन में, न केवल स्वयं ही, अपितु सवंश शीघ्र ही शूद्रभाव को प्राप्त हो जाता है"।

वेद ही ब्रह्म है, इस की चर्य्या ही 'ब्रह्मचर्य्या' है, एवं इसी के सम्बन्ध से यह प्रथमाश्रम 'ब्रह्मचर्य्याश्रम' कहलाया है, जैसा कि पूर्व के 'आश्रमविज्ञान' प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। सावित्री-ग्रहण के अनन्तर, व्रतादेशों का अनुगमन करने वाले ब्राह्मण का सर्वप्रथम मुख्य संस्कार यही 'वेदस्वाध्याय' संस्कार है। उपनयन, सावित्रीउपदेश, व्रतादेश, वेदस्वाध्याय, चारों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन में उपनयन, और सावित्रीउपदेश, दोनों का तो उपनयनसंस्कार में अन्तर्भाव है, व्रतादेश, तथा वेदस्वाध्याय, दोनों स्वतन्त्र संस्कार हैं। इन्हीं चारों का संग्रह करते हुए स्मृतिकार कहते हैं—

उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम् ।
वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत् ॥

उपनयन संस्कार के अनन्तर शुभ तिथि-नक्षत्र-वार आदि देखकर, वेदारम्भ निमित्तिक आभ्युदयिक श्राद्ध कर, पञ्चभूसंस्कारपूर्वक लौकिकाग्नि स्थापित कर, आचार्य्य यथाविधि उपनीत शिष्य को वेदारम्भ कराते हैं। यदि ऋग्वेद का आरम्भ कराया जाता है, तब तो—'पृथिव्यै स्वाहा, अग्नेये स्वाहा' इन मन्त्रों से दो आज्याहुति दी जाती है, अनन्तर "ब्रह्मणे-छन्दोभ्यः" इत्यादि से नौ आहुतियाँ दी जाती हैं। यजुर्वेदारम्भ में—'अन्तरिक्षाय स्वाहा, वायवे स्वाहा' की प्रधानता रहती है। सामवेदारम्भ मे 'दिवे स्वाहा, सूर्य्याय स्वाहा' विहित माना गया है। एवं अथर्ववेदारम्भ में—'दिग्भ्यः स्वाहा, चन्द्रमसे स्वाहा' का प्राधान्य है। यही वेदस्वाध्यायसंस्कार की सक्षिप्त इतिकर्त्तव्यता है।

मन्त्र-ब्राह्मणात्मक जिस वेद का इस उपनीत ब्रह्मचारी को स्वाध्याय करना है, इस स्वाध्याय कर्म्म से पहिले यह आवश्यक हो जाता है कि, शब्दात्मक वेद से अभिन्न उस मौलिक अपौरुषेय वेद के संस्कार से यह युक्त हो जाय। मौलिक वेदचतुष्टयी का संक्षिप्त निदर्शन 'योग-सङ्गति'-प्रकरण में कराया जा चुका है। यज्ञोपवीती, सम्वत्सरप्रजापति के 'लोकाः-दिशः' ये दो प्रधान पर्व माने गए हैं। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, ये तीन लोक हैं, एवं दिशाएं प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार 'पृ०-अन्त०-द्यौ-दिशा' ये चार पर्व हो जाते हैं। इन चारों के क्रमश 'अग्नि-वायु-सूर्य्य-चन्द्रमा' ये चार अतिष्ठावा देवता हैं। एवं ये चारों प्राणदेवता क्रमशः 'ऋग्वेद यजुर्वेद-सामवेद-अथर्ववेद' इन चारों तत्वात्मक मौलिक वेदों से नित्य युक्त रहते हैं। लोकाधिष्ठाता इन देवताओ के अपने अध्यात्म में आधान करने से ही वेदसंस्कार आहित होता है। एवं इस प्राकृतिक, मौलिक, तत्वात्मक वेदसंस्कार के प्रभाव से ही पढ़ा जाने वाला शब्दात्मक वेद सफल बनता है। अतएव स्वाध्यायकर्म्म का आरम्भ इस मौलिक, देवमय वेदसंस्कार से ही किया जाता है, एवं यही इस संस्कार की संक्षिप्त उपपत्ति है।

५-(१३)—केशान्तः—

"षोडषवर्षस्य केशान्तः"[१] (पा० गृ० सू० २।१) के अनुसार यह संस्कार सोलहवें वर्ष में किया जाता है, जिस का उल्लेख पारस्कर ने चूडाकर्म्मसंस्कार में हीं कर दिया है। 'गां केशान्ते' इस सूत्र के अनुसार इस कर्म्म के अन्त में आचार्य्य को गौ-दक्षिणा दी जाती है। अतएव इसे 'गोदान' संस्कार भी कहा जाता है। इस संस्कार के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, सोलह वर्ष समाप्त होने पर तो ब्राह्मण का केशान्त संस्कार होता है, २२ वर्ष समाप्त होने पर क्षत्रिय का, एवं वैश्य का २४ वर्ष समाप्त होने पर केशान्त संस्कार होता है।

जैसा कि उपनयसंस्कार प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है, क्रमशः १६-२२-२४ वें वर्ष निकल जाने पर ब्रा०-क्ष०-वै० तीनों पतितसावित्रीक हो जाते हैं। उस समय विना 'व्रात्य-स्तोमादि' प्रायश्चित्त के इन का उपनयसंस्कार नहीं हो सकता। कारण इस का यही है कि, स्वस्व गायत्री-त्रिष्टुप्-जगतीछन्दों का प्रधान विकास काल इन के दो दो चरणों तक ही रहता है। इन छन्दों की इस विकासावस्था को और अधिक उत्तेजित करने के लिए क्रमशः १६-२२-२४ वर्षों के अनन्तर केशान्तसंस्कार का विधान आवश्यक समझा गया है।

चूड़ाकरण संस्कार की जो इतिकर्त्तव्यता है, प्रायः वही इतिकर्त्तव्यता सत्रहवें वर्ष में होनें वाले इस केशान्त संस्कार की है। कहीं कहीं थोड़ी विशेपता है। 'उष्णेन वाय उदकेनेह्यदितें केशान् वप' इस मन्त्र के 'केशान् वप' इस अन्तिमभाग के स्थान में 'केशश्मश्रु वप' यह बोला जाता है। इस मन्त्र से इस के बाल भिगोए जाते हैं। चूडाकरण में केवल शिर के बाल काटे जाते हैं, यहां मुखश्मश्रुओं का भी मुण्डन होता है। अतएव क्षुरपरिहरण मन्त्र के—
'यत् क्षुरेण मज्जयता सुपेशसा वप्त्वा वावपति, केशाञ्छिन्धि, शिरो माऽस्यायुः प्रमोषीः'

१—षोडषवर्षाण्यतीतानि, यस्य स षोडशवर्षः। यस्य पुरुषस्य केशान्ताख्यः संस्कारः स्यात्। अयं च नियतकाले-एव, अतो विवाहित-अविवाहितयोर्भवति, इति जयरामः। अत्र कारिकायां—

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य ह्यधिके —(२४) ततः॥ (गदाधरः)

अन्त के 'भाऽस्यायुः प्रमोषीः' के स्थान में—'मास्यायुः प्रमोषीर्मुखम्' यह वाक्य बोला जाता है। यथाविधि संस्कार करने के अनन्तर इन केशों को अप्रकाशित रखते हुए गोमय-पिण्ड में रखकर गोष्ठ में, अथवा पानी में बहा दिया जाता है।

केशान्तसंस्कार से पहिले पहिले उपनयन संस्कार में भी इस का मुण्डन हुआ था। परन्तु अब आगे कुछ एक विशेष स्थानों को छोड़कर मुण्डन न होगा। केशान्त संस्कार के अनन्तर इसे यथाशक्ति ३-६-१२ दिन, अथवा एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य्य[1] का अनुगमन करना पड़ेगा, जैसा कि निम्न लिखित सूत्र से स्पष्ट है—

'मुखमिति च केशान्ते। यथामङ्गलं केशशेषकरणम्। अनुगुप्तमेतं सकेशं गोमयपिण्डं निधाय गोष्ठे, पल्वले, उदकान्ते वा। आचार्य्याय वरं ददाति। गां केशान्ते। सम्वत्सरं ब्रह्मचर्य्यं, अवपनं च केशान्ते द्वादशरात्रं, षड्रात्रं त्रिरात्रमन्ततः।

—पा० गृ० २।१

६–(१४)—*स्नानम्*—

यही 'स्नान' संस्कार 'समावर्त्तनसंस्कार' नाम से प्रसिद्ध है। एवं इस संस्कार से युक्त ब्रह्मचारी ही 'स्नातक' नाम से व्यवहृत हुआ है। यही संस्कार इसके दूसरे गृहस्थाश्रम का उपक्रम है। इस संस्कार के अनन्तर ही यह ब्रह्मचर्य्याश्रम समाप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने के लिए स्वगृह में वापस आता है। अतएव इस संस्कार में ब्रह्मचर्य्यानुबन्धी मेखला, मृगचर्म्म, दण्ड, आदि का परित्याग किया जाता है, एवं गृहस्थानुबन्धी वस्त्र, उष्णीष, उपानह, दर्पण, छत्र, पुष्प, चन्दन, यष्टि, आदि पदार्थों का संग्रह किया जाता है। स्वयं आचार्य्य अपने सामने इसे गृहस्थानुबन्धी इन सब परिकरों से मन्त्र पूर्वक युक्त करते हैं। वेद-समाप्त कर स्नान करने वाले को (व्रतादेश प्रकरण मे) विद्यास्नातक कहा गया है। यही

---

१ ऐसा प्रतीत होता है कि, पुरायुग में इस संस्कार के समाप्त होने पर १७-१८ वे वर्ष में भी विवाह कर लिया करते थे। तभी तो ब्रह्मचर्य्यादेश सार्थक बनता है। आर्जुनेय अभिमन्यु १६ वर्ष की अवस्था में रणक्षेत्र में गया था, एवं उस समय उस की धर्म्मपत्नी उत्तरा गर्भवती थी, यह सभी को विदित है।

समावर्त्तन के सम्बन्ध में पहिला पक्ष है—'वेदं समाप्य स्नायात्'। अथवा ४८ वें वर्ष में ब्रह्मचर्य्य की पूरी अवधि समाप्त कर स्नान करना दूसरा पक्ष है, परन्तु मीमांसा विरुद्ध होने से यह पक्ष सर्वथा गौण है—'ब्रह्मचर्य्यं वाऽष्टाचत्वारिंशकम्'। कितने ही आचार्य १२ वर्ष के (स्वाध्याय काल के) अन्त में भी समावर्त्तन मानते हैं— 'द्वादशकेऽप्येके-(इच्छन्ति)'।

इस सम्बन्ध में सूत्रकार के शब्दों से तीन पक्ष हो जाते हैं। सार्थ-मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद का अध्ययन समाप्त कर समावर्त्तन करना एक पक्ष है। षडङ्गपूर्वक मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद का अध्ययन समाप्त कर समावर्त्तन करना दूसरा पक्ष है। 'न कल्पमात्रे' के अनुसार केवल शब्दमात्र कण्ठ कर लेने से ही इस संस्कार का अधिकार नहीं मिलता। कृतकृत्यता तो अर्थ-पुरःसर वेदाध्ययन से ही होती है। हां, जिन की कुलवृत्ति पुरोहितपने की है, वे 'कामं तु याज्ञिकस्य' के अनुसार केवल कर्म्मकाण्डपद्धति जान कर भी काम चला सकते हैं, एवं यही तीसरा पक्ष है। इस संस्कार से सम्बन्ध रखने वाली इतिकर्त्तव्यता की उपपत्ति स्वयं इतिकर्त्तव्यता से ही स्पष्ट है। अत. सक्षेप से इतिकर्त्तव्यता का ही स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है।

समावर्त्तन संस्कार की इच्छा रखने वाला ब्रह्मचारी (आचार्य्य से आज्ञा लेकर) 'इतश्च पूर्वं वेदाहुति होमः' के अनुसार वेदाहुतिहोम करता है। यह वेदाहुतिहोम 'व्रतादेश' के विसर्जन का उपलक्षण समझना चाहिए। तैल-अभ्यञ्जन-छत्र-उपानह्-दर्पण-आदि जिन वस्तुओं का इसने अपनी ब्रह्मचर्य्यावस्था मे परित्याग किया था, समावर्त्तनानन्तर गृहस्थाश्रम में इन सब वस्तुओं का इसे यथासमय, यथाविधि ग्रहण करना है। अन्य परिग्रहों का ग्रहण, प्रथमाश्रम के परिग्रहों का परित्याग, यही सूचित करने के लिए 'वेदाहुति-होम' किया जाता है, जैसा कि—'एतदेव-व्रतादेशनविसर्गेषु' इत्यादि वचन से स्पष्ट है। वेदाहुतिहोम करने के अनन्तर, वस्त्रादि से वेष्टित समावर्त्तन (स्नान) स्थान के पास में ही प्रतिष्ठित अग्नि के उत्तरपार्श्व मे दक्षिणोत्तर आयत आठ जल के घडे रक्खे रहते हैं।

यथाविधि नाम बोलकर आचार्य के[1] चरणों में प्रणाम कर, ब्रह्मचारी समिदाधान करता है। समिदाधान के अनन्तर पूर्व से पश्चिम की ओर बिछे हुए कुशों पर यह ब्रह्मचारी बैठ जाता है। एवं निम्न लिखित मन्त्र बोलता हुआ प्रथम घट से जल लेता है—

'ये अप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा-गोह्य, उपगोह्यो, मयूषो, मनोहा. स्खलो, विरुज, स्तनूदूषु, रिन्द्रियहा, तान् विजहामि। यो रोचनस्तमिह गृह्णामि' इति।

"हे अग्नियो! आप के गोह्य-उपगोह्य-आदि जो आठ अमेध्य-अमङ्गलरूप जलों में रहा करते हैं, उन आठों को आप से पृथक् करता हूं। एवं (इन्हीं पानियों में) जो आप का (अग्नि का) स्वास्थ्यप्रद, मेध्य, मङ्गलरूप है, उस का ग्रहण करता हूं"। 'अपां संघातो विलयनं च तेजः संयोगात्' इस वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार अग्नितत्त्व पानी मे अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है। इस अग्नि ('धर्त्र' नामक तरल अग्नि) के प्रवेश से ही पानी द्रुत रहता है। पार्थिव पानियों मे प्रविष्ट अग्नि 'गायत्री' छन्द के सम्बन्ध से अष्टावयव बना रहता है। अष्टावयव इस अग्नि के दिव्य-पार्थिव, ये दो रूप हैं। पृथिवी मे जो गायत्राग्नि प्रतिष्ठित है, वह सौर, दिव्य, सावित्राग्नि का ही प्रवर्ग्य भाग है। सौर अग्नि ही प्रवर्ग्य बन कर पृथिवी मे अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रविष्ट होता हुआ, पार्थिव आठ वसुओं के सम्बन्ध से, पार्थिव आपः-फेन-मृत-सिकतादि आठ अवयवों के सम्बन्ध से, एवं प्रातःसवनीय पार्थिव अष्टाक्षर गायत्री छन्द के सम्बन्ध से अष्टावयव बन जाता है। जो कि पार्थिव अष्टमूर्त्ति गायत्र अग्नि 'कुमाराग्नि' नाम से प्रसिद्ध है, जिसका 'नामकरण' संस्कार मे दिग्दर्शन कराया जा चुका है। पृथिवी की प्रातिस्विक सम्पत्ति बने हुए ये आठों अग्नि, किंवा एक ही अग्नि के आठ रूप अहः-रात्रि के सम्बन्ध से दो अवस्थाओं मे परिणत रहते हैं। अहःकाल मे इन अग्नियों के साथ इन के मूलरूपात्मक सौर दिव्य सावित्राग्नि का भी सम्बन्ध रहता है। इसी सम्बन्ध से ये अग्नि दिव्यगुण से युक्त रहते हुए इन्द्रभाव से युक्त रहते हैं। जब पृथिवी रात्रि का अनुगमन करती है, तो उस समय ये पार्थिव अग्नि सौर-दिव्याग्नि सम्बन्ध से विच्युत

---

१ गुरुणाऽनुज्ञातः, उपसगृह्य गुरू, समिधोऽभ्यादाय, परिश्रितस्योत्तरतः कुशेषु प्रागग्रेषु पुरस्तात स्थित्वाऽष्टानामुदकुम्भाना– 'ये अप्स्वन्तरग्नय०' इत्येकस्मादपो गृहीत्वा, तेनाभिषिञ्चते—'तेन मामभिषिञ्चामि०' इति।' –पा० गृ० सू० २।५।

होते हुए पृथिवी के 'गर' (विष) भाग से युक्त हो जाते हैं। पृथिवी का निर्म्माण—'अद्‌भ्यः पृथिवी' इस श्रुति के अनुसार पानी से हुआ है। पानी वरुणप्राणप्रधान बनता हुआ आसुर है। आसुरभाव दिव्य-सम्पत्ति को नष्ट करने वाला, चेतना को अभिभूत करने वाला एक प्रकार का गर है। वारुणी रात्रि में इस की प्रधानता रहती है, अतएव रात्रि-'सगरा' नाम से प्रसिद्ध है। इसी गर भाव के सम्बन्ध से अष्टावयव अग्नि भी आसुर-भावयुक्त बना रहता है। ऐसा आसुर अग्नि वारुण पानी के द्वारा आठ दोष उत्पन्न किया करता है, जो कि दोष गोह्य—उपगोह्य-आदि नामों से प्रसिद्ध हैं।

शरीर का जकड़ जाना 'गोह्य' दोष है। शरीर में जलन पैदा हो जाना 'उपगोह्य' दोष है। शरीर में शोथ (सूजन) आजाना 'मयूप' दोष है। मन का उत्साह शून्य बन जाना 'मनोहा' दोष है। जठराग्नि का मन्द पड़ जाना (मन्दाग्नि हो जाना) 'अस्खल' दोष है। अङ्ग अङ्ग में पीड़ा हो जाना 'विरुज' दोष है। शरीर का दुर्गन्धि-युक्त बन जाना 'तनूदूषु' दोष है। एवं इन्द्रियों का स्वव्यापार में शिथिल बन जाना आठवाँ 'इन्द्रियहा' दोष है। ये आठों दोष वस्तुतः अग्नि से उत्पन्न नहीं होते। अग्नि तो स्वस्वरूप से इन आठों दोषों को दूर करता है। परन्तु यही अग्नि जब आप्य वरुणधर्मों से युक्त हो जाता है, तो इन दोषों का कारण बन जाता है। अतः ये आठों दोष वरुण के ही मानें जायंगे। दूसरे शब्दों में वरुणाग्नि ही इन दोषों का प्रवर्त्तक है। वर्षाऋतु में इसी वारुणाग्नि की प्रधानता रहती है। अतएव इस ऋतु में—'वर्षासु दोषाः कुप्यन्ति' के अनुसार वातादि धातु कुपित हो जाते हैं। शरीर का जकड़ जाना, जलन पैदा हो जाना, सूजन हो जाना, उत्साह का मन्द पड़ जाना, अग्नि का मन्द हो जाना, भूख न लगना, वातव्याधि से अङ्गों का जकड़ जाना, आदि दोष इसी ऋतु में प्रधानरूप से आक्रमण करते हैं। पानी के संसर्ग से उत्पन्न अग्नि के ये आठों दोष हट जायं, एवं अग्नि का दिव्यभावात्मक, ऐन्द्र, रुचिकर-हितकर भाव प्रस्फुटित हो जाय, प्रकृत मन्त्र इसी रहस्यार्थ का स्पष्टी करण कर रहा है। मन्त्रशक्ति के प्रभाव से रहनेवाला भी आप्य दोष पलायित हो जाता है, एवं अग्नि का गुणमय दिव्य रूप प्रकट हो जाता है,—'अचिन्त्यो हि मणि-मन्त्रौ-षधीनां प्रभावः' पर विश्वास रखनेवाले श्रद्धालु के लिये यह मान लेना सर्वथा विप्रतिपत्तिशून्य है। इस प्रकार—'ये अप्स्वन्तरग्नयः०'

इत्यादि मन्त्र से एक घट से जल लेने के अनन्तर उस मन्त्रपूत जल से वह ब्रह्मचारी निम्न लिखित मन्त्र बोलता हुआ अपने शरीर का अभिषेक (स्नान) करता है—

'तेन मामभिषिञ्चामि–श्रियै, यशसे, ब्रह्मणे, ब्रह्मवर्चसाय' ।

" (दिव्यगुण से युक्त बने हुए) उस जल से श्री, यश, ब्रह्म, ब्रह्मवर्चस् इन चार सम्पत्तियों के लिए मैं अपना अभिषेक करता हूं" ।

जिस प्रकार वारुण पानी आठ दोष उत्पन्न करता है, वहां यह दिव्यपानी श्री-यशादि का प्रवर्त्तक है। अध्यात्मसंस्था में आत्मा (ब्रह्ममूर्त्ति संस्कार्य्य भूतात्मा) बुद्धि-मन-पाञ्चभौतिक शरीर, ये चार प्रधान पर्व हैं। ब्रह्ममूर्त्ति आत्मा की कान्ति 'ब्रह्मवर्च' (ज्ञान-प्रधान तेज) है, बुद्धि की कान्ति 'वेद' है, मन का वैभव यश है, शरीरकान्ति श्री है। दिव्य-पानी के स्नान से अध्यात्मसंस्था के चारों पर्व क्रमशः चारों गुणों से युक्त हो जाते हैं, यही मन्त्र-रहस्य है।

गायत्रसम्पत्ति प्राप्त करने के लिए जो आठ उद-कुम्भ (जलघट) रक्खे जाते हैं, उनसे इसी प्रकार 'ये अप्स्वन्तरग्नय०' इत्यादि मन्त्र बोलते हुए जल लिया जाता है। आठों से जलग्रहण के लिए तो यह एक ही मन्त्र है। किन्तु अभिषेक-मन्त्रों में पार्थक्य है। प्रथम अभिषेकमन्त्र पूर्व में बतलाया जा चुका है। दूसरा, तीसरा, चौथा, पांचवां-अभिषेक तो निम्न लिखित मन्त्रों से किया जाता है, एवं अन्त के तीन अभिषेक तूष्णीं (विना मन्त्र के चुपचाप) होते हैं—

द्वितीय-अभिषेक मन्त्र—'येन श्रियमकृणुतां, येनावमृशतां सुराम् ।
येनाक्ष्यावभ्यषिञ्चतां, यद्वां तदश्विना यशः ॥ इति ॥

तृतीय-अभिषेक मन्त्र—'आपो हि ष्ठा मयो भुवस्ता न ऊर्जे दधातन ।
महे रणाय चक्षसे' ।

चतुर्थ-अभिषेक मन्त्र—'यो वः शिवतमो रसस्तस्यभाजयतेह नः ।
उशतीरिव मातरः' ।

पञ्चम-अभिषेक मन्त्र—'तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
आपो जनयथा च नः' ।

(२)—"हे अश्विनी कुमारो! जिस (जलीय शक्ति के) प्रभाव से आपने (अभिषेकद्वारा) देवताओं को श्री से युक्त कर दिया, जिस से देवताओं को अप्रधर्षणीय बना डाला, जिस से आपने नेत्रों का अभिषेक कर (नेत्रों को) बलवान बना डाला, आपके ऐसे ही प्रभावशाली जल से आज मैं अपना अभिषेक कर रहा हूं"। सविता, अश्विनी आदि 'प्रातर्य्यावाणः' देवता कहलाते हैं। प्रात काल प्रकृतिमण्डल में इन देवप्राणों का साम्राज्य रहता है। इन में दिव्य आग्नेय प्राण के सूचक नासत्य, दस्र, नाम के अश्विनी प्राण ही माने गए हैं। जिन पानियों में अश्विनी प्राण का प्रवेश रहता है, वे पानी दिव्यशक्ति के प्रवर्त्तक तो हैं हीं, साथ ही इन के सिञ्चन से नेत्रों का बडा उपकार होता है। प्रात काल के 'ओस' के पानी मे यही अश्विनीप्राण प्रतिष्ठित रहता है। अतएव यह पानी नासाछिद्र से पीने से नेत्रज्योति की अतिशयरूप से वृद्धि करता है। विशेषतः शरत्पूर्णिमा की रात्रि का ओस का जल तो नेत्रों के लिए बडा ही उपकारक है। क्योंकि, इस दिन अश्विनीप्राणघन अश्विनीनक्षत्र का साम्राज्य रहता है। इसी प्रकार आगे के मन्त्रों से भी इन्हीं दिव्य-शक्तियों का आधान होता है, जिनका विस्तारभय से प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। स्थालीपुलाकन्याय से पाठकों को सभी के तात्त्विक अर्थों का अनुमान लगा लेना चाहिए।

इस प्रकार यथाविधि आठ उदकुम्भों से स्नान कर ब्रह्मचारी निम्न लिखित मन्त्र बोलता हुआ पहिले तो मेखला को मस्तक की ओर से निकाल कर भूमिपर रख देता है, अनन्तर दण्ड का परित्याग कर देता है—

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य-व्रते तवानागसो अदितये स्याम।'

"हे वरुण! आप हमारे ऊपर के बन्धन से हमें विमुक्त कीजिए, नीचे के पाश से हमे छुडा-इए, एवं मध्य के पाश को ढीला कीजिए। हे आदित्य! इन तीनों पाशों से विमुक्त होकर सर्वथा निरपराध रहते हुए (अब) हम आप के (यज्ञात्मक) व्रत (कर्म्म) में आ रहे हैं। अतएव हम भविष्य के लिए सर्वथा दीनता रहित हों, (ऐसी कृपा कीजिए)।

त्रिवृत् मेखला मे नीचे, ऊपर, वीच मे, इस प्रकार तीन गाँठें लगाई जातीं हैं। ये तीनों ग्रन्थिया त्रिबन्धन की सूचिका हैं। ब्रह्मचर्य्याश्रम मे आचार्यगृह मे रहने वाला ब्रह्मचारी अपनी तीनो शक्तियों से सर्वथा परतन्त्र रहता हुआ उन नियमपाशों से बंधा रहता है, जिन नियमों का

विना किसी उच्छृङ्खलता के समावर्त्तनपर्य्यन्त अनुगमन करता हुआ यह याज्ञिक-श्रौत-संस्कारों का अधिकार प्राप्त करने में समर्थ होता है। ब्रह्मचारी की ऊर्ध्व लक्षण ज्ञानशक्ति मेखला के ऊर्ध्व वन्धन से मर्य्यादित रहती हुई परतन्त्र रहती है। इस आश्रम में इसका ज्ञान पदे पदे गुरू के आदेश का ही अनुगामी वना रहता है। मध्य लक्षण क्रियाशक्ति मेखला के मध्य वन्धन से, एवं अधोलक्षण अर्थशक्ति मेखला के अधो वन्धन से मर्य्यादित रहती हुई परतन्त्र है। ब्रह्मचारी का सारा कर्म्मकलाप, भिक्षादि अर्थसंग्रह, आचार्यसीमा से सीमित है। यहाँ इसके ज्ञान-कर्म्म-अर्थ का कोई मूल्य नहीं है। आचार्य्य कहे, वह समझो, आचार्य कहे, सो करो, एवं आचार्य कहे, उन अर्थों का उपभोग करो। इसी सीमाभाव की सूचना के लिए त्रिग्रन्थियुता, त्रिवृत्‌कृता, मेखला बांधी जाती है।

समावर्त्तनान्तर यह उस गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाला है, जहां इसे स्वतन्त्रता अपेक्षित है। कैसी स्वतन्त्रता,? आदित्यकर्म्मानुवन्धिनी स्वतन्त्रता। अवतक यह पार्थिव-व्रतों का अनुगामी था, अब यज्ञ-तपो-दान लक्षण, विद्यासमुचित आदित्य व्रतों का अनुगामी रहेगा। आहवनीयाग्निरूप आदित्य ही इसका शिरोभाग है। अतएव शिरोभाग की ओर से इस मेखला को वाहर निकालता हुआ ब्रह्मचारी यह सूचित कर रहा है कि, मैं इन वन्धनों से इस लिए नहीं निकल रहा कि, भविष्य में सर्वथा उच्छृङ्खल हो जाऊं। अपितु आजतक मैं मूलाधारस्थानीय पार्थिवव्रतों का प्रधानतया अनुगामी था, अब भविष्य में शिरोभागोपलक्षित आदित्य के व्रतों (वन्धनों) में रहूंगा। वहां इन पूर्ववन्धनों से काम नहीं चल सकता। अतः बड़े आदर के साथ इन वन्धनों का परित्याग करता हूं।

इस प्रकार मेखला का मन्त्रपूर्वक, दण्ड तथा मृगचर्म्म का तूष्णीं परित्याग कर, परित्याग काल में हीं (मन्त्र द्वारा) आदित्यव्रत में रहने की प्रतिज्ञा कर, स्वच्छ धौतवस्त्र पहिन कर ब्रह्मचारी निम्न-लिखित मन्त्रों से 'सूर्य्योपस्थान' करता है—

१—'उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् प्रातर्य्यावभिरस्थात्।
दशसनिरसि दशसनिं मा कुर्वाविदन् मागमय॥
२—उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थाद्दिवायावभिरस्थात्।
शतसनिरसि शतसनिं मा कुर्वाविदन् मागमय॥

३—उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् सायंयाव्भिरस्थात् ।
सहस्रसनिरसि सहस्रसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय ।।' इति ।।

प्रातःकालोपलक्षित प्रातःसवन से आरम्भ कर, सायंकालोपलक्षित सायंसवन तक विभ्राट् सूर्य्य की जैसी स्थिति रहती है, उक्त तीनों मन्त्रों से उसी स्थिति का स्पष्टीकरण हुआ है। इन्द्र-धाता-भग-पूषा-आदि १२ प्राणों की समष्टि ही 'सूर्य्य' है। इनमें सर्व-ज्येष्ठ, सर्वश्रेष्ठ, यज्ञसञ्चालक, यज्ञपति, आत्मस्वरूपप्रवर्त्तक, बृहतीद्वारा आयुः-स्वरूप रक्षक, धी भागद्वारा बुद्धि का प्रवर्द्धक, अन्यतम 'इन्द्र' प्राण ही सूर्य्य से उपलित है। 'इन्द्रतुरीया ग्रहा गृहन्ते' के अनुसार सूर्य्यस्थ यह इन्द्रप्राण 'मरुत्वान्' नामक, सप्त-सप्तकात्म (४९) वायुविशेषों से युक्त होकर ही पार्थिव प्रजा की अध्यात्मसंस्था में प्रविष्ट होता है। वस्तुतः रश्मियों के द्वारा ही इस इन्द्रप्राण का त्रैलोक्य में विस्तार होता है, जैसा कि 'देवं वहन्ति केतवः, दृशे विश्वाय-सूर्य्यम्' इत्यादि यजुर्म्मन्त्र से स्पष्ट है। यदि केवल रश्मियों के द्वारा ही इन्द्रप्राण का पृथिवी की ओर आगमन होता, तो इसकी सर्वतः व्याप्ति न होती। क्योंकि सत्य सूर्य्य से चारों ओर वितत होनें वाली रश्मियाँ भी सत्यभाव के कारण ऋजुमार्ग का ही अनुसरण करतीं हैं। इसी ऋजुभाव के कारण रश्मियों के सन्धिस्थान इन्द्रव्याप्ति से वञ्चित रह जाते है। परन्तु अन्तरिक्ष सञ्चारी वायु देवता इस कमी को पूरी कर देते हैं। वायु स्वयं ऋत बनता हुआ सर्वत्र व्याप्त है। रश्मिसन्धियाँ भी वायु से खाली नहीं हैं। परिणाम इस वायु व्याप्ति का यह होता है कि, वायु में प्रतिष्ठित, ध्रीध्र, अतएव रश्मिग्राहक दिक्सोम के प्रभाव से सौर-रश्मियों का इतस्ततः-सर्वत्र प्रतिफलन हो जाता है। इस प्रकार मरुत्वान्-वायु के सहयोग से छिद्रभावयुक्त पवित्र रश्मियाँ 'अच्छिद्र-पवित्र' बन जातीं हैं। प्रातः-मध्यान्ह-सायं, तीनों कालों में मरुत्सहयोग से इन्द्रदेवता सर्वत्र अच्छिद्ररूप से व्याप्त हो रहे हैं। सर्वत्र व्याप्त हो जाना, मरुत्सहयोग का एक फल है। दूसरा फल है—'भ्राजतेज' का विकास।

'वर्च-भ्राज-द्यु म्न-सुम्न' आदि भेद से तेज की अनेक जातियाँ मानीं गई है। ज्ञानीयतेज 'वर्च' है। दूसरों की दृष्टि में चकाचौंध पैदा कर देने वाला, रूपज्योतिर्म्मय तेज 'भ्राज' है। आभूषणों से उत्पन्न होने वाला सौन्दर्य्य विशेष 'द्युम्न' है। कर्म्मकौशललक्षण चातुर्य्य 'सुम्न' है। वर्च का अग्नि से, भ्राज का इन्द्र से, द्युम्न का विश्वेदेवों से, एवं सुम्न

का पार्थिव भूपाप्राण से सम्बन्ध है। अतएव अग्निप्रधान ब्राह्मण का प्रातिस्विक तेज 'ब्रह्म-वर्च' माना गया है। इन्द्रप्रधान क्षत्रिय का तेज 'भ्राज' माना गया है। एवं रत्न-मणि-मुक्ता सुवर्णादि आभूषणों से अलङ्कृत, विश्वेदेव प्रधान वैश्यों का तेज 'द्युम्न' माना गया है। एवं शिल्प-चातुर्य्य में निपुण शूद्रतेज 'सुम्न' कहलाया है।

हमारे इस ब्रह्मचारी को गृहस्थसंस्था का शासन करने के लिए, आज 'भ्राज' तेज की भी आवश्यकता पड़ गई है। सूर्य्यस्थित इन्द्रदेवता स्वयं तो रूपाधिष्ठाता हैं हीं, साथ ही वायुगत सोमसम्पर्क से इनकी यह रूपज्योति और भी अधिक प्रदीप्त हो गई है। यही प्रदीप्त तेज 'भ्राज' है। वायुस्थित सोमपान से भ्राजमान बने हुए इसी इन्द्रात्मक सूर्य्य की स्तुति करते हुए महर्षि कहते हैं—

'विभ्राड्-बृहत्-पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविहुतम्।
वातजूतो यो अभिरक्षति 'त्मना' प्रजाः पुपोष पुरुधा वि राजति ॥

—यजुः सं० ३३।३०।

इसी भ्राजतेज से मरुद्गणसहचारी इन्द्र—'भ्राजभृष्णु' बन रहे हैं। इनके भ्राज ने त्रैलोक्य के इतर सब भ्राजतेजों की भर्त्सना कर दी है। कोई इनके सामने दृष्टि नहीं ठहरा सकता। ऐसे ये भ्राजजिष्णु देवता प्रातर्य्यावादि इतर प्राणदेवताओं से युक्त होते हुए त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित हैं। मन्त्रों के पूर्वार्द्धों का अर्थ इसी विवेचन से गतार्थ है।

प्रत्येक गृहस्थी को स्व-स्व गृहस्थ-संस्था के यथावत् सञ्चालन के लिए ज्ञानानुगत ब्रह्मबल (ज्ञानशक्ति), क्रियानुगत क्षत्रबल (क्रियाशक्ति), एवं अर्थानुगत विड्बल (अर्थशक्ति) तीनों बल अपेक्षित हैं। ये तीनों बल ही भ्राजभृष्णु, मरुत्सहचारी इन्द्र से मिलते हैं, परन्तु भिन्न भिन्न देवताओं के सहयोग से। अग्नि, उषा, अश्विनी, सविता, यम, ये 'प्रातर्य्यावाणः' देवता हैं। प्रातःसवनोपलक्षित प्रातःकाल में इन्द्र इनसे युक्त रहते हुए ब्रह्मबल के प्रदाता बनते हैं। छन्द, ऋभु, वृषाकपायी, आदि 'सायंयावानः' देवता हैं। सायंसवनोपलक्षित सायंकाल में इन्द्र इनके सहयोग से विड्बल के प्रदाता बनते हैं। एवं दोनों की सन्धि में स्थित—पृश्निमाता, मरुत, आदि के सहयोग से क्षत्रबल के प्रवर्त्तक बनते हैं।

तीनों सवनों में सौररश्मियों का क्रमशः १०-१००-१००० संख्याओं से वितान होता है, जैसा कि 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' द्वितीय खण्ड के 'गायत्रीमात्रिक

वेदनिरुक्ति' प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादित है। इन्हीं संस्थाओं के ऋण-धन से ऋक्-यजुः-साम-अथर्व वेदों की क्रमशः २१—१०१—१०००—९, शाखाएं होती हैं, जिनका मौलिक रहस्य उक्त ईश-प्रकरण में ही स्पष्ट किया गया है। प्रकृत में इस सम्बन्ध में केवल यही वक्तव्य है कि, तीनों मन्त्रों से सूर्य्योपस्थान करता हुआ स्नातक ब्रह्मचारी गृहस्थानुबन्धी आदित्यतेज का ही अपने ब्रह्मभाग में (भूतात्मा में) आधान करता है।

सूर्य्योपस्थानान्तर ब्रह्मचारी दधि-तिल, दोनों में से किसी एक का प्राशन (भोजन) करता है। यह प्राशनकर्म्म 'सूर्य्योपस्थान' से आहित इन्द्रसंस्कार को दृढ़मूल बनाने के लिए ही होता है। उपस्थानकर्म्म से इन्द्रदेवता इसकी अध्यात्मसंस्था के अतिथि बन जाते हैं। आगत अतिथि का भोजनादि से सत्कार करना मुख्य मानवधर्म्म है। उधर सान्नाय्यलक्षण दधि (दही), एवं तिल, दोनों इन्द्र के प्रातिस्विक अन्न मानें गए हैं। वरुण से प्रतिमूर्च्छित इन्द्र ही का नाम दधि है, एवं वरुण से प्रतिमूर्च्छित इन्द्र ही का नाम 'तिल' है। अतएव दोनों में से अन्यतर (एक) पदार्थ का यहां ग्रहण हुआ है। इस प्राशनकर्म्म पर ही एक प्रकार से समावर्त्तन संस्कार की समाप्ति है। अब आगे इस सम्बन्ध में इसे जो कर्म्म करने पड़ते हैं, आचार्य की ओर से जो आदेश मिलते हैं, उन सबका गृहस्थ मर्य्यादा से सम्बन्ध है। जिनकी इतिकर्त्तव्यता दृढ़ता के लिए इसी संस्कार में पूरी करली जाती है। अब ब्रह्मचारी उन ब्रह्मचर्य्यानुगत नियमों को छोड़ता हुआ दन्तधावनादि गृह्यकर्म्मों में प्रवृत्त होता है।

दधि, अथवा तिल प्राशनानन्तर जटा-लोम[१] (केश) नखादि हटा कर (क्षौर करा के) स्नान करता है, स्नानान्तर उदुम्बर (गूलर) की लकड़ी के दाँतुन से निम्न लिखित मन्त्र बोलता हुआ दन्तधावन करता है—

अन्नाद्याय व्यूहध्वं सोमो राजायमागमत्।
स मे मुखं प्रमार्क्ष्यते यशसा च भगेन च ॥

---

१ दधि-तिलान् वा प्राश्य, जटालोमनखानि संहृत्य-औदुम्बरेण दन्तान् धावेत।
—पा० गृ० २।५।

"हे दांतो! तुम अन्नाद्य (अन्नग्रहण) के लिए (अपना सुव्यवस्थित रूप से) व्यूहन करो। अर्थात् अन्नचर्वण प्रक्रिया के अनुरूप तुम्हारी पंक्ति समान रहे। क्योंकि (दन्तधावनरूप से) यह सोम राजा यहां (दांतों में) आया है। यह तुम्हें साफ-सुथरा करेगा, साथ ही यश और ऐश्वर्य्य से युक्त करेगा"।

मन्त्र साधारण सा, दन्तधावन भी एक सामान्य कर्म्म। परन्तु इस कर्म्म का महत्व कितना बड़ा? विचार कीजिए। दांतों को साफ न करने से प्रतिदिन का खाया अन्न अनुशयरूप से दांतों, विशेषतः दन्तछिद्रों में जमता जाता है। कालान्तर में यह कीटाणु उत्पन्न कर देता है। ये उत्पन्न कीटाणु अन्न के साथ उदर में प्रविष्ट होते हुए अग्निमान्द्य के कारण बन जाते हैं। स्वास्थ्यविघातक इस दोष से बचने के लिए जहां प्रतिदिन दांतुन करना आवश्यक है, वहां दिव्यवीर्य्य-रक्षा के इच्छुक द्विजाति को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि, कहीं यह दन्तधावन के उपकरण (प्रचलित पाउडर, ब्रुश आदि असत्पदार्थों से सम्पन्न हुए) दोषवर्द्धक तो नहीं है?। अवश्य ही प्रचलित साधन दांतों को तो मोती-सा चमकदार बना देंगे, परन्तु चूंकि ये पवित्र सोमगुण से वञ्चित हैं, यही नहीं, दिव्यभावों को आवृत करने वाले केश-ब्रुश, चर्बी आदि अभक्ष्य-पदार्थों के सम्मिश्रण से सम्पन्न पाउडर आदि दिव्यभावों को मलिन कर डालेंगे। हमें सफाई वह पसन्द है वह ग्राह्य है, जो भूतशुद्धि के साथ साथ आत्मभावों की रक्षा करती रहे। न कि केवल भूतशुद्धि की अधिष्ठात्री बनती हुई वह सफाई आत्मभावों को मलिन करदे। शास्त्र ने जिस वस्तु[1] से (उदुम्बरादि काष्ठ से) दन्तधावन का आदेश दिया है, उस में दोनों धर्म्म विद्यमान हैं। चर्वित दन्तधावन ब्रुश के प्रपितामह का भी काम देता है, एवं इस का सोमगुण कीटाणुओं को मारने के साथ साथ दिव्यभाव का भी रक्षक बनता है। इसी दिव्यभाव के अनुरोध से वर्णभेद से दन्तधावन की नाप में पार्थक्य हुआ है, जैसा कि निम्न लिखित वाक्य से स्पष्ट है—

१—खदिरश्च कदम्बश्च करञ्जश्च तथा वटः।
तिन्तिडी वेणुपृष्ठश्च आम्रनिम्बौ तथैव च॥ १॥
अपामार्गश्च बिल्वश्च अर्कश्चोदुम्बरस्तथा।
एते प्रशस्ताः कथिता दन्तधावनकर्म्मसु॥ २॥

'औदुम्बरेण,' द्वादशाङ्गुलसम्मितेन, कनिष्ठिकाग्रवत् स्थूलेन दन्तान् धापयेद् ब्राह्मणः, दशांगुलेन राजन्यः, अष्टांगुलेन वैश्यः'।

ब्राह्मण 'ब्रह्म' का उपासक है, क्षत्रिय 'तेज' (ज्योति) का उपासक है, एवं वैश्य विश्वेदेवात्मक अन्न का उपासक है। इस दृष्टि से जगती ब्रह्म है, जगती द्वादशाक्षरा है, अतएव ब्रह्मोपासक' ब्राह्मण का दन्तधावन १२ अङ्गुल लम्बा होता है। तेज विराट् है, विराट् दशाक्षर है, अतएव तदुपासक क्षत्रिय के लिए १० अङ्गुलक दन्तधावन विहित है। विश्वेदेवों का अनुष्टुप्छन्द से सम्बन्ध है, अनुष्टुप्छन्द (सप्ताहोरात्रवृत्तविज्ञानानुसार) अष्टाक्षर है। अतएव तदुपासक वैश्य के लिए ८ अङ्गुल दन्तधावन का विधान हुआ है।

इस प्रकार यथाविधि दन्तधावन कर, तत्पश्चात् 'अङ्गोद्वर्त्तन'[३] (उबटने) से शरीर को निर्म्मल, चिक्कण बनाता है। उद्वर्त्तनानन्तर पुनः 'मलस्नान' करता है। मलस्नान के अनन्तर निम्न लिखित मन्त्र बोलता हुआ मुख, तथा नासिका पर चन्दनादि का 'अनुलेपन' करता है—

'प्राणापानौ मे तर्पय, चक्षुर्म्मे तर्पय, श्रोत्रं मे तर्पय'।

१—काम्यप्रयोगाः—१—"उदुम्बरेण वाक्सिद्धिं, वैदर्य्यां मधुरस्वरः।
कदम्बेन महालक्ष्मी, राम्रेणारोग्यमेव च"
२—क्षमामार्गाद्विरोगत्वं, स्त्रीवंश्यं च प्रियङ्गुभिः।
अपामार्गे सर्वसिद्धिं, वन्धूके च दृढ़ा मतिः।
आरोग्यं कर्णिकारेण, करञ्जेन रणे जयः॥"

२—(१)—"ब्रह्म वै जगती" —गोपथ ब्रा० उ० ५।५
(२)—"द्वादशाक्षरा जगती" —ताण्डय ब्रा० ६।३।१२
(३)—"विराड् वै छन्दसां ज्योतिः" —ताण्डय ब्रा० ६।३।६
(४)—दशाक्षरा वै विराट्" —शत० ब्रा० १।१।१।२२
(५)—"विश्वेदेवा अनुष्टुभं समभरन्" —जै० उ० ब्रा० १।१८।७

३—उत्साद्य, पुनः स्नात्वा, अनुलेपनं नासिकयोर्मुखस्य चोपगृह्णीते—"प्राणापानौ०"!
—पा० गृ० सू० २।५

अनन्तर 'प्राचीनावीती' बन कर—'पितरः शुन्धध्वम्' यह मन्त्र बोलता हुआ स्नान किए हुए जल को हाथ में लेकर दक्षिण दिशा में डालता है। अनन्तर पुनः चन्दनादि लगा कर निम्न लिखित मन्त्र का उच्चारण करता है—

'सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासं सुवर्चा मुखेन।
सुश्रुत् कर्णाभ्यां भूयासम्' इति।

इसी प्रकार मन्त्रपूर्वक वस्त्रधारण, पुष्पग्रहण, पुष्पबन्धन, कर्णालङ्कारधारण, उष्णीष (पगड़ी) धारण, छत्रग्रहण, वेणुमय दण्डधारण, आदर्श मुखदर्शन, उपानह्-धारण आदि कर्म्म यथाविधि किए जाते हैं, एवं यहां पर आकर इस का ब्रह्मचर्य्याश्रम समाप्त हो जाता है, गृहस्थ धर्म्मों का आरम्भ हो जाता है। आज से इस की 'त्रैवर्णिक' संज्ञा हो जाती है। अब यह गुरुगृह से स्वगृह लौटने वाला है। गृहस्थाश्रम में इसे किन किन यमधर्म्मों का पालन करना चाहिए? उन स्नातक सम्बन्धी यमों की शिक्षा सर्वान्त में और दी जाती है।

१—अर्थोपार्ज्जन के निमित्त ब्राह्मण नृत्य-गीत-वाद्यकर्म्म से पृथक् रहै। हां, मनोविनोद के लिए, स्वेच्छा से यदाकदा गानकर्म्म कर ले।

२—बिना प्रयोजन रात्रि में न दूसरे ग्राम में जाय, न दौड़ लगावे।

३—(क) कूप के तट पर बैठ के उसके भीतर न झुके, (ख) वृक्षों पर चढ़ने का साहस न करे, (ग)—नीचे से पाषाणादि फेंक कर फल न तोड़े, (घ)—संध्या के समय मार्ग गमन न करै, (ङ)—नग्न होकर स्नान न करै, (च)—पर्वत-गर्त्तादि उच्चावच स्थानों को न लांघे, (छ)—कभी अश्लील भाषण न करै, (ज)—उद्यन्त-अस्त सूर्य्य को न देखे।

४—वर्षा के समय सिर को बिना ढके गमन करै।

५—पानी में अपनी परछाई न देखे।

६—अजातलोम्नी[1], विपुंसी, एवं पण्ढ पुरुष का उपहास न करै।

---

[1] समय पर केशलोमादि उत्पन्न न होने पर स्त्री को 'अजातलोम्नी' कहा जाता है। पुरुषवत् जिसके मुख पर श्मश्रु आदि चिन्ह रहते हैं, वह स्त्री 'विपुंसी' कहलाती है। नपुंसक को 'पण्ढ' कहा जाता है।

७—गर्भिणी, सकुल, भगाल, मणिधनु, इन चारों को इन प्रत्यक्ष नामों से न बोल कर क्रमशः—विजन्या, नकुल, कपाल, इन्द्रधनु, इन नामों से व्यवहृत करे।

८—नीलीवस्त्र कभी धारण न करे।

९—अपने संकल्प में दृढ़ बना रहे।

१०—सब ओर से आत्मा को सुरक्षित रक्खे।

११—सब के साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार करे—इत्यादि।

७-(१५)-विवाहः—

विवाहसंस्कार वह संस्कार है, जिससे संस्कृत होकर प्रजापति 'वेद-लोक-प्रजा-धर्म्म' इन चार सृष्टियों के सर्जन में समर्थ होते हैं। विवाहसंस्कार प्रजापति का पहिला संस्कार है। उसकी पहिली कामना है—'स एकाकी न रेमे, तद् द्वितीयमैच्छत्, पतिश्च पत्नी च' (वृ० उ० १।४।३)। गर्भाधानादि इतर संस्कार प्रजापति के विवाहसंस्कार के पीछे होते हैं। अपने शरीर के आधे भाग से पत्नी उत्पन्न कर वे स्वयं गर्भीभूत बनते हैं। चूंकि विवाह-संस्कार प्रजापति का पहिला संस्कार है, अतएव इसी प्राकृतिक रहस्य को संकेत विधि से सूचित करने के लिए गृह्यमन्थों में गर्भाधानादि इतर संस्कारों से पहिले ही 'विवाह संस्कार' की इतिकर्त्तव्यता प्रतिपादित हुई है।

विवाहसस्कार वह संस्कार है, जिससे संस्कृत होकर द्विजाति वेद-लोक-प्रजा-धर्म्म, इन चार भावों की कृतकृत्यता सम्पादन करने मे समर्थ होता है। बिना विवाह के न तो इसे वेदमूलक 'यज्ञकर्म्म' का अधिकार है, न लोकप्रतिष्ठा है, न प्रजासमृद्धि है, न धर्म्मसंग्रह है। जिस संस्कार के बल से यह अपने अध्यात्म प्रपञ्च को अधिभूत प्रपञ्च के द्वारा अधिदैवत प्रपञ्च के साथ युक्त करने में समर्थ होता है, वह यही विवाह संस्कार है। बिना इस संस्कार के पुरुष 'अर्द्धबृगल' है, 'अर्द्धेन्द्र' है, अपूर्ण है। पूर्णपुरुष (ईश्वर प्रजापति) के साथ सायुज्यभाव प्राप्त करने के लिए इसकी अर्द्धेन्द्रता की पूर्णेन्द्रता मे परिणति अपेक्षित है। एवं अर्द्धेन्द्र पुरुष की यह पूर्णेन्द्रता एकमात्र 'पत्नी' संयोग पर ही निर्भर है। यही पत्नी इसके अर्द्धाकाश को पूर्ण कर इसे पूर्णपुरुष के समकक्ष बनाती है। इन्हीं सब प्राकृतिक कारणों के आधार पर महर्षियों नें इस संस्कार को 'आवश्यकतम' संस्कार माना है।

सामान्य दृष्टि रखनेवाले लौकिक मनुष्यों की बात जाने दीजिए। उनकी दृष्टि में तो 'विवाह' एक प्रकार का लौकिक कर्म्म है। वैषयिक तृप्ति का साधनमात्र है। अतएव इनका 'विवाह' विवाह-धर्म्मों से सर्वथा बहिष्कृत है। परन्तु एक आस्तिक, भारतीय, द्विजाति की दृष्टि में तो विवाह एक अलौकिक सम्बन्ध ही बन रहा है। जिन दो व्यक्तियों का यह संस्कार होता है, उन दोनों का आत्मा एक बन जाता है, शरीरमात्र पृथक् पृथक् रहते हैं। अतएव लोकान्तरों में भी इस दाम्पत्यभाव का प्रवाह प्रवाहित रहता है। 'सह धर्म्मं चरताम्' के अनुसार विवाह एक ऐसा धार्म्मिक संस्कार है, जो कभी किसी भी उपाय से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता।

सम्वत्सर प्रजापति की हमनें (उपनय प्रकरण में) खगोल में व्याप्ति बतलाई है, एवं इस सम्वत्सर प्रजापति का (गर्भाधान प्रकरण में) कश्यपसंस्था के साथ सम्बन्ध बतलाया गया है। वहां यह स्पष्ट किया गया है कि, सम्वत्सरप्रजापति कश्यपाकार में परिणत होकर ही प्रजासृष्टि में समर्थ होते है। सम्वत्सरमण्डलावच्छिन्न, कश्यपप्रजापति को सीमित करने वाला खगोल ही इन्द्र की पूर्णव्याप्ति से पूर्णेन्द्र कहलाया है। 'नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन' के अनुसार इस सम्पूर्ण खगोल में इन्द्रतत्त्व व्याप्त है। इस इन्द्रप्राण के 'अग्नि-सोम' ये दो तत्त्व नित्य सहयोगी मानें गए हैं। इन दोनों में से अग्निसहयोग से इन्द्रात्मक कश्यप प्रजापति सूर्य्यात्मना पुरुषसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है, एवं सोमसहयोग से चन्द्रात्मना स्त्री-सृष्टि का उत्पादक बनता है। अग्निप्रधान, सौर, आधे भाग से पुरुष, एवं सोमप्रधान, चान्द्र, आधे भाग से स्त्री का विकास हुआ है। अतएव पुरुष आग्नेय कहलाया है, एवं स्त्री सौम्या कहलाई है।

सम्वत्सरप्रजापति के 'अहः—रात्रि' ये दो प्रधान पर्व हैं। इन दोनों का क्रमशः सम्वत्सरमण्डलमध्यवर्त्ती सूर्य्य, तथा चन्द्रमा के साथ सम्बन्ध माना गया है। अहःकाल में चन्द्रगर्भित (सोमगर्भित) सूर्य्य का साम्राज्य है, रात्रि मे सूर्य्यगर्भित चन्द्रमा का साम्राज्य है। अहःकाल सम्वत्सर का आधा भाग है, रात्रि आधा भाग है। दोनों के समन्वय से अहोरात्रलक्षण सम्वत्सरचक्रपूर्ण बना हुआ है। जिन्हें पक्ष, मास, अयन, आदि कहा जाता है, वे सब भी तो अहोरात्र के परिप्लव से सम्बन्ध रखते हुए अहोरात्रात्मक ही हैं। अतएव अन्ततोगत्वा सम्वत्सर-स्वरूप का पर्य्यवसान अहोरात्र पर ही मान लिया जाता है, जैसा कि निम्न लिखित श्रुतियों से स्पष्ट है—

१—'एतं ह वै सम्वत्सरस्य चक्रं, यदहोरात्रे'। —ऐतरेय ब्रा० ५।३०।
२—'अहोरात्राणीष्टकाः (सम्वत्सरस्य)'। —तै० ब्रा० ३।११।१०।४।
३—'एतावान् वै सम्वत्सरो, यदहोरात्रे'। —कौ० ब्रा० १७।५।
४—'अहर्वै विष्णुक्रमाः, रात्रिर्वात्सप्रम्। एतद्वा इदं सर्वं प्रजापतिः, प्रजनयिष्यंश्च प्रजनयित्वा चाहोरात्राभ्यामुभयतः पर्य्यगृह्णात्'।
—शत० ब्रा० ६।७।४।१२।

बात यथार्थ में यह है कि, सम्वत्सर का स्वरूप ऋत अग्नि, तथा ऋत सोम के अन्न-अन्नादात्मक यज्ञ सम्बन्ध से सम्पन्न हुआ है। अग्नि तेज है, सोम स्नेह है। तेज अहः है, स्नेह रात्रि है। इन दोनों से ही सम्पूर्ण सम्वत्सर व्याप्त है। जिन्हें हम दिन-रात कहते हैं, उन में पार्थिवप्रजानुबन्धी तेजः-स्नेह तत्वों का उपभोग हो रहा है। जिन्हें हम शुक्ल-कृष्णपक्ष कहते हैं, वे उन में आन्तरीक्ष्य प्रजा (पितर) नुबन्धी तेजः—स्नेहतत्वों का उपभोग हो रहा है। एवं जिन्हें हम उत्तरायण-दक्षिणायन कहते हैं, उन में दिव्यप्रजा (देवता) नुबन्धी तेजः-स्नेह-तत्वों का उपभोग हो रहा है। हमारी दृष्टि से षण्मासात्मक उत्तरायणकाल तेजोभाव के कारण दिव्यप्रजा के लिए एक दिन है, एवं षण्मासात्मक दक्षिणायन काल एक रात है। एवमेव हमारी दृष्टि से पञ्चदशदिनात्मक शुक्लपक्ष पितरप्रजा की एक रात है, पञ्चदशदिनात्मक कृष्णपक्ष पितरप्रजा का एक दिन है। अहोरात्र शब्द इसी आधार पर विचाली मानें गए हैं, जैसा कि 'आश्रमविज्ञान' में स्पष्ट किया जा चुका है। वक्तव्यांश यही है कि, रात्रि से स्नेहतत्व उपलक्षित है, एवं अहः से तेजोभाव अभिप्रेत है। इन्हीं दोनों के समन्वित रूप का नाम 'सर्व' (सम्वत्सर) है, जैसा कि—'द्वयं वा इदं सर्व-स्नेहश्चैव, तेजश्च। तदुभय-महोरात्राभ्यामाप्तम्' (शा० ब्रा० १७।५) इत्यादि 'शाङ्खायन' श्रुति से स्पष्ट है।

जैसा कि पूर्व में कहा गया है, तेजोमय अह-काल में सौर अग्नि की, एवं स्नेहमयी रात्रि में चान्द्रसोम की प्रधानता है। पृथिव्यनुगत, अग्नीषोमात्मक, सम्वत्सरीयखगोल इस अहोरात्र के सम्बन्ध से 'दृश्य-अदृश्य' भेद से दो भागों में विभक्त हो जाता है। रात्र्यवच्छिन्न, चान्द्रसौम्यप्राणप्रधान, सौराग्निगर्भित, अर्धविष्वद्वृत्त से युक्त अर्द्धसम्वत्सर चक्र अदृश्य-सम्वत्सर चक्र है। एवं दिनावच्छिन्न, सौर आग्नेयप्राणप्रधान, चान्द्रसोम गर्भित, अर्ध-विष्वद्वृत्त से युक्त अर्द्धसम्वत्सर चक्र दृश्य सम्वत्सर चक्र है। अदृश्य, सौम्य सम्वत्सर चक्र

से स्त्रीसृष्टि का विकास होता है, अतएव 'तिरोभाव'[1] इन का स्वाभाविक धर्म्म माना गया है। दृश्य सम्वत्सर चक्र से पुरुषसृष्टि का विकास हुआ है।

रात्रि में पृथिवी का जहां अपना धर्म्म विकसित रहता है, वहां अह्-काल में पार्थिव विवर्त्त सौरधर्म्म से आक्रान्त हो जाता है। पृथिवी गार्हपत्य है, इस का अग्नि गृहपति नाम से प्रसिद्ध है। अतएव स्त्री को घर की प्रतिष्ठा माना गया है। गृहसंस्था का सञ्चालन एक-मात्र स्त्री पर ही अवलम्बित है। लज्जा-शील-विनयादि स्वाभाविकधर्म्मों से नित्ययुक्त रहते हुए स्त्रियों को किन किन धर्म्मों का अनुगमन करना चाहिए ? इसी प्रश्न का समाधान करते हुए स्मृतिकार कहते हैं—

१—भर्त्तुः समानव्रतचारित्वम्—(पति के धर्म्मों का अनुगमन करना)।

२—श्वश्रू-श्वशुर-गुरु-देवता-अतिथिपूजनम्—(सास, ससुर, गुरू, देवता, अतिथियों का यथानियम आदर सत्कार करना)।

३—सुसंस्कृतोपस्करता—(गृहस्थ के वस्त्र-अन्न-पात्र-आदि परिग्रहों को यथाव्यवस्थित, परिष्कार के साथ सुव्यवस्थित रखना)।

४—अमुक्तहस्तता—(बड़ी सावधानी से आवश्यकतानुसार, आय-व्यय का समतुलन करते हुए खर्च करना)।

५—सुगुप्तभाण्डता—(अन्न-घृत-शर्करा आदि से युक्त भाण्डों को सुरक्षित स्थान में रखते हुए, यथानियम इन्हें संभालते रहना)।

६—मङ्गलाचारतत्परता—(परिवार की मङ्गल कामना के लिए कुलदेवता, कुलदेवी, पितर, आदि की परितुष्टि के लिए यथासमय माङ्गलिक उत्सवादि करते रहना)।

७—भर्त्तरि प्रवसितेऽप्रतिकर्म्मक्रिया—(पति के विदेश रहने पर शृङ्गारादि क्रियाओं का परित्याग कर भृतुवृत्ति का अनुगमन करना)।

८—परगृहेष्वनभिगमनम्—(बिना प्रयोजन, केवल मनोविनोद के लिए दूसरों के घरों में भूल कर भी न जाना)।

१—"तिर इवैव चिचरिषति" (शत० ६।४।४।१६)। "गृहा वै पत्न्यै प्रतिष्ठा"।

—शत० ३।३।१।१०

९—द्वारदेश-गवाक्षेष्वनवस्थानम्—(घर के द्वार में, जाली-झरोखों में, बाहर के वरांडे में, जहां मानववर्ग का यातायात, एवं दृष्टि सम्बन्ध बना रहता है, न बैठना)।

१०—बाल्य-यौवन-वार्धक्येष्वपि पितृ-भर्तृ-पुत्राधीनता—(अपनी तीनों अवस्थाओं में क्रमशः पिता-पति-पुत्र के न्यायोचित, मर्य्यादारक्षक, मधुर अनुशासनों के अनुसार चलना)।

११—मृते भर्तरि ब्रह्मचर्य्यं, तदन्वारोहणं वा—(पति के आत्यन्तिक वियोग हो जाने पर या तो यावज्जीवन ब्रह्मचर्य्य व्रत का पालन करना, अथवा पतिशरीर के साथ ही चितारोहण करना)।

नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो, न व्रतं, नाप्युपोषितम् ।
पतिं शुश्रूषते यत्तु तेन स्वर्गे महीयते ॥ १ ॥
पत्यौ जीवति या योषिदुपवासव्रतं चरेत् ।
आयुः सा हरते भर्त्तुर्नरकं चैव गच्छति ॥ २ ॥
मृते भर्त्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्य्ये व्यवस्थिता ।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥ ३ ॥

—विष्णुस्मृतिः २५ अ० ।

सूर्य्य का चूंकि बाह्य संस्था से सम्बन्ध है, अतएव तत्प्रधान पुरुष बाह्य संस्था का सञ्चालक माना गया है। सौम्यकर्म्मानुगता स्त्री, तथा उग्रकर्म्मानुगत पुरुष, दोनों जबतक विवाह सूत्र से सीमित नहीं बन जाते, तबतक दोनों ही 'अर्द्धवृगल' है, अर्द्धेन्द्र हैं। "अपने अग्नीषोमात्मक, अतएव (स्त्री-पुरुष) मूर्त्ति, सम्वत्सर स्वरूप से पहिले सप्तपुरुषपुरुषात्मक चिताग्निमय प्रजापति एकाकी थे। वे एकाकी रमण करने में अपने आप को असमर्थ देखकर रमण-साधन भूत किसी दूसरे की इच्छा करने लगे। उन्होंनें स्वयं अपने आप को ही पति-पत्नी, इन दो रूपों में परिणत कर डाला। इसी लिए तो प्रजापति की इच्छा से उत्पन्न, उन्हीं का यह दूसरा रूप 'अर्द्धवृगल' (आधा कटा हुआ भाग) है"—

'स वै न रेमे। तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास, यथा स्त्री-पुमांसौ संपरिष्वक्तौ। स इममेवात्मानं द्वेधा पातयत्। ततः पतिश्च, पत्नी चाभवताम्। तस्मादर्द्धवृगलमिव स्वः-इति ह स्माह याज्ञवल्क्यः'।

—बृहदा० उप० १।४।३।

उक्त श्रुति का तात्त्विक अर्थ यही है कि, सम्वत्सर चक्र की उत्पत्ति से पहिले 'ब्रह्म-निःश्वसित' नामक अपौरूषेय वेदमूर्त्ति, सत्याग्निघन स्वयम्भू प्रजापति का ही साम्राज्य था। सृष्ट्यनुबन्धी काम-तपः-श्रम भावों से इस स्वायम्भुव वागग्नि में क्षोभ उत्पन्न होता है। यह वागग्नि ही क्षुब्ध होकर एकांश से अप्रूप में परिणत हो जाता है। यही अप्भाग गोपथ में ब्रह्म का 'स्वेद' कहलाया है (देखिए, गोपथ ब्रा० १।१।१।)। यही अप्-भाग उस ब्रह्म का अपना ही (अग्नि का ही) दूसरा रूप है। इन दोनों रूपों के समन्वय से ही ब्रह्मप्रजापति पूर्व कथनानुसार सम्वत्सर रूप में परिणत होते हैं। इनका आधा सम्वत्सर पुरुष है, आधा सम्वत्सर स्त्री है।

विष्वद्वृत्त गोल है। परन्तु इसका आधा भाग ही पुरुष में आता है, शेष आधा अदृश्यभाग स्त्री का उत्पादक बनता है। इससे सिद्ध हो जाता है कि, पुरुष अर्द्धाकाशात्मक रहता हुआ अर्द्धेन्द्र है। पूरे विष्वद्वृत्त में ६०-६०-६०-६० इस क्रम से चार पाद हैं। अतएव विष्वद्वृत्तावच्छिन्न सम्वत्सर प्रजापति 'चतुष्पात्' कहलाया है। इसके दो पाद अग्निप्रधान हैं, दो पाद सोम प्रधान हैं। अतएव अग्निप्रधान पुरुष भी द्विपात् है, सोमप्रधाना स्त्री भी द्विपदा है। जब तक चारों मिल नहीं जाते, तब तक इन में चतुष्पाद ब्रह्म की पूर्णता का उदय नहीं हो सकता। सम्वत्सर प्रजापति स्वयं यज्ञमूर्त्ति हैं। यह यज्ञस्वरूप पूर्ण-आकाश से सम्पन्न हुआ है। अतएव यज्ञकर्म्म में दीक्षित होने से पहिले पुरुष को पत्नी-ग्रहण द्वारा अपना आधा आकाश पूरा करना पड़ेगा। जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है—

१—'अयज्ञो वा एषः-योऽपत्नीकः। न प्रजाः प्रजायेरन्। पत्न्यन्वास्ते, यज्ञमेवाकः। प्रजानां प्रजननाय'।

—तै० ब्रा० ३।३।१।

२—'अथो अर्धो वा एष आत्मनः,-यत् पत्नी। यज्ञस्य धृत्या, अशिथिलभावाय। सुप्रजसस्त्वा वयं सुपत्नीरुपसेदिमेत्याह। यज्ञमेव तन्मिथुनी करोति'।

—तै० ब्रा० ३।३।५

३—'जघनार्धो वाऽएष यज्ञस्य, यत्पत्नी'।

—शत० १।३।१।१२

४—'अर्धो ह वाऽएष आत्मनो, यज्जाया। तस्माद्यावज्जायायां न विन्दते, नैव तावत् प्रजायते। असर्वो हि तावद् भवति। अथ यदैव जायां विन्दते, अथ प्रजायते। तर्हि हि सर्वो भवति। सर्व एतां गतिं गच्छानीति, तस्माज्जायामामन्त्रयते'।

—शत० ५।२।१।१०

५—'मिथुनाद्वाऽअधि प्रजातिः। यो वै प्रजायते-स राष्ट्रं भवति। अराष्ट्रं वै स भवति, यो न प्रजायते'।

—शत० ९।४।१।५

६—'आत्मैवेदमग्र आसीत्-एक एव। सोऽकामयत-जाया मे-स्यात्, अथ प्रजायेय। अथ वित्तं मे स्यात्, अथ कर्म्म कुर्वीय इति। एतावान्वै कामः। नेच्छंश्च-नातो भूयो विन्देत्। तस्मादप्येतर्ह्येकाकी कामयते-जाया मे स्यात्, अथ प्रजा-येय, अथ वित्तं मे स्यात्, अथ कर्म्म कुर्वीय, इति। स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोति, अकृत्स्न एव तावन्मन्यते। तस्य-उ-कृत्स्नता'।

—शत० १४।४।२।३०

७—'तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्य्यते'।

—बृ० उप० १।४।३

निष्कर्ष यही हुआ कि, जिस पुरुषार्थसिद्धि के लिए द्विजाति के गर्भाधानादि संस्कार होते हैं, जिस पुरुषार्थ सिद्धि के लिए यह शास्त्रोक्त यज्ञादि कर्म्मों का यथासमय अनुगमन करता है, वह पुरुषार्थ विना विवाह संस्कार के कभी सिद्ध नहीं हो सकता। अपनी अध्यात्म

संस्था को अधिदैवत संस्था के साथ मिला देना ही इसका परम पुरुपार्थ है, जैसा कि आश्रम-विज्ञानान्तर्गत 'ईश्वरीय विभूति' परिच्छेद में विस्तार से बतलाया जा चुका है। उस पूर्ण के साथ इसका योग यज्ञद्वारा ही हो सकता है। एवं स्वयं विना पत्नी के अपूर्ण रहता हुआ यह पुरुपार्थसाधक यज्ञ मे एकान्ततः अनधिकृत है। 'पूर्णमदः' के लिए 'पूर्णमिदं' निष्पत्ति प्रत्येक दशा में अपेक्षित है। इस प्रकार अपने वैय्यक्तिक पुरुपार्थ के लिए इसे विवाह करना आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त देवऋण, तथा पितृऋण नाम की दो कर्जदारियाँ इस पर और रहतीं हैं। इन्हें हटाए विना भी इसका कल्याण सम्भव नहीं है। इन दोनों ऋणों का क्रमशः यज्ञ, तथा प्रजोत्पत्ति से ही निराकरण होता है। एवं ये दोनों हीं साधन पत्नीसम्बन्ध पर ही निर्भर हैं। इस प्रकार प्रत्येक दशा में द्विजाति के लिए यह संस्कार आवश्यक हो जाता है। चूंकि इस संस्कार का इतर देशों की तरह केवल दृष्टफल ही नहीं है, अपितु इसके द्वारा परलोक तक के सम्बन्ध सञ्चालित हैं, अतएव विवाह कर्म्म के सम्बन्ध में विशेप नियमों का अनुगमन करना पड़ता है। जिनका गृह्यग्रन्थों, तथा स्मृति-ग्रन्थों में विस्तार से निरूपण हुआ है।

विवाहसंस्कार से सम्बन्ध रखने वाली जाति, गोत्र, वय आदि मर्य्यादाओं के अनुग्रह से ही वर्णप्रजा का वर्णधर्म्म सुरक्षित रहा है, जो कि वर्णधर्म्म आर्य्यप्रजा का सर्वस्व है। स्व-स्व जात्यनुगत शुद्ध रजोवीर्य्य से उत्पन्न सन्तानें हीं वल-वीर्य्य-पराक्रमवतीं बन सकतीं हैं, एवं ऐसी ही सन्तानें राष्ट्र-अभ्युदय का कारण बनतीं हैं। जो महानुभाव विवाह-जैसे धार्मिक संस्कार को संसर्गदोपजनित प्रवाह में पड़ कर इसे एक लौकिक-कर्म्म मानने की भूल करते हुए अन्तर्जातीय विवाह, विवाहविच्छेद, आदि के समर्थक बनते हैं, अवश्य ही वे आर्पसभ्यता, आर्पसंस्कृति के अन्यतम शत्रु हैं। विवाहसंस्कार के सम्बन्ध में कन्या, वर की आयु का, जाति का, गोत्र का, तत्तत् प्रक्रियाविशेपों का, तत्तन्मन्त्रविशेपों का, तत्तत् पदार्थविशेपों का, नियन्त्रण क्यों लगाया गया ? इन सब प्रश्नों की उपपत्ति के लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ अपेक्षित है। इधर हमारा यह संस्कार प्रकरण आवश्यकता से अधिक विस्तृत होता जा रहा है। अतएव इस संस्कार से सम्बन्ध रखनेवाली उपपत्तियों का भार अन्य स्वतन्त्र निबन्ध पर छोड़ते हुए यहीं इस प्रकरण को समाप्त किया जाता है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण दिला देना आवश्यक होगा कि, शास्त्रीय इतिकर्त्तव्यताओं के अतिरिक्त इस संस्कार में जिन माङ्गलिक देशाचार, कुलाचार आदि का ग्रहण हुआ है, वे सब भी 'ग्रामवचनं च कुर्युः'

(पा० गृ० १।८।११ सू०)—'अथ खल्वावचा जनपदधर्म्माः, ग्रामधर्म्माश्च, तान् विवाहे प्रतीयात्' (आश्वलायनीय गृ० सू० १।७।१)—इत्यादि शास्त्रादेशानुसार ग्राह्य हैं। हां, जिन रूढ़िवादों से शास्त्रीय-संस्कार के स्वरूप की हानि होती है, वे अवश्य ही त्याज्य हैं।

८–(१६)—अग्निपरिग्रहः—

विवाहसंस्कार के अनन्तर 'अग्निपरिग्रह' संस्कार किया जाता है, जिसकी इतिकर्त्तव्यता पारस्करसूत्र के आरम्भ में हीं प्रतिपादित है। अग्नि का आत्मा में आधान करना ही 'अग्निपरिग्रह' है। आत्मसंस्था ब्रह्म-देवभेद से दो भागों में विभक्त है। उधर आहित होनेवाला अग्नि भी पार्थिव-सौर भेद से दो ही भागों में विभक्त है। पार्थिव गायत्राग्नि 'गार्हपत्याग्नि' है, सौर सावित्राग्नि 'आहवनीयाग्नि' है। गार्हपत्याग्नि 'भूताग्नि' है, आहवनीयाग्नि 'देवाग्नि' है। भूताग्नि स्मार्त्त अग्नि है, देवाग्नि 'श्रौत अग्नि' है। इसी आधार पर अग्निपरिग्रहलक्षण यह अग्न्याधानकर्म्म **'स्मार्त्तआधान'-'श्रौतआधान'** भेद से दो भागों में विभक्त है। स्मार्त्त अग्नि के आधान से आत्मसंस्था का ब्रह्मभाग संस्कृत होता है, एवं श्रौत अग्नि के आधान से आत्मसंस्था का देवभाग संस्कृत होता है। देवभाग-संस्कारक श्रौत अग्न्याधान का श्रौतसंस्कारों में अन्तर्भाव है, अतएव इस की इतिकर्त्तव्यता भी श्रौतग्रन्थों में ही है। एवं ब्रह्मभागसंस्कारक स्मार्त्त अग्न्याधान की स्मार्त्तसंस्कार में हीं गणना है, अतएव इस की इतिकर्त्तव्यता भी स्मार्त्तसूत्रों में हीं प्रतिपादित हुई है। इन दोनों अग्निपरिग्रहों का पार्थक्य सूचित करने के लिए ही स्मार्त्त अग्निपरिग्रह जहां **'आवसथ्याधान'** नाम से व्यवहृत हुआ है, वहा श्रौत अग्निपरिग्रह **'अग्न्याधान'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। अस्तु, प्रकृत में हमे स्मार्त्त-'आवसथ्याधान' लक्षण अग्निपरिग्रह का ही दो शब्दों में दिग्दर्शन कराना है।

घर के लिए वैदिक भाषा में **'आवसथ'** शब्द प्रयुक्त हुआ है। चूंकि प्रकृत स्मार्त्त अग्नि आवसथ (घर) मे प्रतिष्ठित किया जाता है, अतएव इसे 'आवसथ्य' अग्नि कहा जाता है। अग्निपरिग्रह संस्कार से इसी गृह्य अग्नि का आधान होता है, अतएव यह कर्म्म—'आवसथ्याधान' नाम से प्रसिद्ध है। **'आवसथ्याधानं दारकाले'** (पा० गृ० सूत्र १।२) के अनुसार विवाहकर्म्म के अनन्तर, होनेवाले विवाह के ही अङ्गभूत चतुर्थीकर्म्म की समाप्ति के पीछे सपत्नीक यह कर्म्म किया जाता है। **'दायाद्यकाले-एकेषाम्'** के अनुसार इस का दूसरा वैकल्पिक समय दायविभाग के अनन्तर भी माना गया है। आवसथ्याधान एक ऐसा कर्म्म

है, जिस के आरम्भ होते ही द्रव्यव्ययसापेक्ष पञ्चमहायज्ञादि करना आवश्यक हो जाता है। बहुत सम्भव है, भातृवर्ग इस द्रव्यव्यय में प्रतिबन्ध उपस्थित करें। इसी आधार पर दाय-विभागानन्तर भी इस का समय मान लिया गया है। परन्तु उस अवस्था में इसे प्रायश्चित्त और करना पड़ता है। जो इतिकर्त्तव्यता श्रौत—'चातुःप्राश्यौदनकर्म्म' की है, वही इतिकर्त्त-व्यता इस कर्म्म की है, जैसा कि –'चातुःप्राश्यपचनवत् सर्वम्' सूत्र से स्पष्ट है। गृह्य अग्नि का भूत से सम्बन्ध है, भूत अर्थ सम्पत्ति है। अपने गृहस्थ सञ्चालन के लिए वही इस आधान कर्त्ता को सर्वप्रथम अपेक्षित है। उधर वर्णों में वैश्य ही अर्थशक्ति का अधिष्ठाता माना गया है। अतः बहुपशुसम्पत्ति से युक्त वैश्य के घर से अग्नि लाकर ही आवसथ्याधान होता है, जैसा कि—'वैश्यस्य बहुपशोर्गृहादग्निमाहृत्य' सूत्र से व्यक्त है। श्रौत अग्न्या-धान में अरणिमन्थनप्रक्रिया से अग्नि निकाला जाता है। कितने ही आचार्य्यों का इस स्मार्त्त अग्न्याधान के सम्बन्ध में भी यह कहना है कि, जब कि श्रौत चातुःप्राश्यौदनवत् सब कर्म्म यहां होते हैं, जब कि यह भी एक प्रकार का अग्न्याधानकर्म्म ही है, तो क्यों नहीं यहां भी अरणिमन्थन द्वारा ही अग्निपरिग्रह किया जाय। सूत्रकार (पारस्कर) भी—'अरणिप्रदानमेके' कहते हुए इस वैकल्पिक पक्ष में भी अपनी सम्मति प्रकट कर रहे हैं।

इस संस्कार का मुख्य प्रयोजन है, ब्रह्मभाग में श्रौत अग्नि के आधान की योग्यता उत्पन्न करना। पार्थिव अग्नि के आधार पर ही सौर दिव्य अग्नि का आधान होता है। उसी पार्थिवाग्नि के संग्रह के लिए, दूसरे शब्दों में अध्यात्मसंस्था में प्रकृति से ही प्रतिष्ठित पार्थिव अग्नि में अतिशयाधान करने के लिए यह अग्निपरिग्रह संस्कार आवश्यक समझा गया है। एवं यही इस संस्कार की संक्षिप्त उपपत्ति है।

यज्ञाधिकारसमर्पक, अतिशयाधायक, कर्णवेधादि—अग्निपरिग्रहान्त इन आठ 'अनुव्रत-संस्कारों' से ही तत्तद्वर्ण तत्तदधिकृत कर्म्मों में प्रवृत्त हो सकते हैं। इन्हीं से छन्दोमर्य्यादा-विकासपूर्वक द्विजत्व का आविर्भाव होता है। जैसा कि स्मृति कहती है—

'उपनयनादिभिर्व्रतचर्य्याभिरन्तव्रतैश्चाष्टभिः-स्वछन्दः सम्मितो ब्राह्मणः परं पात्रं देव-पितृणां भवति, छन्दसां पारं गच्छति, छन्दसामायतनम्'।

—हारीतः

इत्यष्टौ—अनुव्रतसंस्काराः

३ अथातः पञ्च-'धर्म्मशुद्धिसंस्काराः' भावकाः—

यथाविधि सम्पन्न होने वाले १६ स्मार्त्त संस्कारों से अपने ब्रह्मभाग को सुसंस्कृत बनाकर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने वाले द्विजाति के लिए इन 'धर्म्मशुद्धिसंस्कारों' का भी विशेष महत्व माना गया है। जिन आठ 'गर्भसंस्कारों' से दोषमार्ज्जन हुआ है, एवं जिन आठ 'अनुव्रत-संस्कारों' से अतिशय का आधान हुआ है, उस दोष रहित परिस्थिति को, तथा आहित अतिशय को सुरक्षित रखने के लिए अवश्य ही ये संस्कार अपेक्षित हैं। यदि इन संस्कारों का अनुगमन न किया जाय, तो सतत आक्रमण करने वाले अघादि इसे दोषयुक्त भी बना देंगे, एवं प्राप्त अतिशय भी निकाल फेंकेंगे। वे ही पांचों संस्कार क्रमशः—'शरीरशुद्धि-द्रव्यशुद्धि-अघशुद्धि-एनः-शुद्धिः-भावशुद्धि' इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

तमोगुणप्रधान पाञ्चभौतिक शरीर मलों का कोश (खजाना) है। मल, मूत्र, लाला, स्वेद, केश, नख, किट्ट, कफ, अपानवायु, आदि बारह मलों की इस में प्रधानता मानी गई है। स्वपावन शक्ति से मलों का शोधन करने वाले आत्मा के साथ जब तक इन मलों का अन्तर्य्याम सम्बन्ध रहता है, तबतक तो ये (आत्मवित्त बनते हुए) कोई हानि नहीं करते। परन्तु जब ये आत्ममण्डल की सीमा से बाहिर निकल जाते हैं, आत्मा के प्रवर्ग्य बन जाते हैं, तो आत्मा की पावक शक्ति से वञ्चित होते हुए दोषप्रवर्त्तक बन जाते हैं। एवं उस दशा में बहिर्य्याम सम्बन्ध से शरीर में प्रतिष्ठित इन मलों को आत्मदूत मन इन से आत्यन्तिक घृणा करता हुआ शीघ्र से शीघ्र शरीरसंस्था से इन्हें बाहिर निकाल देना चाहता है। गृहस्थी का कर्त्तव्य है कि, मानस ग्लानि के उदय से पहिले पहिले ही बहिर्य्याम बने हुए इन मलों का प्रतिदिन, नियत समय पर प्रयास पूर्वक निराकरण करता रहे। यथासमय (ब्राह्ममुहूर्त्त में) उठकर मल-मूत्र का परित्याग, दन्तधावन, स्नान, आदि कर्म्म ही पहिला 'शरीरशुद्धिसंस्कार' है। 'कृत्य-केशनखश्मश्रुः शान्तो दान्तः शुचिव्रतः' इन मलविशोधक संस्कारों से इस का पाञ्चभौतिक शरीर पवित्र हो जाता है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, शुद्धिकर्म्म में वे ही साधन, वे ही पदार्थ गृहीत होंगे, जिन में दिव्यभावों का समावेश रहेगा। प्राणभाग से असुरभावयुक्त बने हुए साधन शरीर को तो स्वच्छ अवश्य कर देंगे, चमकदार बना देंगे, परन्तु शरीरसम्बद्ध आत्मदेवता की दिव्यशक्ति निर्वीर्य्य हो जायगी।

जिस प्रकार पाञ्चभौतिक शरीर की मलशुद्धि अपेक्षित है, एवमेव शरीर के उपयोग में आने वाले द्रव्यों की भी शुद्धि आवश्यक है। भौतिक द्रव्य 'गुण-दोषमयं सर्वम्' के अनुसार दोषों से भी युक्त रहते हैं। यह दोष 'प्राकृतिक-आगन्तुक' भेद से दो भागों में विभक्त हैं। सत्व रज-स्तमोगुणों के भेद से वस्त्र-धातुपात्र-अन्न आदि के स्वरूप में भेद रहता है। जो व्यक्ति जिस वर्ण का होगा, तद्गुणक प्राकृतिक द्रव्य ही उसके उपकारक बनेंगे। प्रकृतविरुद्ध (स्वभाव विरुद्ध) द्रव्यों का उपयोग प्रकृति को अस्वस्थ बना डालेगा। अतएव उपयोग मे लेने से पहिले ही यह विवेक कर लेना चाहिए कि, कौन पदार्थ हमारे स्वभाव के अनुकूल बनता हुआ निर्दोष है, एवं कौन सदोष है ? विवेकानन्तर सदोष प्राकृतिक द्रव्यों का परित्याग कर देना चाहिए, निर्दोषों का संग्रह कर लेना चाहिए। प्रकृत्यनुकूल द्रव्यों का आपने संग्रह कर लिया। परन्तु इन में भी आगन्तुक दोषों का सम्मिश्रण होता रहता है। वस्त्र-पात्र-अन्न आदि को यदि स्वच्छ-शुद्ध नहीं किया जायगा, तो मलिनावस्था में आते हुए ये दोषयुक्त बन जायँगे। एवं इनके सम्पर्क से शरीर भी मलिन हो जायगा। अतएव उपयोग में आनेवाले द्रव्यों की (घर-शय्या-आसन-पाकघर-वस्त्र-पात्र-अन्न आदि द्रव्यों की) शुद्धि भी आवश्यक रूप से अपेक्षित हैं। यही दूसरा 'द्रव्यशुद्धिसंस्कार' है। शरीरशुद्धि, तथा द्रव्यशुद्धि, इन दोनों का यद्यपि परम्परया आत्मा पर भी प्रभाव पड़ता है, परन्तु इनका प्रधान सम्बन्ध शरीर के साथ ही माना गया है। अतएव इन दोनों संस्कारों को हम 'स्थूलशरीरसंस्कारकसंस्कार' ही कहेंगे।

तीसरा है—'अघशुद्धिसंस्कार'। जनन-मरण सम्बन्धी आशौच से आत्मवीर्य्य में (अथर्वासूत्र द्वारा) 'अशुचि' लक्षण आशौच-दोप का सङ्क्रमण हो जाता है। इसी को 'अघ' कहा जाता है। शुक्रगत पितरप्राण के सापिण्ड्य भाव से उमी अदृष्ट अथर्वा द्वारा आशौच सम्बन्धी दोष सम्पूर्ण कुटुम्बियों में व्याप्त हो जाता है, जिसका विवेचन 'श्राद्धविज्ञानान्तर्गत 'आशौचविज्ञान' नामक प्रकरण में द्रष्टव्य है। इस चूकि आत्मवीर्य्य से घनिष्ट सम्बन्ध है, अतएव इससे आत्मा मलिन हो जाता है। शुद्धि 'अघशुद्धि' कहलाती है, एवं इस शुद्धि का मुख्य साधन है—'कालयापन'। १०-१२ आदि दिनों के अनन्तर अपने आप यह अघ दोप निकल जाते हैं, 'कालयाप्य' दोप माना गया है। जबतक आत्मवीर्य्य के साथ अघ दोप का

रहता है, तब तक के लिए देवपूजन, सन्ध्या, तर्पण, विवाह, उपनयन आदि दिव्यकर्म्म नहीं हो सकते। शुद्धिस्नान के अनन्तर ही वह गृहस्थ व्यवहार्य बनता है।

चौथा 'एनःशुद्धिसंस्कार' है। 'अघ' उस दोष का नाम है, जिस के निमित्त हम नहीं बनते, अपितु जो प्रकृति के द्वारा जनन-मरणावसरों पर अपने आप उत्पन्न हो जाता है। एवं 'एनः' उस दोष का नाम है, जो मनुष्य की अज्ञानता से उत्पन्न होकर आत्मवीर्य्य पर आक्रमण करता है। रजस्वला स्त्री के स्पर्श से आत्मवीर्य्य में जो अशुचि उत्पन्न होती है, उसे 'एनः' कहा जायगा। अतएव ऐसे दोषी को श्रुति ने 'एनस्वी' कहा है। अघ दोष युक्त गृहमेधी (गृहस्थी) जहां 'अशुचि'-'अपवित्र' आदि नामों से व्यवहृत होगा, वहां एनोदोषयुक्त गृहस्थी 'पापी'-'प्रायश्चित्ती' आदि नामों से पुकारा जायगा। अघदोष जहां आत्मवीर्य्य को आवृतमात्र करता है, वहां एनोदोष आत्मवीर्य्य को नीचे गिराता है। अघ अशुचिकर है, तो एनः पातक है, जैसा कि आगे आने वाले 'वर्गीकरण' प्रकरण में इन शब्दों की तात्त्विक निरुक्ति द्वारा स्पष्ट हो जायगा।

प्रत्येक गृहस्थ के घर में १-चुल्ली (चूल्हा), २-पेषणी (चक्की), ३-उपस्कर (बुहारी), ४-कण्डनी (छानें लकड़ी आदि ईंधन), ५-उदकुम्भ (जलपात्र-परींडा), इन पांच कर्म्मों से प्रतिदिन सूक्ष्म प्राणियों की हिंसा होती रहती है। इस हिंसा कर्म्म से उत्पन्न पापातिशय का भी आत्मवीर्य्य के साथ सम्बन्ध अनिवार्य्य है। इन पाचों दोषों को दूर करने के लिए ही 'पञ्चमहायज्ञों' का विधान हुआ है। सन्ध्यादि की तरह इन्हें भी दैनिक (नित्य) कर्म्म ही माना गया है। जैसा कि निम्न लिखित 'आश्वलायन' वचन से स्पष्ट है—

मासिकं पार्वणं प्रोक्तं अशक्तानां तु वार्षिकम्।
महायज्ञास्तु नित्याः स्युः सन्ध्यावद्वाग्निहोत्रवत् ॥१॥

(१)—उक्त पांचों महायज्ञ क्रमशः 'भूतयज्ञ[1], मनुष्ययज्ञ[2], पितृयज्ञ[3], देवयज्ञ[4], ब्रह्मयज्ञ[5]' इन नामों से प्रसिद्ध है। चूल्हा अग्निप्रधान है, अग्निदेवता देवताओं के मुख बनते हुए सर्वदेवमूर्त्ति हैं, जैसा कि—'अग्निः सर्वा देवता' (ऐ० ब्रा० २।३) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। इस अग्निप्रज्वलन से जो जीवहिंसा होती है, उस से अध्यात्मसंस्था का अग्निप्रधान देवभाग

मलिन हो जाता है, दिव्यभाव एनः का अनुगामी बन जाता है। इस दोष से बचने के लिए प्रति दिन 'देवयज्ञ' करना आवश्यक है। जिस अग्नि में भोजन का परिपाक होता है, जो कि 'वैश्वानर' नाम से प्रसिद्ध है, जिस का लोकभाषा में 'वैसन्दर' यह विकृत रूप हो गया है, उस[1] में भोजन[2] से पहिले निम्न लिखित मन्त्र बोलते हुए स्वाहापूर्वक पांच आहुति देना ही देवयज्ञ है।

१—ओं ब्रह्मणे स्वाहा, 'इदं ब्रह्मणे, न मम।
२—ओं प्रजापतये स्वाहा, इदं प्रजापतये, न मम।
३—ओं गृह्याभ्यः स्वाहा, इदं गृह्याभ्यो, न मम।
४—ओं कश्यपाय स्वाहा, इदं कश्यपाय, न मम।
५—ओं अनुमते स्वाहा, इदमनुमतये न मम।'

(२)—पेषणी (चक्की) भूतात्मक अन्न से प्रधान सम्बन्ध रखने के कारण भूतप्रधाना है। इस कर्म्म से (भूतरूप अन्न को चक्की में पीसने से) जो जीवहिंसा होती है, उससे अध्यात्मसंस्था का भूतभाग 'एनस्वी' बनता है। इसे दूर करने के लिए ही 'बलि' रूप भूतयज्ञ का विधान हुआ है। भूतप्रपञ्च का "पर्जन्य, जल, पृथिवी, धाता, विधाता, वायु, ब्रह्मा, अन्तरिक्ष, सूर्य्य, विश्वेदेव, उषा, भूतानां पतिः' इन १२ अभिमानी देवताओं के साथ

१—पञ्चमहायज्ञ स्मार्त्तकर्म्म हैं। उधर स्मार्त्तयज्ञ की प्रतिष्ठा 'गृह्य' नामक 'आवसथ्याग्नि' है, जैसा कि सोलहवें 'अग्निपरिग्रह' संस्कार प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इस आवसथ्याग्नि से (जो कि नियत स्थान पर सदा प्रतिष्ठित रहता है) उल्मुक हो कर इस से रसोईघर का अग्नि प्रज्वलित किया जाता है। वहाँ बलि-वैश्वदेवकर्म्म के लिए अन्न का परिपाक होता है। पाकानन्तर रसोई घर से अङ्गार लाकर पुनः आवसथ्याग्नि में प्रतिष्ठित कर दिए जाते है। वहाँ पाकद्रव्य में से द्वादशपर्वपूरक अन्न रख लिया जाता है। अनन्तर यज्ञोपवीती बनकर अग्नि (आवसथ्याग्नि) के उत्तर भाग में बैठ कर देवयज्ञ किया जाता है। यदि अग्निस्थापन न हो तो, पाकाग्नि में ही पाच आहुतियाँ डाल देनी चाहिए, क्योंकि 'अकरणान्मद्गकरणं श्रेयः' मार्ग भी श्रेयस्कर माना गया है।

२—अह्नोऽष्टधा विभक्तस्य चतुर्थे स्नानमाचरेत्।
पञ्चमे पञ्चयज्ञाः स्युर्भोजनं तदनन्तरम्॥ —कारिका

सम्बन्ध है। अतएव 'पर्जन्याय नमः, इदं पर्जन्याय, न मम' इत्यादि मन्त्र बोलते हुए यथा स्थान नमस्कारपूर्वक इन बारहों के लिए बलि-विधान हुआ है।

(३)—उपस्कर (बुहारी) से घर साफ सुथरा रहता है। जिस घर में सफाई नहीं रहती, उसके सम्बन्ध में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि,—'अरे! इस गन्दे घर में क्या कोई भला मानुस रह सकता है'। जिस प्रकार शरीर आत्मा का आयतन है, एवमेव घर शरीर का आयतन है। स्वच्छ गृह ही मनुष्य का आयतन बनता है। अतएव स्वच्छता सम्पादक उपस्कर से होनेवाली जीवहिंसा का आक्रमण मनुष्य के मानुषभाव का स्वरूप सम्पन्न करनेवाले 'मनुप्राण' पर ही होता है। मनुभाग द्वारा मनु, तथा मनुपत्नी 'श्रद्धा' दोनों एनस्वी बन जाते हैं। इस दोष के निराकरण के लिए ही 'मनुष्ययज्ञ' आवश्यक समझा गया है। आगत ब्राह्मणादि अतिथियों का अन्नादि से सत्कार करना भी 'मनुष्ययज्ञ' है। एवं प्रतिदिन गृह्यपद्धति के अनुसार कम से कम षोडशग्रासपरिमित अन्न ब्राह्मण को देना भी 'मनुष्ययज्ञ' है। इससे अन्नग्रहीता ब्राह्मण का मनुभाग तृप्त होता है, इसकी तृप्ति से मनु-सम्बन्धी एनोदोष निवृत्त हो जाता है।

(४)—उदकुम्भ (जलपात्र) के साथ पितरप्राण का घनिष्ठ सम्बन्ध है। क्योंकि पानी स्वयं पारमेष्ठ्यप्राण से सम्बन्ध रखता हुआ सौम्य है, इधर पितरप्राण भी सौम्य हीं माने गए हैं—'आयन्तु नः पितरः सोम्यासः'। इस जलकर्म्म से होनेवाली प्राणि-हिंसा आध्यात्मिक, सौम्यशुक्र में प्रतिष्ठित पितरप्राण को एनस्वी बनाती है। इस दोष से बचने के लिए प्राचीनावीती बन कर प्रतिदिन स्वधापूर्वक 'पितृभ्यः स्वधा नमः' यह मन्त्र बोलते हुए पितरों के लिए बलि दी जाती है, एवं यही 'पितृयज्ञ' है।

(५)—कण्डनी (काष्ठ आदि ईंधन सामग्री) का ब्रह्मभाग से सम्बन्ध है। समिदाधान-पूर्वक ही ब्रह्मचर्य्य का अनुगमन किया जाता है। 'शेषे वनेषु मातृषु सन्त्वा मर्त्तास इन्धते' (ऋक् सं० ६।४।३४) इत्यादि मन्त्रवर्णन के अनुसार काष्ठ में प्रसुप्त अग्नि वेदत्रयमूर्त्ति सौर अग्नि का ही प्रवर्ग्य भाग है। जब इसे मरणधर्म्मा मनुष्य जगा देते (प्रज्वलित कर देते) हैं, तो—'आदिद् देवेषु राजसि' के अनुसार यह अपने उसी देवलोक (सूर्य्यलोक) में चला जाता है। ब्रह्म ही वेद है, सौरअग्नि ही इस की प्रतिष्ठा है। काष्ठ में प्रसुप्त अग्नि इसी ब्रह्माग्नि का प्रवर्ग्य भाग है, अतएव इस से होने वाली प्राणि-हिंसा अध्यात्मसंस्था के ब्रह्माग्नि को एनस्वी बना डालती है। इसी दोष को हटाने के लिए 'ब्रह्मयज्ञ' का विधान हुआ है। प्रतिदिन नियम-पूर्वक वेदस्वाध्याय करना ही 'ब्रह्मयज्ञ' है।

इस के अतिरिक्त उपयोग में आने वाले इन पदार्थों के अनुग्रह से होने वाली स्थूल-सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतम प्राणियों की हिंसा से शरीर में रहने वाले सुसूक्ष्म कीटाणु भी निर्वल वन जाते हैं, जिन की निर्बलता से यक्ष्मा आदि भयानक रोगों का आक्रमण हो जाता है। इस लिए स्वतन्त्ररूप से इन कीटाणुओं की तृप्ति का भी कोई उपाय होना चाहिए। इस के अतिरिक्त शरीर के कीटाणुओं को बल मिले, यह भी उपाय करना चाहिए। इस के अतिरिक्त पार्थिव प्राणियों की ओर से अन्तरिक्ष में रहने वाले यक्षप्राण-सर्पप्राण-दैत्यप्राण-प्रेतप्राण-पिशाचप्राण आदि की ओर से भी हमें शान्ति मिलनी चाहिए, सब का अनुग्रह रहना चाहिए, इस के लिए कुछ एक दैनिक कर्म्म और किए जाते हैं, जिन का पितृयज्ञ में अन्तर्भाव किया जा सकता है। 'यक्ष्मैतत्ते निर्णेजनम्'-'इदं यक्ष्मणे न मम' बोलते हुए वायव्य दिशा में यक्ष्माप्रवर्त्तक कीटाणुओं का निर्णेजन जल डाला जाता है। कीटाणुओं को वलप्रदानकरने के लिए 'गोग्रास' दिया जाता है। श्वान-काक-पिपीलिका-भिखारी आदि को यथाशक्ति अन्न प्रदान कर प्राणिवर्ग का अनुग्रह प्राप्त किया जाता[1] है।

वर्त्तमान युग के शिक्षित समाज के लिए ये सभी आदेश निर्थक वन रहे होंगे। परन्तु एक आस्तिक भारतीय के लिए ये सभी आदेश भावनाजगत् से सम्बन्ध रखते हुए परम उपादेय हैं। श्रद्धापूर्वक किए गए ये कर्म्म क्या क्या अतिशय उत्पन्न नहीं करते? इस प्रश्न का समाधान अतीत, एवं वर्त्तमान भारत की दशा के समतुलन से करना चाहिए। कहां गई हमारी वह आत्मशक्ति? कहां गया हमारा वह तेज? कहां गया हमारा वह वलपौरुष? कैसे नष्ट हो गई हमारी स्वस्थता? क्यों आज हम हीनवीर्य्य वन रहे हैं? जिन यक्ष्मादि राजरोगों का नाम भी न सुना जाता था, आज उन्हों नें कैसे घर कर लिया? क्यों आज हमारे व्यक्तित्व, गृहस्थ, समाज, राष्ट्र, सब कुछ अशान्त बने हुए हैं? उत्तर के लिए स्मरण कीजिए भगवान् के स्ववाक्य का—'वर्त्तते कामकारतः, न स सिद्धिमवाप्नोति, न सुखं, न परां गतिम्'। यद्वा-तद्वास्तु वक्तव्य हमें केवल यही है कि, प्रत्येक गृहमेधी को पञ्चपातकों से बचने के लिए महामन्त्ररूप इन पांचों महायज्ञों का यथाशक्ति अहरहः अनुष्ठान करना चाहिए, जैसा कि निम्न लिखित श्रौत-स्मार्त्त वचनों से स्पष्ट है—

१—पिपीलिकाकीटपतङ्गकाद्या बुभुक्षिताः कर्म्मनिबन्धबद्धाः।
तृप्त्यर्थमन्नं हि मया प्रदत्तं तेषामिदं ते मुदिता भवन्तु॥

(१)—'पञ्चैव महायज्ञाः। तान्येव महासत्राणि—भूतयज्ञो-मनुष्ययज्ञः-पितृयज्ञो-देवयज्ञो-ब्रह्मयज्ञ—इति। अहरहर्भूतेभ्यो बलिं हरेत्, तथैतं भूतयज्ञं समाप्नोति। अहरहर्दद्यादोदपात्रात्, तथैतं मनुष्ययज्ञं समाप्नोति। अहरहः स्वधा कुर्य्यादोदपात्रात्, तथैतं पितृयज्ञं समाप्नोति। अहरहः स्वाहा-कुर्य्यादाकाष्ठात्-आकाष्ठात्, तथैतं देवयज्ञं समाप्नोति। अथ ब्रह्मयज्ञः (व्याख्यायते)। स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः। तस्य वा एतस्य ब्रह्मयज्ञस्य वागेव जुहूः, मन उपभृत्, चक्षुर्ध्रुवा, मेधा स्रुवः, सत्यमवभृथः, स्वर्गो-लोको उदयनम्। यावन्तं ह वाऽइमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णं ददँल्लोकं जयति, त्रिस्तावन्तं जयति, भूयांसं चाक्षय्यं, य एवं विद्वानहरहः स्वाध्यायमधीते। तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'। —शत० ब्रा० ११।५।६।१-३।

(२)—पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली-पेषण्यु-पस्करः।
कण्डनी-चोदकुम्भश्च, वध्यते यास्तु वाहयन् ॥ १ ॥
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महात्मभिः।
पञ्चकॢप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥ २ ॥
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः, पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो, बलिर्भौतो, नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ ३ ॥

१—देवयज्ञः- ततः-चुल्ली- जनित 'एनोदोष' निवृत्तिः।
२—भूतयज्ञः- ततः-पेषणी- जनित 'एनोदोष' निवृत्तिः।
३—मनुष्ययज्ञः-ततः-उपस्कर- जनित 'एनोदोष' निवृत्तिः।
४—पितृयज्ञः- ततः-उदकुम्भ- जनित 'एनोदोष' निवृत्तिः।
५—ब्रह्मयज्ञः- ततः-कण्डनी- जनित 'एनोदोष' निवृत्तिः।

इसके अतिरिक्त मनुष्य अपने प्रभवकाल में ऋषि, देवता, पितर, इन तीन प्राणों से ऋण लेकर ही संसारयात्रा का पथिक बनता है। ऋषिप्राण से इसे 'ज्ञानमात्रा' मिलती है, पितरप्राण से 'प्रजामात्रा' मिलती है, एवं देवप्राण से 'यज्ञमात्रा' मिलती है। जब तक यह तीनों ऋणों का निराकरण नहीं कर देता, तबतक इन ऋणभावों से इसका आत्मा एनस्वी बना रहता है। इस एनोदोष से यह कभी मुक्तिपथ का अनुगामी नहीं बन सकता। इन तीनों के परिशोध के लिए ही इसे अध्यापन, श्राद्ध, तथा प्रजोत्पत्ति, एवं यज्ञ, ये तीन कर्म्म करने पड़ते हैं। जिनका विशद वैज्ञानिक विवेचन शथपथ विज्ञानभाष्य में प्रतिपादित है।

इन तीनों ऋणों के अतिरिक्त एक चौथा 'मनुष्यऋण' और माना गया है। हम अपने जीवन काल में प्रभूत भोग्य-सामग्री का उपभोग करते हैं। यदि हम उत्पन्न न होते, तो अवश्य ही यह भोग्य-सामग्री किसी अन्य का उपकार करती। इसके अतिरिक्त जिस मानव समाज में हम अपना जीवन व्यतीत करते हैं उसके द्वारा हमारे लौकिक-पारलौकिक कर्म्मों में पूरी सहायता मिलती है। इसी नाते उसका हमारे पर ऋण है। इस ऋण के परिशोध का यही उपाय है कि, हम भी यथाशक्ति सामाजिक कार्य्यों में हाथ बटावें, असमर्थों की अन्नदानादि से सेवा करें; इसी को 'आनृशंसधर्म्म' कहा गया है। हम मार्ग में चल रहे हैं, किसी से अपना बोझा नहीं उठता, तत्काल हमें उसकी सहायता करनी चाहिए, निर्बलों को आततायियों के आक्रमण से बचाना चाहिए, इसी का नाम आनृशंसधर्म्म है, यही मनुष्यता है, एवं यही मनुष्यऋण का अपाकरण है। इन्हीं चारों ऋणों का, एवं इनके निराकरण का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

"ऋणं ह वै जायते- योऽस्ति। स जायमान एव देवेभ्यः, ऋषिभ्यः, पितृभ्यो, मनुष्येभ्यः। स यदेव यजेत, तेन देवेभ्य ऋणं जायते। तद्ध्येभ्य एतत् करोति, यदे- नान् यजते, यदेभ्यो जुहोति। अथ यदेवानुब्रुवीत, तेनऽर्षिभ्य ऋणं जायते। तद्ध्ये- भ्य एतत्करोति–ऋषीणान्निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः। अथ यदेव प्रजामिच्छेत, तेन पितृभ्य ऋणं जायते। तद्ध्येभ्य एतत् करोति, यदेषां सन्ततान्यवच्छिन्ना प्रजा भवति। अथ यदेव वासयेत, तेन मनुष्येभ्य ऋणं जायते। तद्ध्येभ्य एतत् करोति, यदेतान् वासयते, यदेभ्योऽशनं ददाति। स य एतानि सर्वाणि करोति, स कृतकर्म्मा, तस्य सर्वमाप्तं, सर्वं जितम्"। —शत० ब्रा० १।७।२।१-५

इन चारों ॠणों का, तथा पाँचों महायज्ञों का भी एन शुद्धि में ही अन्तर्भाव है। जिस प्रकार शरीरशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, इन दो का प्रधान सम्बन्ध स्थूलशरीर के साथ था, एवमेव अघशुद्धि, तथा एनःशुद्धि, इन दोनों का सूक्ष्मशरीर के साथ ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है।

(५)—पांचवां 'भावशुद्धिसंस्कार' है। एवं इस का कारणशरीर के साथ प्रधान सम्बन्ध है। इतर चारों शुद्धियों की मूलप्रतिष्ठा यही भावशुद्धि है। साथ ही मे इतर चारों शुद्धियाँ भी इस का उपकार करतीं हैं। इस प्रकार इन में परस्पर उपकार्य्य-उपकारक सम्बन्ध बना हुआ है। इसी पारस्परिक सम्बन्ध के कारण प्रत्येक शुद्धिसंस्कार के परिग्रहों को इतर संस्कारों के परिग्रहों की अनुकूलता का पूरा पूरा ध्यान रखना पड़ता है। आत्मगुणों का अनुगमन करना ही 'भावशुद्धि' है। आठ आत्मगुणों के अनुगमन से हमारे आत्मभाव सर्वथा निर्मल बने रहते हैं। वे ही आठ आत्मगुण क्रमशः 'धृति-क्षमा-दया-शौच-अनायास-अनुसूया-अस्पृहा-अकाम' इन नामों से प्रसिद्ध हैं। संकट के समय विचलित न होना ही 'धृति' (धैर्य्य) है, अज्ञानतावश होने वाले आश्रितों के दोषों की उपेक्षा कर देना ही 'क्षमा' है। विपद्ग्रस्त प्राणियों के साथ सहानुभूति-सहयोग रखना ही 'दया' है। किसी के लिए भी अशुभ वाणी का प्रयोग न करना ही—'शौच' है। अत्यधिक शारीरिकश्रम न करना ही 'अनायास'। दूसरे के गुणों में दोषों का अन्वेषण न करना ही 'अनुसूया' है, एवं भोग्यपदार्थों में रागासक्ति-द्वेषासक्तिपरित्यागपूर्वक प्रवृत्त रहना ही 'अकाम' है। इन पाचों शुद्धिसंस्कारों से षोडशसंस्कार संस्कृत द्विजाति के हीनाङ्ग की पूर्त्ति होती है। अतएव इन भावकसंस्कारों को हम 'हीनाङ्गपूरकसंस्कार' ही कहेंगे।

(१)—१—शरीरशुद्धिसंस्कारः (२)—२—द्रव्यशुद्धिसंस्कारः	—स्थूलशरीरभावकौ	—शुद्धिसंस्काराः भावकाः (हीनाङ्गपूरकाः)
(३)—१—अघशुद्धिसंस्कारः (४)—२—एनःशुद्धिसंस्कारः	—सूक्ष्मशरीरभावकौ	
(५)—१—भावशुद्धिसंस्कारः	—कारणशरीरभावकः	

इति—पञ्चशुद्धिसंस्काराः

७--कर्म्मतन्त्र का वर्गीकरण

अथवा

कर्म्मयोगपरीक्षा

कर्म्मत्रयी और कर्म्मयोगपरीक्षा--

'वैदिक-कर्म्मयोग' प्रकरण में वैदिक (शास्त्रीय) कर्म्मों का संक्षिप्त स्वरूप बतलाया गया, अनन्तर क्रमशः 'वर्णव्यवस्था'–'आश्रमव्यवस्था-संस्कार'– इन तीनों का निरूपण किया गया। इस सम्बन्ध में यदि कोई यह प्रश्न करे कि, 'कर्म्मयोग-परीक्षा' प्रकरण में वर्णाश्रम-संस्कारों के निरूपण की क्या आवश्यकता थी ? तो उत्तर में निवेदन किया जायगा कि, भारतीय कर्म्मयोग की मूलप्रतिष्ठा वर्ण, आश्रम, तथा संस्कार हीं हैं। जो जिस वर्ण का व्यक्ति है, जिस आश्रम का अनुगामी है, उसे शास्त्रसिद्ध उसी वर्ण के, उसी आश्रम के अनुरूप कर्म्म करने पड़ेंगे, एवं वर्णाश्रमानुबन्धी ऐसे शास्त्रीय-कर्म्मों की समष्टि ही 'भारतीय-कर्म्मयोग' माना जायगा। वर्णाश्रमसंस्कार-मूलक ऐसे ही कर्म्मयोग से हम ऐहलौकिक, तथा पारलौकिक सुखों के अधिकारी बन सकेंगे। ऐसी दशा में इस 'कर्म्मयोग-परीक्षा' प्रकरण में यदि वर्णाश्रमसंस्कार-प्रकरणों का समावेश कर दिया जाता है, तो इस से भारतीय कर्म्मयोग के पक्षपाती किसी भी आस्तिक भारतीय को कोई विप्रपत्ति नहीं हो सकती।

वर्ण-आश्रम-संस्कारकर्म्म, और कर्म्मयोग—

हम तो इस सम्बन्ध में यह भी कहने मे कोई सङ्कोच नहीं करते कि, वर्णाश्रमसंस्कारों का यथावत् स्वरूप-परिचय प्राप्त कर लेना हीं कर्म्मयोग का परिचय प्राप्त करना है। क्योंकि, इन तीनों से सम्बन्ध रखने वाले कर्म्मों के अतिरिक्त, मानव बुद्धि से कल्पित, और और जितनें भी कर्म्म हैं, वे सब कर्म्म विकर्म्म (शास्त्रनिषिद्ध विरुद्ध कर्म्म), तथा अकर्म्म (अविहिताप्रतिपिद्ध निरर्थक कर्म्म) रूप मे परिणत होते हुए

कल्पितकर्म्मयोग—

सर्वथा हेयकोटि में ही प्रविष्ट हैं। किसे, कब, क्या, कैसे, करना चाहिए ? कर्म्मवाद से सम्बन्ध रखने वाले ये सब प्रश्न वर्णाश्रमसंस्कारों से गतार्थ हैं, जैसा कि अनुपद में ही उद्धृत होनें वाले भगद्वचनों से स्पष्ट हो जायगा। कर्म्म जैसे दुरूह तत्त्व का निर्णय करने के लिए 'गीताशास्त्र' की सम्मति ही सर्वश्रेष्ठ मानी जायगी। गीता ने हमें जिन कर्म्मों के अनुगमन का आदेश दिया है, उन्हीं से हमारा कल्याण हो सकता है।

अपने बुद्धिवाद में पड़ कर कल्पित, अतएव कर्म्मस्वरूप से एकान्ततः वञ्चित, अतएव सर्वथा प्रत्यवायजनक, विकर्म्म-अकर्म्मलक्षण, अशास्त्रीय, असत् कर्म्मों का अनुगमन, भगवान् के ही शब्दों में शास्त्रविरुद्ध, वर्णाश्रमसंस्कारधर्म्मविरोधी कर्म्मों का अनुगमन कम से कम वर्णप्रधान भारतीय प्रजा का तो किसी भी अवस्था में हित साधन नहीं कर सकता। जिस कर्म्म-मार्ग की विभीषिका से आज संसार त्रस्त है, भगवान् के दो ही वाक्यों से उस का यथावत् निराकरण हो जाता है। देखिए !

१—यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
२—तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्मकर्त्तुमिहार्हसि ॥

—गीता १६।१३।१४।

कितनें एक बुद्धिवादी महानुभाव शास्त्रसिद्ध कर्म्मयोग के सम्बन्ध में अपने ये उद्गार प्रकट किया करते हैं कि,—"शास्त्रीय कर्म्मों का तो आत्मा, तथा परलोक से सम्बन्ध है। आत्मकल्याण अच्छा है, आवश्यक है। परलोक में हमें सद्गति मिले, यह भी अभीष्ट है। यह सब कुछ ठीक है। किन्तु इस से पहिले प्रधान आवश्यकता है—शरीरकल्याण की। पहिले हमे उन्हीं कर्म्मों का अनुगमन करना पड़ेगा, जिन से हमारी ऐहलौकिक आवश्यकताएं पूरीं होंगीं। अन्न वस्त्र की चिन्ता से ग्रस्त प्रजा 'भूखे भजन न होइ गोसाईं' के अनुसार कभी शास्त्रीय आत्मकर्म्मों का अनुगमन नहीं कर सकती। इसलिए जबतक हमारा राष्ट्र अपनी ऐहलौकिक आवश्यकताएं पूरी नहीं

बुद्धिवादियों का व्यामोह—

कर लेता, तब तक के लिए हमें आत्मोपकारक धर्म्म, तत्प्रतिपादक शास्त्र, एवं तदुपदेशक विद्वानों के नियन्त्रण से राष्ट्र को बचाना चाहिए।"

अविवेकियों की इसी दुर्बुद्धि का निराकरण करने के लिए भगवान् को—'न परां गतिम्' के साथ ही 'न सुखम्' भी कहना पड़ा है। शास्त्रविरुद्ध कर्म्म पहिले तो यथावत् सिद्ध ही नहीं हो सकते। दूसरे शब्दों में शास्त्रविरोधी कर्म्मों की सिद्धि (स्वरूपसम्पत्ति) को ही यह प्राप्त नहीं कर सकता। यदि 'घुणाक्षरन्याय' से कहने भर के लिए कर्म्म का स्वरूप यथा-कथंचित् पूर्ण भी हो जाता है, तब भी यह परागति (पारलौकिक सुख), एवं सुख (ऐहलौकिक सुख) का कारण तो कथमपि नहीं बन सकता। भगवान् का अभिप्राय यही है कि, शास्त्रसिद्ध-कर्म्मों को केवल आत्मसम्बन्धी मानते हुए, इन्हें विशुद्ध पारलौकिक स्वर्गादिसुख साधक ही मानना मूर्खता है। प्रकृतिसिद्ध, स्वाभाविक, कर्म्मरहस्यविश्लेषक, शास्त्रीय कर्म्म जहां आत्मानुबन्धी बनता हुआ परागति का कारण है, वहां यही शरीरानुबन्धी बनता हुआ ऐहलौकिक सुख का भी प्रवर्त्तक है। उत्तम ज्ञान (ब्रह्मबल), प्रवृद्ध पराक्रम (क्षत्रबल), कृषि-गोरक्षा-वाणिज्य (विड्बल), सेवाधर्म्म (शूद्र-बल), व्यक्तिस्वातन्त्र्य, सामाजिक व्यवस्था, राजनीति, ये सब शास्त्र ही के तो विषय हैं। एवं इन विषयों का यथाशास्त्र अनुगमन करने से ही तो सुखप्राप्ति सम्भव है। शास्त्र केवल आत्मा की चर्चा करता है, इन्द्रियातीत स्वर्गादि फलों का ही निरूपण करता है, यह आपने मान किस आधार पर लिया? स्वयं 'शास्त्र' शब्द ही अपना अर्थ व्यक्त कर रहा है। 'इदं कर्त्तव्यं-इदं न कर्त्तव्यम्'-'इदं कुरु-इदं मा कुरु' इस प्रकार यच्चयावत (ऐहलौकिक, पारलौकिक) कर्म्मों की कर्त्तव्यता, अकर्त्तव्यता का निरूपण करने वाले विधि-निषेधात्मक वाक्यों का अनुशासन करने वाला अनुशासन ग्रन्थ ही तो 'शास्त्र' कहलाया है। जैसा कि 'भूमिका प्रथमखण्डा'न्तर्गत 'शास्त्रशब्दनिर्वचन' प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। बिना शास्त्र के आर्यप्रजा का कोई भी कर्म्म व्यवस्थित रूप से सञ्चालित नहीं हो सकता। शास्त्र-उन प्रत्यक्षद्रष्टा, प्रकृतिरहस्यवेत्ता, आप्त महर्षियों के विधि-निषेधात्मक वचनों का संग्रह है। सामान्य मनुष्य कर्म्मरहस्य जानने में असमर्थ हैं। ऐसी दशा में इन का उभयविध कल्याण उन असामान्य महर्षियों के आदेशानुगमन पर ही निर्भर है, जैसा कि 'योगसङ्गति' प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है।

८—सहजं कर्म्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥
—गीता १८।४७

९—स्वभावजेन कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्म्मणा ।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यवशोऽपि तत् ॥
— गीता १८।६०

१०—श्रेयान् स्वधर्म्मो विगुणः परधर्म्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥
—गीता ३।३५

अहर्निश गीताभक्ति का डिण्डिमघोष करनेवाले उन विशुद्ध-गीताभक्तों से हम पूंछते हैं कि, अपने कर्म्म-सिद्धान्त के सम्बन्ध में गीता को सर्वामणी बनाते हुए क्या उन्हों नें कभी स्वप्न में भी यह प्रयास किया कि, राष्ट्र का ब्राह्मण समाज ज्ञान-विज्ञानप्रधान भारतीय साहित्य का पारदर्शी बने, क्षत्रियसमाज बल-पौरुष-शौर्य्ययुक्त बनता हुआ युद्धविद्या में निष्णात बने, वैश्यसमाज कृषि-गोरक्षा--वाणिज्य में अग्रगामी रहे, एवं शूद्रवर्ग परिचर्य्या-धर्म्म पर प्रतिष्ठित रहे ?। सब वर्ण अपने अपने धर्म्मों का ही अनुगमन करें, कोई स्ववर्णधर्म्म से विपरीत जाने का साहस न करे ?। गीता जिस शास्त्रविधि को सिद्धि, परागति, सुख का अन्यतम मार्ग बतला रही है, क्या उनकी ओर से इस शास्त्ररक्षा का भूल से भी कोई संकल्प हुआ ?। गीताप्रतिपादित—'यज्ञ-दान-तपःकर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत्' इस दृढ़तम, आवश्यकतम आदेश के अनुसार क्या उन्हों नें कभी विलुप्तप्राय इन यज्ञादि कर्म्मों के पुनरुज्जीवन के लिए कोई चेष्टा की ?। 'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः, पर्जन्यादन्नसम्भवः' इस आदेश का मूल्य समझते हुए राष्ट्र की बुभुक्षाज्वाला को शान्त करनेवाले अन्नसाधक यज्ञकर्म्म का क्या कभी उन्हों नें स्मरण किया ?। 'अनावृष्टि-अतिवृष्टि-जनपदविध्वंसिनी' आदि के द्वारा होनेवाले उन दैनिक दुष्कालों के प्रतिशोध के लिए क्या उन्हों नें कभी यज्ञद्वारा प्रकृति का अनुग्रह प्राप्त करने की कामना प्रकट की ?। 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' इस आदेश को शिरोधार्य्य कर क्या कभी उन्हों नें वर्णगुरु,

तत्त्वदर्शी विद्वान् ब्राह्मणों से ज्ञानोपदेश ग्रहण करने की आवश्यकता समझी ?। हम तो समझते हैं, ठीक इसके विपरीत उन गीताभक्तों की ओर से अबतक गीतासिद्धान्तों को कुचलने का ही भगीरथ-प्रयत्न हुआ है। शास्त्रों की उपेक्षा-मिश्रित निन्दा की जाती है, वर्णाश्रमधर्म्म को राष्ट्र की अवनति का अन्यतम कारण माना जा रहा है, ब्रह्म-क्षत्रबल की एकान्ततः उपेक्षा की जा रही है, विट्-तथा शूद्रबल को सर्वोच्च आसन प्रदान किया जा रहा है। स्वतन्त्रता के नाम पर आबाल-वृद्ध-सब को अमर्य्यादित, उच्छृङ्खल बनाने का अन्यर्थ प्रयास हो रहा है। क्या इसी का नाम स्वतन्त्रता है ?, क्या राजनीति का यही बीभत्स रूप है ?, क्या इसी नीति-धर्म्म (अनीति अधर्म्म) के बल पर वे हिन्दुत्व रक्षा करना चाहते हैं ?, क्या गीता से उन्हें यही आदेश मिला है ?, क्या गीतोक्त कर्म्मतन्त्र के वर्गीकरण का यही अभिप्राय है ?। आशा है, गीता के अक्षरों पर दृष्टि डालते हुए हमारे गीताभक्त मुकुलितनयन बन कर अपनी इन उद्दामवासनाओं के उदर्क का मनन करेंगे।

भारतीय षट्कर्म्मवाद—

जैसा कि उपक्रम में स्पष्ट किया जा चुका है, "वर्णकर्म्म—आश्रमकर्म्म—संस्कारकर्म्म" इन तीन कर्म्मों के अतिरिक्त कर्म्मयोग-परीक्षा के सम्बन्ध में और कोई परीक्ष्य विषय नहीं बच रहता। इन तीनों की सम्यक् परीक्षा ही कर्म्मयोग की सम्यक् परीक्षा है। देश-काल-पात्र-द्रव्य-श्रद्धा-पद्धति-कौशल, आदि के भेद से इन्हीं तीनों के आगे जाकर असंख्य भेद हो जाते हैं। उन असंख्य कर्म्मों का अन्ततोगत्वा ६ कर्म्मों में अन्तर्भाव हो जाता है। भारतीय 'षट्कर्म्मवाद' सुप्रसिद्ध है, जैसा कि—'षट्कर्म्माणि दिने दिने' इत्यादि सूक्तियों से स्पष्ट है। अनुगमभाव से सम्बन्ध रखने वाला यह 'कर्म्मषट्क' अनेक वर्गों में विभक्त है। वर्ण-आश्रम-संस्कारात्मिका कर्म्मत्रयी के आधार पर प्रतिष्ठित इन कर्म्मषट्कों के अनेक वर्गों में से कुछ एक वर्गों का दिग्दर्शन करा देना ही इस प्रकरण का मुख्य उद्देश्य है।

*   *

*

१—संस्कारनिबन्धनपट्कर्म्म

संस्कारतारतम्य—

लौकिक-वैदिक सभी कर्म्म उपकारक हैं। परन्तु इनका यह उपकारकत्त्व इनके अनुष्ठान की योग्यता, तथा अधिकार से ही सम्बन्ध रखता है। कर्म्म चाहे स्वस्वरूप से कितना ही उत्कृष्ट-विशिष्ट क्यों न हो, यदि कर्त्ता में उसके अनुष्ठान की योग्यता नहीं है, तो वह उसी प्रकार इस विशिष्ट कर्म्म से अतिशय उत्पन्न नहीं कर सकता, जैसे कि पाककर्म्म की योग्यता न रखने वाला पाचक (रसोइया) विशिष्ट सामग्रियों के रहते हुए भी पाककर्म्म से कोई अतिशय प्राप्त नहीं कर सकता। वर्णों के कर्म्म इसी वर्णयोग्यता के आधार पर विभक्त हुए हैं। एवं यह वर्णयोग्यता जन्मतः तत्तद्वर्णों में रहती हुई भी एक प्रकार के विशेष सांस्कारिक कर्म्मों के द्वारा ही प्रस्फुटित होती है। चूंकि इन सांस्कारिक कर्म्मों से कर्म्मों में अधिकार मिलता है, अतएव हम इन्हें 'अधिकारसमर्पक कर्म्म' भी कह सकते हैं। इन सांस्कारिक पट्कर्म्मों में से कुछ कर्म्म तो माता-पिता को करने पड़ते है, कुछ एक विद्याप्रदाता आचार्य को, एवं कुछ का अनुष्ठान स्वयं अपने आपको करना पड़ता है। और कर्म्मवाद के सिद्धान्त में यही एक ऐसा अपवादस्थल है, जहां "जो करता है, वह भोगता है" इस सामान्य नियम का बाध हो जाता है। सांस्कारिक कर्म्मों के कर्त्ता माता-पिता, तथा आचार्य भी हैं, परन्तु इनका शुभोदर्क भोगता है वह व्यक्ति, जिसके लिए ये कर्म्म किए जाते हैं।

मान लीजिए किसी व्यक्ति के सांस्कारिक कर्म्म तो हुए नहीं, साथ ही में प्रकृति-प्रदत्त वर्णबीज को और भी अधिक मलिन करने वाले कुसंस्कारजनक कुकर्म्म उस व्यक्ति ने और कर डाले। आहार-विहार बिगाड़ लिया, धर्म्म-कर्म्मानुगामिनी आर्पशिक्षा के विरुद्ध म्लेच्छभापा का अनुगमन किया, एवं अन्यान्य पातक-उपपातक-अतिपातक-मलिनीकरण-संकरीकरण-जातिभ्रंशकर, आदि दोपावह कर्म्मों मे प्रवृत्ति रक्खी, तो परिणाम इन दोपावह कर्म्मों के अनुगमन का यह होगा कि, इसका जन्मसिद्ध (पूर्वजन्मसिद्ध) संस्कारातिशय भी बिगड जायगा। ऐसा असंस्कृत, तथा कुसंस्कृत व्यक्ति कभी शास्त्रसिद्ध, वर्णाधर्म्मानुगामी, आधिकारिक (स्वाभाविक) कर्म्मों में प्रवृत्त न हो सकेगा। यही नहीं, अपितु ठीक इसके विपरीत कुसंस्कारों के आवरण से आवृत इसकी मलिन (तमोगुणप्रधाना) इच्छा उसी

प्रकार इसे सदा वर्णधर्म्मविरोधी असत् कर्म्मों की ओर ही प्रवृत्त करती रहेगी, जैसे कि स्वस्वरूप से शुक्ल रहतीं हुईं भी सूर्य्यरश्मियाँ मलिनकाच से निकलतीं हुईं मलिन प्रकाश-प्रवृत्ति का कारण बन जाया करतीं हैं।

जब तक आत्मा में थोड़ा बहुत प्रकाश रहता है, तब तक यह व्यक्ति आगन्तुक कुसंस्कारों से घृणा का अनुभव किया करता है। उदाहरण के लिए एक ऐसे व्यक्ति को लीजिए, जिसने अपने जीवन में कभी मद्य-मांस का भक्षण न किया हो। परन्तु दुर्दैववश उसे एक ऐसे समाज से संसर्ग रखना पड़ता है, जहां मद्य-मांस भक्षण से कोई परहेज नहीं किया जाता। वहां की सभ्यता इसे भी संसर्गाधिक्य से इन असत् पदार्थों के सेवन के लिए विवश करती है। अभी इसमें थोड़ा आत्मप्रकाश बचा हुआ है। उसी के प्रभाव से यह आरम्भ में 'ना-ना' करता है। सभ्यता के बलात्कार से इसे खाना पड़ता है। बलात्कार से एक दो बार खा लेने पर घृणा का अनुभव भी करता है। परन्तु इस संसर्ग के धारावाहिक आक्रमण से क्रमशः इसकी रही सही आत्मज्योति भी उत्तरोत्तर अधिकाधिक मलिन होती जाती है। एक समय ऐसा आता है, जब आरम्भ में मद्य-मांस के नाम से भी घृणा करने वाला वही व्यक्ति मद्य-मांस का अन्यतम पक्षपाती बन जाता है। आत्मप्रकाश के सर्वथा मलिन हो जाने से कृष्णरश्मिप्रसार भी उसी प्रकार अवरुद्ध हो जाता है, जैसे कि अल्पमलिन काच से निकलतीं हुईं कृष्ण-सूर्य्यरश्मियाँ कज्जलादि निबिड़ आवरणों से सर्वथा अवरुद्ध हो जातीं हैं। इस अवस्था में पहुंचे बाद इसी के श्रीमुख से—"मद्य-मांस में कोई दोष नहीं है, इनसे रक्तवृद्धि, शरीरपुष्टि होती है। अवश्य ही स्वास्थ्य की दृष्टि से इनका सेवन करना चाहिए" ये अक्षर निकलने लगते हैं।

प्रसिद्ध है कि, दक्षिणप्रान्त के सुप्रसिद्ध 'तांतिया मामा' (भील) ने अपनी माता के संकेत से जब पहिली बार एक पथिक को मार डाला, तो हिंसाकर्म्मजनित इस आत्मपरिताप से कई दिनों तक यह व्याकुल रहा। वही तांतिया अपने इस पूर्वानुभव की उपेक्षा करता हुआ, हिंसाकर्म्म की चरमसीमा पर पहुंच कर कहने लगता है कि, "मनुष्य हिंसा का अब मेरी दृष्टि में कोई विशेष महत्व नहीं है। मेरे लिए मनुष्य, और एक चिउंटी, दोनों का समान मूल्य है।" उन महानुभावों की भी यही दशा समझिए, जो वर्णाश्रमधर्म्ममूलक शास्त्रीय कर्म्मों को निरी कल्पना मानते हुए असत् कर्म्मों से शान्तमना नहीं बनते। सचमुच कुसंस्कारों के आत्यन्तिक आवरण से आज ऐसे महानुभावों का आत्मप्रकाश सर्वथा अभिभूत हो गया है।

इसी संस्कार-तारतम्य के आधार पर भगवान् ने मानवसमाज को तीन श्रेणियों में बांटा है। वे ही तीनों श्रेणि-विभाग गीतानुसार 'कृतात्मा-विधेयात्मा-अकृतात्मा' इन तीन नामों से प्रसिद्ध हैं। शास्त्र-तत्व के पर-पारगामी, विदितवेदितव्य, सिद्धावस्थापन्न कर्म्मयोगी 'आरूढ़' कहलाते हैं। ये अपने लक्ष्य पर पहुंचते हुए सर्वथा कृतकृत्य हैं। इन्हों नें अपने आत्मा का स्वरूप यथावत् पहिचान लिया है। ऐसे आरूढ़ (सिद्धि पर प्रतिष्ठित), कृतकृत्य योगी ही 'कृतात्मा' कहलाए हैं। इन्हीं को 'युक्तयोगी' भी कहा गया है। यही सर्वश्रेष्ठ, किन्तु 'कश्चित्' मर्य्यादा से युक्त पहिला मानवविभाग है।

मानवसमाज के तीन विभाग—

जिन के पूर्वसंस्कार शुभ हैं, इस जन्म में भी जिन्हों नें सुकृत-कर्म्मों का ही अनुगमन किया है, जिन की शिक्षा-दीक्षा-आहारादि स्ववर्णानुकूल हैं, अतएव जिन के आत्मा में प्रकाशरश्मियां आंशिकरूप से विकसित हैं, ऐसे श्रद्धालु-आस्तिक व्यक्ति ही शास्त्रसिद्ध कर्म्मों की ओर प्रवृत्त रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों को ही आत्मोद्धार की कामना रहती है। ऐसे पुरुष ही आरुरुक्षु (आगे बढ़ने की इच्छा करने वाले) कहलाए हैं। अवश्य ही ये अपनी इस जिज्ञासा के प्रभाव से, शास्त्रीयकर्म्मानुष्ठान द्वारा आत्मदोषों का आत्यन्तिकरूप सेप रिमार्ज्जन करते हुए एक दिन आरूढ़ (कृतात्मा, युक्तयोगी) बन जायँगे। इन्हीं शास्त्रनिष्ठ, जिज्ञासु, आरुरुक्षु, पुरुषों को गीता ने 'विधेयात्मा' कहा है, ये ही 'युञ्जानयोगी' कहलाए हैं। एवं यही मानव-समाज का दूसरा, किन्तु सीमित विभाग है।

एक तीसरा विभाग, जो कि संख्या में इतर दोनों विभागों से कहीं अधिक है, ऐसा है, जिस का आत्मप्रकाश कुसंस्कारवश सर्वथा दब गया है। इसी प्रवृद्ध मलिनता के अनुग्रह से इन की सत्कर्म्मों की ओर अणुमात्र भी प्रवृत्ति नहीं है। इन की दृष्टि में 'आत्मा-परमात्मा-स्वर्ग-नरक-मुक्ति-यज्ञ-दान-तप-इष्ट-आपूर्त्त-दत्त-देव-द्विज-गुरुशुश्रुषा-श्राद्ध' आदि शास्त्रीय कर्म्मों का न तो कोई महत्व ही है, एवं न एतत् सम्बन्ध में इन्हें कभी कुछ जानने की इच्छा ही। घोर-घोरतम असत्कर्म्म कर लेने पर भी इन्हें आत्मपरिताप नहीं होता। जो दशा आत्म-प्रकाशशून्य, अतएव सर्वानुभवशून्य पाषाणादि जड़पदार्थों की रहती है, वही दशा इन की हो जाती है। अर्थसञ्चय, कृपणता, मोह, आदि विविध पाशों में बद्ध, अहर्निश अर्थतन्त्र से आकर्षित ऐसे महानुभावों में भूल कर भी दिव्यभाव जागृत नहीं होते। ऐसे महापातकी ही

गीता के शब्दों में—'अकृतात्मा' कहलाए हैं। "सर्वज्ञानविमूढ़[1]" ऐसे अकृतात्माओं का समुद्धार असम्भव है। 'जायस्व-म्रियस्व,-जायस्व-म्रियस्व' के धारावाहिक चक्र में पड़े हुए ये अकृतात्मा सर्वथा अचिकित्स्य हैं।

स्वस्वरूप से सर्वथा 'कृतात्मा' बना हुआ हमारा आत्मा आगन्तुक दोषों से 'अकृतात्मा' न बन जाय, आगन्तुक, तथा सञ्चित दोष हमें अपने स्वाभाविक वर्ण-धर्म्म से च्युत न कर डालें, हम अपने आधिकारिक शास्त्रीय कर्म्मों पर ही आरूढ़ रहें, इस के लिए सञ्चितदोषों का निराकरण, एवं आगन्तुक दोषों का अवरोध आवश्यक है। एकमात्र इसी प्रयोजन के लिए शास्त्र की ओर से षड्विध-सांस्कारिक कर्म्मों का विधान हुआ है। अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित 'ब्रह्म-देव' दोनों का संस्कार अपेक्षित हैं। अतएव संस्कार भी—'ब्राह्म-दैव' भेद से दो ही भागों में विभक्त हैं। प्रत्येक के आगे जाकर अवान्तर तीन तीन भेद हो जाते हैं। सम्भूय ६ संस्कार कर्म्म हो जाते हैं, जिन का पूर्वप्रकरण में सोपपत्तिक दिग्दर्शन कराया जा चुका है। आगे बतलाए जाने वाले कर्म्मषट्कों की मूलप्रतिष्ठा यही सांस्कारिक कर्म्मषट्क है। अतएव प्रकृतप्रकरण में इसी को पहिला स्थान दिया गया है।

सांस्कारिककर्म्म—

१—संस्कारनिबन्धनषट्कर्म्मपरिलेखः—

१—(१)—गर्भसंस्काराः (८)—शोधकाः			
२—(२)—अनुव्रतसंस्काराः (८)—विशेषकाः	—ब्राह्मसंस्कारकर्म्माणि त्रीणि		
३—(३)—धर्म्मशुद्धिसंस्काराः (५)—भावकाः			
			षट्कर्म्माणि-षट्
४—(१)—पाकयज्ञसंस्काराः (७)—शोधकाः			
५—(२)—हविर्यज्ञसंस्काराः (७)—विशेषकाः	—दैवसंस्कारकर्म्माणि त्रीणि		
६—(३)—सोमयज्ञसंस्काराः (७)—भावकाः			

* * *

१—ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनुसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्म्मभिः॥ १॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मानवाः।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः॥ २॥ (गीता० ३।३१, ३२,)

२—उदर्कनिबन्धनषट्कर्म्म

ज्ञानपूर्वक किए जाने वाले कर्म्म शुभसंस्कार के जनक बनते हैं, एवं अज्ञानसहकृत कर्म्म अशुभसंस्कार के जनक बनते हैं। इस प्रकार ज्ञान-अज्ञानभेद से वही कर्म्म सुवासना का भी जनक बन जाता है, तथा दुर्वासना का भी प्रवर्त्तक बन जाता है। अब इस सम्बन्ध में विचार यह करना है कि, जिन कर्म्मों से ये शुभाशुभ-वासनासंस्कार उत्पन्न होते हैं, वे किन किन श्रेणियों में विभक्त हैं। परिणाम को ही 'उदर्क' कहा जाता है। अतएव परिणामजनक इन कर्म्मों को प्रकृत प्रकरण में हमनें 'उदर्कनिबन्धन' नाम से व्यवहृत किया है, एवं प्रकृत प्रकरण इन्हीं उदर्कनिबन्धन षट्कर्म्मों का श्रेणि-विभाग बतलाने के लिए प्रवृत्त हुआ है।

पुण्य-पापनिरुक्ति—

कार्य्य के स्वरूप से ही तत्कारण का अनुमान लगाया जाता है। जब कि कर्म्मरूप कारण के इस कार्य्यरूप फल 'शुभ-अशुभ' भेद से दो भागों में विभक्त पाते हैं, तो तज्जनक कारणरूप कर्म्म भी दो ही भागों में विभक्त माना जायगा। पुण्योदर्क (पुण्यफल-शुभफल) का जनक कर्म्म 'पुण्यकर्म्म' माना जायगा, एवं पापोदर्क (पापफल-अशुभफल) का जनक कर्म्म 'पापकर्म्म' कहलाएगा। पुण्यकर्म्म से उत्पन्न पुण्यरूप शुभसंस्कार से अध्यात्मसंस्था का उत्तरोत्तर विकास होता है, ऊर्ध्वगमन होता है, अतएव आत्मश्रेयोभाव के कारणभूत इस पुण्यकर्म्म को शास्त्रों में—'श्वोवसीयस्' (श्वः श्वः वसीयान्, उत्तरोत्तर वृद्धिगत) नाम से व्यवहृत हुआ है। एवं पापकर्म्म से उत्पन्न पापरूप अशुभसंस्कार आत्मपतन का कारण बनता हुआ 'पातक' नाम से प्रसिद्ध है। आत्मा को अभ्युदय पथ की ओर ले जाने वाला श्वोवसीयस कर्म्म भी तीन भागों में विभक्त है, एवं आत्मपतन का कारणभूत पातककर्म्म भी तीन हीं भागों में विभक्त है। इस प्रकार उदर्कनिबन्धना यह पुण्य-पापकर्म्मद्वयी आगे जाकर ६ भागों में विभक्त हो जाती है। पुण्यकर्म्मत्रयी का उदर्क (परिणाम) शुभ है, पापकर्म्मत्रयी का उदर्क अशुभ है। यह भी ध्यान रखने की बात है कि पुण्य पाप-कर्म्म हमारे जन्मादि के कारण नहीं बनते, अपितु इन से उत्पन्न सञ्चित शुभाशुभ संस्कार हीं जन्मादि के प्रवर्त्तक बनते हैं। शुभोदर्क शुभजाति, दीर्घायु, दिव्यभोगों के कारण बनते हैं, एवं अशुभोदर्क हीन-जाति, अल्पायु, मलिनभोगों के प्रवर्तक बनते हैं।

पुण्य, तथा पाप, दोनों हीं अतीन्द्रिय पदार्थ हैं, जैसा कि 'योगसङ्गति' प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। ऐसी दशा में अन्तर्द ष्टिलक्षणा विज्ञानदृष्टि के अतिरिक्त पुण्य-पाप का स्वरूप समझने के लिए हमारे पास और कोई दूसरा साधन नहीं है। उधर विज्ञानदृष्टि का सम्बन्ध आत्मा से है, एवं आत्मा का सम्बन्ध सूर्य्य से है। अतः पुण्य-पाप के स्वरूप-परिचय के लिए हमारे लिए विज्ञानघन, आत्मप्रतिष्ठालक्षण, सहस्रांशु सूर्य्य ही एकमात्र शरण बच रहता है।

जैसा कि पूर्व के 'आश्रमविज्ञान' में विस्तार से बतलाया जा चुका है कि, सूर्य्य ही (सूर्य्य-स्थित ज्योति-गौ-आयु-नाम के तीन मनोताओं में से 'आयु' नाम का मनोता ही) हमारे आत्मा की प्रतिष्ठा है। इसी आयु.प्राण से आत्मा की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है। दूसरे शब्दों में आयुःप्राण ही 'मनो-वाग्' गर्भित बनता हुआ हमारा 'प्रज्ञानात्मा' बनता है, जैसा कि निम्न लिखित उपनिषच्छ्रुति से स्पष्ट है—

'या वै प्रज्ञा, स प्राणः, यः प्राणः, सा प्रज्ञा। सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः, सहोतिष्ठतः, सहोत्क्रामतः। + + + + +। प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा। तं मामायुरमृत-मित्युपास्व'।

—कौषी० उप० ३।२।१

उक्त श्रुति के अनुसार प्राज्ञलक्षण भूतात्मा का सूर्य्य से उत्पन्न होने के कारण सूर्य्यांशत्व भलीभांति सिद्ध हो जाता है। 'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (यजु सं० ७।४२) इत्यादि मन्त्रश्रुति भी इसी सिद्धि का समर्थन कर रही है। इस प्रकार जीवात्मलक्षण, प्रज्ञा-प्राणकृतमूर्त्ति भूतात्मा, तथा ज्योति-गौ-रायुघन सूर्य्य, दोनों का अंशांशीभाव सम्यक्रूप से सिद्ध हो जाता है।

आत्मघन सूर्य्य अंशी है, जीवात्मा इसी का एक अंश है। अंश यदि अपने अंशी की ओर अनुगत रहता है, तो अंशी के घनभाव से सम्बन्ध रखता हुआ अंश वृद्ध्युन्मुख बना रहता है। यदि अंश का अंशी से विपरीत दिशा में गमन है, तो अंशी के घनभाव से वञ्चित रहता हुआ वह अंश ह्रासोन्मुख बना रहता है। निष्कर्ष यही हुआ कि, यदि हमारा भूतात्मा स्वप्रभव सूर्य्यतत्व का अनुगामी है, तब तो इस का श्वः श्वः (दिनदिन, उत्तरोत्तर) श्रेयो-

भाव (वृद्धि-विकास) है, यदि सूर्य्यविरुद्ध दिक् का अनुगामी है, तो उत्तरोत्तर पतनोन्मुख है। आत्मा का सूर्य्यदिक् की ओर जाना ही आत्मा का 'अभ्युदय' है, एवं सूर्य्यविरुद्ध दिक् की ओर आना ही 'प्रत्यवाय' है। जो (शुभ) कर्म्म आत्मा में शुभसस्कार उत्पन्न करते हुए इन संस्कारों के आकर्षण के द्वारा आत्मा के अभ्युदय के (सूर्य्यदिक् की ओर ले जाने के) कारण बनते हैं, उन अभ्युदयनिमित्तिक शुभकर्म्मों को भी (अभ्युदय के साधक होने से) 'अभ्युदय' कह दिया जाता है। एवं जो (अशुभ) कर्म्म आत्मा मे अशुभ संस्कार उत्पन्न करते हुए इन संस्कारों के आकर्षण से आत्मा के प्रत्यवाय के (सूर्य्यविरुद्धदिक् की ओर ले जाने के) कारण बनते हैं, उन प्रत्यवायनिमित्तक अशुभकर्म्मों को भी (प्रत्यवाय के साधक होने से) 'प्रत्यवाय' शब्द से व्यवहृत कर दिया जाता है।

अभ्युदयजनक कर्म्मों से आत्मा मे अभ्युदयप्रवर्त्तक सस्कार उत्पन्न होते हैं, एवं अभ्युदय निमित्तक इसी शुभसस्कार के बल से यह मनुष्य अपनी जीवन दशा में (अभ्युदयसंस्काराकर्पण से आकर्पित प्राप्त सूर्य्यरस के आगमन से) प्रज्ञानात्मसंश्लिष्ट विज्ञानात्मा (बुद्धि) के विकास के द्वारा (बुद्धिवल के द्वारा) लौकवैभव, लोकसमृद्धि का उपभोग करता है। एवं स्थूलशरीरपरित्यागानन्तर इस का आत्मा इसी अभ्युदयसस्काराकर्पण से सूर्य्यदिक् से उपलक्षित देवयानमार्ग का अनुगामी बनता हुआ पारलौकिक स्वर्गसुख का अधिकारी बन जाता है। इसी तरह प्रत्यवायजनक कर्म्मों से आत्मा में प्रत्यवायप्रवर्त्तक संस्कार उत्पन्न हो जाते हैं, एवं प्रत्यवायनिमित्तक इसी अशुभ संस्कार के अनुग्रह से यह मूढ मनुष्य अपनी जीवनदशा मे (प्रत्यवायसंस्काराकर्पण से आकर्पित, अतएव सूर्य्यरस वञ्चित, अतएव बुद्धिविकास से विमुक्त) लोकवैभवों से वञ्चित रहता है, एव स्थूलशरीरपरित्यागानन्तर सूर्य्यप्रतिदिक् से उपलक्षित 'पितृयाण' मार्ग का अनुगामी बनता हुआ नरक का अधिकारी रह जाता है। इस प्रकार अभ्युदयजनक कर्म्म जहा उभयलोककल्याणकर बनते हैं, वहा प्रत्यवायजनक कर्म्म उभयलोकपतन के कारण बनते हैं।

'अभ्युदय' शब्द मे—'अभि-उत्-अय' ये तीन विभाग हैं। 'अभि' का अर्थ है—'सामने,' 'उत्' का अर्थ है—'ऊपर की ओर'। एवं 'अय' का अर्थ है—'गमन'। इस प्रकार—'सूर्य्य के सामने ऊचे की ओर जाना' ही 'अभ्युदय' का शब्दार्थ है। वैज्ञानिकों ने 'अभ्ययः' न कह कर 'अभ्युदय.' कहा है। 'अभ्यय' का अर्थ है—'सूर्य्य के सामने जाना'। पूर्वदिशा की ओर जाना ही 'अभ्यय.' है। इधर सौर-देवस्वर्ग ऊपर अन्तरिक्ष की ओर है, एवं यहीं आत्मगमन अभिप्रेत है। अत. 'उत्' का सम्बन्ध कराते हुए उन्हों ने 'अभ्युदय.' कहना हीं

आवश्यक समझा है। अभ्युदय शब्द का प्रतिद्वन्द्वी शब्द है—'प्रत्यवाय'। इस में भी—'प्रति-अव-अय' ये तीन हीं पर्व हैं। 'प्रति' का अर्थ है—'सूर्य्य साम्मुख्य से विपरीत'। 'अव' का अर्थ है—'नीचे की ओर'। एवं 'अय' का अर्थ है—'गमन'। 'सूर्य्य की विरुद्ध दिक् में नीचे की ओर जाना' ही 'प्रत्यवाय' का शब्दार्थ है। तेजोमय इन्द्रप्रधान देवताओं से युक्त रहता हुआ सौरमण्डल (अदितिमण्डल) प्रकाशमय है, ज्योतिर्घन है। वृत्रप्रधान असुरों से युक्त रहता हुआ विरुद्धभाग (दितिमण्डल) अन्धकार पूर्ण है, तमोमय है। सौरमण्डलानुगृहीत गमनमार्ग (देवयान) शुक्लमार्ग है, विरुद्धभागानुगृहीत गमनमार्ग (पितृयाण) कृष्णमार्ग है। अभ्युदयसंस्कारयुक्त आत्मा ज्योतिःपथ का अनुगामी बनता हुआ देवस्वर्ग में प्रतिष्ठित होता है, एवं प्रत्यवायसंस्कारयुक्त आत्मा तमःपथ का अनुगामी बनता हुआ नरक का सत्पात्र बनता है। इस प्रकार अभ्युदय-प्रत्यवाय निमित्तक पुण्य-पापकर्म्मों के भेद से आत्मगति भी दो भागों में विभक्त हो जाती है। एक शुक्लमार्ग है, एक कृष्णमार्ग है। आगे जाकर कर्म्मतारतम्य से ये दो आत्मगतियां १०८ भागों में विभक्त हो जातीं हैं, जिनका विशद वैज्ञानिक विवेचन 'मूलगीताभाष्य' के 'आत्मगत्युपनिषत्' नामक प्रकरण में होने वाला है। इन्हीं दोनों आत्मगतियों का संक्षिप्त स्वरूप बतलाती हुई श्रुति, एवं तदनुगामिनी स्मार्त्ती उपनिषत् (गीता) कहती है—

१—द्वे सृती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरञ्च॥

—यजुः सं० १९।४७।

२—शुक्ल-कृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वती मते।
एकया यात्यनावृत्तिं, मन्ययाऽऽवर्त्तते पुनः॥

—गीता ८।२६

इन अभ्युदय, तथा प्रत्यवायसंस्कारों को पुण्या-पुण्य कर्म्मों से उत्पन्न होने के कारण जहां पुत्रस्थानीय माना जा सकता है, वहां अपने उक्थरूप से ये ही पुण्यापुण्यकर्म्मों के पिता भी बन रहे हैं। अभ्युदयसंस्कारजनक शुभकर्म्मों से शुभोदर्कलक्षणा शुभवासना उत्पन्न होती है, एवं यही अभ्युदयसंस्कार है। यह संस्कार कालान्तर में 'उक्थ' रूप में परिणत हो जाता है। उक्थावस्थापन्न ऐसे अभ्युदयसंस्कार से अभ्युदयजनक शुभकर्म्मों की ओर ही

प्रवृत्ति रहती है। एवमेव प्रत्यवायसस्कारजनक अशुभकर्म्मों से अशुभोदर्कलक्षणा अशुभ-वासना उत्पन्न होती है, एवं यही प्रत्यवायसस्कार है। यह सस्कार भी कालान्तर में उक्थरूप मे परिणत हो जाता है। उक्थावस्थापन्न ऐसे प्रत्यवायसंस्कार से प्रत्यवायजनक अशुभकर्म्मों की ओर ही प्रवृत्ति रहती है। सञ्चित वासनाव्यूह को ही 'सञ्चितकर्म्म' कहा जाता है, एवं यह कर्म्म संस्कारात्मक है। पूर्व जन्मसञ्चित वासना ही उत्तरजन्म के शुभाशुभ-कर्म्मों की प्रवृत्ति का कारण बनती है, एव भारतीय 'भाग्यवाद' की मूलप्रतिष्ठा यही सञ्चित वासनाव्यूह है।

"हम भाग्य के अनुसार कर्म्म करते है ?, अथवा कर्म्मों के अनुसार हमारा भाग्य बनता है ? हम सर्वथा भाग्य के आश्रित हैं ?, अथवा हमारा अपना पुरुपार्थ भी स्वतन्त्र रूप से कुछ काम कर सकता है ?", यह भी एक जटिल समस्या है। तभी तो कर्म्माचार्य्यों ने कहा है—'कवयोऽप्यत्र मोहिताः—गहना कर्म्मणो गतिः'। इन सभी प्रश्नों का गीताशास्त्र ने सर्वथा निश्चित समाधान किया है, जैसा कि पाठक मूलगीताभाष्य के 'अत्याज्यकर्म्मोपनिषत्' नामक प्रककरण मे देखेंगे। हमारे इस जन्म के कर्म्म ही अगले जन्म के लिए सस्काररूप 'भाग्य' का निर्म्माण करते हैं। एव इस जन्म के कर्म्म उन पूर्वजन्म के सञ्चित, भाग्यरूप कर्म्मों का ही परिणाम है। दोनों रथचक्रों की तरह अन्योऽन्याश्रित है। पूर्वजन्मसञ्चित कर्म्मसंस्कार, किंवा सस्कारात्मक कर्म्म यदि निकृष्ट है, तो स्वभावत हमारी प्रवृत्ति सस्कारानुकूल बुरे कर्म्मों की ओर ही होगी। इन स्वाभाविक (वस्तुत आगन्तुक) कुसस्कारों को निर्बल बनाने के लिए, साथ ही मे इन सञ्चित सस्कारो के द्वारा होने वाले कुकर्म्मों के निरोध के लिए ही गर्भाधानादि षटसस्कार किए जाते हैं। इस सम्बन्ध मे यह निश्चित है कि, कर्म्म भाग्य का निर्म्माण करता है, भाग्य कर्म्मप्रवृत्ति का कारण बनता है, एव गर्भाधानदि संस्कार, शास्त्रीय आचार व्यवहारो का अनुगमन, सत्सग, स्वाध्याय, देव-द्विज-गुरु शुश्रूपा, आदि के प्रभाव से इन सञ्चित कुसस्कारो का (भाग्य का) बल निर्वीर्य्य बन जाता है। प्रकृत मे उक्त अभ्युदय-प्रत्यवायगाथागान से यही कहना है कि, अभ्युदयमूला, किंवा अभ्युदयरूपा शुभवासना 'श्व श्रेयस' है, क्योंकि इस से आत्मा उत्तरोत्तर विकसित होता है। एव प्रत्यवायमूला, किंवा प्रत्यवायरूपा अशुभवासना 'पातक' है, क्योंकि इससे आत्मा का उत्तरोत्तर पतन होता है। 'श्व श्रेयस' रूप शुभसस्कार 'पुण्य' है, 'पातक' रूप अशुभसस्कार 'पाप' है। पाप सस्कार के जनक कर्म्म—'पापकर्म्म' है, पुण्यसस्कार के जनक कर्म्म 'पुण्यकर्म्म' हैं।

पुण्य से (पुण्यकर्म्म से) पुण्य (पुण्यसंस्कार) उत्पन्न होता है, पाप से (पापकर्म्म से) पाप (पापसंस्कार) उत्पन्न होता है। पुण्यकर्म्म से आत्मा 'पुण्यात्मा' बनता है, पापकर्म्म से आत्मा 'पापात्मा' बनता है। एवं पुण्य-पाप की यही संक्षिप्त निरुक्ति है।

यह तो हुआ पुण्य-पाप शब्दों के रहस्यार्थ का दिग्दर्शन। अब क्रमप्राप्त इन की 'शब्द-निरुक्ति' का भी स्पष्टीकरण कर लीजिए। पवनार्थक 'पूञ्' धातु ('पूञ्' पवने, क्र्यादि० उ० से०) से, अथवा शुभार्थक 'पुण' धातु ('पुण' कर्म्मणि शुभे, तुदा० प० से०) से 'पुण्य' शब्द की स्वरूपनिष्पत्ति हो सकती है। 'पूञ्' धातु से 'पूञो यण्-णुक्-ह्रस्वश्च' (उ० ५।१५) सूत्र से यण्-णुक्-ह्रस्व द्वारा 'पुण्य' शब्द निष्पन्न हुआ है, एवं 'पुण' धातु से 'यत्' के द्वारा पुण्य शब्द सम्पन्न हुआ है। पहिले का अर्थ है—'पुनाति-आत्मानं यत्तत्'। अर्थात् जो कर्म्म, जो संस्कार, जो फल आत्मस्वरूप को पवित्र करता है, पवित्रता द्वारा आत्मस्वरूप की रक्षा करता है, वही कर्म्म, वही संस्कार, वही फल 'पुण्य' कहलाता है। दूसरे का अर्थ है—'पुणमर्हति,—अथवा 'पुणे साधुर्यत्तत्'। अर्थात् जो (स्वस्वरूपरक्षा के लिए) शुभभाव का अनुगामी है, वह कर्म्म ही पुण्य है। निष्कर्ष यही हुआ कि जिन कर्म्म-संस्कार-फलों के अनुगमन से आत्मा की स्वरूपरक्षा होती है, आत्मा में शुभसंस्कारों का आधान होता है, आत्मा को शुभफल प्राप्ति होती है, उन्हीं कर्म्मों को 'पुण्यकर्म्म' कहा जाता है।

दूसरा 'पाप' शब्द है। इस का निर्वचन थोड़ा अटपटा सा है। 'पा-अपः' का समुच्चय ही 'पाप' है। 'पा' रक्षाभाव का सूचक है, 'अपः' इस रक्षावृत्ति के निकलने का सूचक है। वस्तु का स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहना ही वस्तुस्वरूप की रक्षा है। इसी रक्षा-भाव के लिए 'स्वास्थ्य' शब्द प्रयुक्त हुआ है। स्व (आत्मा) का स्वस्वरूप में स्थित रहना ही 'स्वास्थ्य,' किंवा 'स्वस्थता' है, एवं यही 'रक्षाभाव' है। जिन असत् कर्म्मों से आत्मा अपने इस स्वाभाविक स्वरूप से गिर जाता है, वही असत्कर्म्म—'पा (स्वास्थ्यं, प्रतिष्ठा, आत्मनः स्वाभाविकी स्थितिः)-ततः (प्रतिष्ठातः) अपः (अपगमो) यस्यात्मनो येन कर्म्मणा, तत् पापम्' इस निर्वचन के अनुसार 'पाप' कहलाया है। पा (रक्षा) विघातक कर्म्म ही पाप है। 'अप' शब्द अपगम अर्थ का ही सूचक है। 'येन कर्म्मणा आत्मनः पा रक्षा अपगता भवति' ही पाप है।

दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। जो कर्म्म आत्मा के 'पा' भाव (प्रतिष्ठाभाव, स्वरूप-रक्षकभाव) की रक्षा करने में असमर्थ है, वही 'पां आत्मरक्षकं प्रतिष्ठाभावं न पाति न रक्षति'

इस निर्वचन के अनुसार पाप कहलाया है। आत्मस्वरूपरक्षा के साधक शुभसंस्कार को नष्ट कर देने वाला कर्म्म ही पाप है।

विभिन्न दृष्टि से विचार कीजिए। 'अपगता-आपः' भी पाप शब्द का निर्वचन हो सकता है, एवं यही तीसरा निर्वचन विज्ञानसम्मत बनता हुआ तीनों में श्रेष्ठ निर्वचन है। 'आपः' शब्द आत्मा के स्वाभाविक जीवनप्रवाह का ही सूचक है। जिस कर्म्म से आपोलक्षण जीवनप्रवाह रुक जाता है, नष्ट हो जाता है, दूषित हो जाता है, वही 'अपगता-आपः' के अनुसार 'अपाप' है। याहच्छिकभाव की प्रधानता से स्थिति-विलोपसूचक अकार का 'लोप' हो जाता है, अपापशब्द 'पाप' शब्दरूप मे परिणत हो जाता है। 'निरुक्तशास्त्र' का यह नियम है कि, जहां उसे किसी शब्द से शब्दवाच्य पदार्थ की मूलस्थिति (स्वाभाविक-स्थिति) का अभिनय करना होता है, वहां पदार्थवाचक शब्द के मूलस्वरूप का वह तदनुरूप ही निर्वचन करता है। इसके अतिरिक्त यदि किसी शब्द से वह मूलपदार्थ के स्वरूप की विकृति बतलाना चाहता है, तो तत्प्रतिपादक शब्द के मूलस्वरूप को भी वह विकृत बना देता है। 'अपाप' शब्द आत्मस्थिति के दूषित भाव का, आत्मस्वरूपविकृति का सूचक है। इसी विकृतिभाव को व्यक्त करने के लिए तद्वाचक 'अपाप' शब्द को भी 'अकार' निर्गमन द्वारा विकृत बना दिया गया है। शब्द वास्तव में 'अपाप' है। परन्तु वही 'पाप' रूप में परिणत होता हुआ यह व्यक्त कर रहा है कि, मैं (अपाप) आत्मस्थितिविकृति का वाचक हूं। जिस कर्म्म का यह शब्द सूचक है, वह अपनी 'अपाप', इस मूलस्थिति से च्युत होता हुआ 'पाप' रूप में परिणत होकर यह बतला रहा है कि, यह कर्म्म आत्मा की मूलस्थिति का विघातक है।

अन्यदृष्टि से निर्वचन कीजिए। आत्मा की स्वाभाविक प्रकृति ही 'आपः' है। 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इस छान्दोग्य-सिद्धान्तानुसार आत्मा के भोगायतनरूप लिङ्गशरीर का पानियों से ही निर्म्माण हुआ है। 'अप' शब्द निम्नभाव का, निम्नगति का, नीचे गिरने का, पतन का सूचक है। जिस कर्म्म से उक्त आपोमय शरीर नीचे गिर जाता है, लोकभाषा के अनुसार जिन कुकर्म्मों से मनुष्य का पानी उतर जाता है, वही कर्म्म 'अपगता आपः' के अनुसार 'अपाप' बनता हुआ अकारविलुप्ति से 'पाप' कहलाया है।

आज दिन सर्वसाधारण में यद्यपि 'एनस्-प्रत्यवाय-अघ-दुष्कृत-किल्बिष, तथा श्वःश्रेयस-अभ्युदय-प्रायश्चित्त-सुकृत-कल्याण' आदि शब्द समानार्थक बन रहे हैं। परन्तु विज्ञानदृष्टि से विचार करने पर इन सब का पार्थक्य ही स्वीकार करना पड़ता है। शुद्धिसंस्कार में की गई प्रतिज्ञा की पूर्त्ति के लिए प्रसङ्गोपात्त इस पार्थक्य का दिग्दर्शन करा देना भी अनुचित न होगा। पहिले क्रमप्राप्त 'एनस्' शब्द का ही विचार कीजिए। एनस् शब्द में—'अ इन् अस्' ये तीन विभाग हैं। 'नामैकदेशे नामग्रहणम्' न्याय के अनुसार 'इनः' शब्द के अभिप्राय से प्रयुक्त 'इन्' से 'इनः' का ग्रहण किया जा सकता है। 'इन' का अर्थ है—'स्वामी-अधिपति'। चूंकि रोदसी-त्रैलोक्य का स्वामी सूर्य्य है, अतएव सूर्य्य को 'इनः' कहा जाता है, जैसा कि, 'इनो, भगो. धामनिधि, श्चांशुमान्०' इत्यादि अमरवचन से प्रमाणित है। 'अ' का अर्थ है—'अभाव-नहीं'। एवं-'अस्' का अर्थ है—'भाव-हां-सत्ता-अस्तित्व'। जिस कर्म्म से आत्मा अपने प्रभव स्वामी की ओर अनुगत नहीं रहता, वही कर्म्म 'एनस्' कहलाता है। ऐसा कर्म्म, जो आत्मसत्ता को 'इनः' की ओर से हटा दे, 'एनस्' कहलायेगा। इस 'एनस्' का प्रतिद्वन्द्वी शब्द है—'श्वःश्रेयस' शब्द।

श्वःश्रेयस-एनस्-निरुक्ति—

अभ्युदय, तथा प्रत्यवाय का एक स्वतन्त्र युग्म है, एवं श्वःश्रेयस, तथा एनस् का एक पृथक् युग्म है। साथ ही दोनों युग्म भिन्न भिन्न अर्थों के सूचक हैं। श्वःश्रेयस 'शुभकर्म्म' है, एनस् 'अशुभकर्म्म' है। श्वःश्रेयस नामक शुभकर्म्म से वासनात्मक जो शुभसंस्कार उत्पन्न होता है, अभ्युदय (आत्मविकास) का कारण बनता हुआ 'ताच्छब्द्य' न्याय से वही 'अभ्युदय' है, एवं एनस् नामक अशुभकर्म्म से वासनात्मक जो अशुभसंस्कार उत्पन्न होता है, प्रत्यवाय (आत्मपतन) का कारण बनता हुआ 'ताच्छब्द्य' न्याय से वही प्रत्यवाय है। दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि, हम जो शुभकर्म्म करते हैं, वे 'श्वःश्रेयस' हैं, एवं अशुभकर्म्म 'एनस्' हैं। श्वःश्रेयस नामक शुभकर्म्मों से उत्पन्न होने वाला अभ्युदय-साधक शुभसंस्कार 'अभ्युदय' है, एनस् नामक अशुभकर्म्मों से उत्पन्न होने वाला प्रत्यवाय-साधक अशुभसंस्कार 'प्रत्यवाय' है। श्वःश्रेयस, तथा एनस्, दोनों स्थूलकर्म्म हैं, संस्कार के कारण हैं। अभ्युदय, तथा प्रत्यवाय, दोनों कर्म्म सूक्ष्म कर्म्म हैं, कर्म्मजनित संस्कार हैं, संस्कारात्मक कार्य्य हैं। शुभाशुभकर्म्म श्वःश्रेयस-एनस् हैं, इन से होने वाले उदर्क (संस्कार-रूपफल) अभ्युदय-प्रत्यवाय हैं। एवं इस विवेक से दोनों युग्मों का पार्थक्य स्पष्टतम है।

अब 'अघ' शब्द की मीमांसा कीजिए। जिस प्रकार 'एनस्' का प्रतिद्वन्द्वी 'श्वःश्रेयस' था, 'प्रत्यवाय' का प्रतिद्वन्द्वी 'अभ्युदय' था, एवमेव इस 'अघ' शब्द का प्रतिद्वन्द्वी 'प्रायश्चित्त' शब्द माना गया है। अघ, तथा प्रायश्चित्त, दोनों ही शब्द कर्म्मविशेषों के सूचक हैं। अभ्युदय-जनक (शुभसंस्कारजनक), कारणात्मक, स्थूलकर्म्मों को 'श्वःश्रेयस' बतलाया गया है। यदि अनुकूल निमित्तों का सहयोग रहता है, तब तो अभ्युदयजनक ये श्वःश्रेयसकर्म्म निर्विघ्न सम्पन्न हो जाते हैं। यदि प्रतिकूल निमित्त उपस्थित हो जाते हैं, तो इन कर्म्मों की प्रवृत्ति रुक जाती है। उदाहरण के लिए 'वृष्टिकर्म्म' को ही लीजिए। वृष्टिकर्म्म प्रजापति का एक श्वःश्रेयस कर्म्म है। पर्जन्यवायु इस कर्म्म का अनुकूल निमित्त है, एवं रुद्रवायु इस कर्म्म का प्रतिकूल निमित्त है। यदि पर्जन्यवायु का सहयोग मिल जाता है, तब तो प्रजापति अपने इस श्वःश्रेयसलक्षण वृष्टिकर्म में सफल हो जाते हैं। अन्यथा रुद्रवायुरूप प्रतिकूल निमित्त के उपस्थित हो जाने पर प्रजापति का यह कर्म्म अवरुद्ध हो जाता है। ठीक यही परिस्थिति प्रजापति के अंशरूप इस पुरुष के कर्म्मों के सम्बन्ध में समझिए। आस्तिक्य-सत्य-दया-क्षमा-अनुसूया-अलोभ, आदि निमित्तों के सहयोग से जहां श्वःश्रेयसकर्म्म में इसे सफलता मिलती है, वहां नास्तिक्य-असत्य-हिंसा-असूया-लोभ, आदि निमित्तों के उपस्थित हो जाने पर (इन से श्वःश्रेयस कर्म्मों के प्रवर्त्तक, पूर्वजन्मसञ्चित, उक्थरूप अभ्युदय नामक, शुभसंस्कारों के अभिभूत हो जाने पर) श्वःश्रेयसकर्म्मप्रवृत्ति अवरुद्ध हो जाती है। "कारण के रहने पर भी प्रतिबन्धक सामग्री के उपस्थित हो जाने से कार्य्य रुक जाता है"—न्यायशास्त्र के इस सिद्धान्त से सभी परिचित हैं। किया हुआ भी मङ्गल प्रचुर विघ्नप्रतिबन्धकों से ग्रन्थसमाप्ति-कर्म्म में समर्थ नहीं होता। बस जो कर्म्मविशेष अभ्युदयजनक श्वःश्रेयस कर्म्मों के अनुकूल निमित्तों को नष्ट कर इन श्व० कर्म्मों की प्रवृत्ति रोक देता है, वही 'अघ' नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि इस के नाम से ही स्पष्ट हो रहा है। पूर्वोक्त 'नामैकदेशे नामग्रहणम्' न्याय के अनुसार 'अ' कार अभ्युदय का सूचक है, 'घ' कार 'हिंसा' भाव का सूचक है। 'अकारं—(अभ्युदयसंस्काराभिभवद्वारा अयुभ्दयजनककर्म्मनिमित्तं) हन्ति' ही 'अघ' शब्द का निर्वचन है। अघ का प्रतिद्वन्द्वी 'प्रायश्चित्त' शब्द ठीक इस से विपरीत अर्थ रखता है।

अघ प्रायश्चित्त, अभ्युदय-प्रत्यवायनिरुक्ति—

'एनस्' नामक अशुभ कर्म्म से प्रत्यवायरूप अशुभसंस्कार उत्पन्न होते हैं, यह कहा जा चुका है। पूर्वजन्म के सञ्चित, अभ्युदयरूप शुभसंस्कार तो पुरुष को शुभ कर्म्मों की ओर प्रवृत्त करना चाहते हैं, उधर सञ्चित, तथा सङ्गदोप से उत्पन्न प्रत्यवाय

संस्कार इसे अशुभकर्म्मों की ओर प्रवृत्त करना चाहते हैं। इस के अतिरिक्त प्रत्यवाय के उपोद्बलक अशुभनिमित्त (हिंसा आदि असत् कर्म्मों से उत्पन्न तात्कालिक प्रत्यवायरूप अशुभसंस्कार) प्रत्यवाय को तो सबल बना रहे हैं, एवं अभ्युदय-संस्कार के अतिशय को निकाल रहे हैं। प्रत्यवायसंस्कार के उपोद्बलक, अतएव प्रत्यवायजनक कर्म्मों के निमित्तभूत इन तात्कालिक संस्कारों से श्वःश्रेयस-कर्म्मप्रवर्त्तक, अभ्युदय-संस्कार अतिशय से शून्य हो जाते हैं, फलतः श्वःश्रेयसकर्म्म-प्रवृत्ति तो रुक जाती है, एवं एनस्-कर्म्मप्रवृत्ति जागृत हो जाती है। उदाहरण के लिए एक ऐसे ब्राह्मण को लीजिए, जो अभ्युदयसंस्कार के अनुग्रह से वेदस्वाध्याय-देवपूजनादि श्वःश्रेयस कर्म्मों का अनुगामी बना हुआ है। दुर्दैववश सङ्गदोष में पड़ कर वह मद्यपान कर लेता है। मद्यपान एक एनस् कर्म्म है, इस से उत्पन्न प्रत्यवाय संस्कार इस के सत्कर्म्मप्रवर्त्तक अभ्युदय संस्कार का प्रतिबन्धक बन जाता है। मद्यपान से शुभसंस्कार निकल जाता है, प्रत्यवायनिमित्तक अशुभसंस्कार अपना प्रभुत्व जमा लेता है। फलतः कालान्तर में ऐसे मद्यपी ब्राह्मण की श्वःश्रेयस कर्म्मों की ओर से प्रवृत्ति हट जाती है। इस विप्रतिपत्ति को दूर करने का एकमात्र यही उपाय बच रहता है कि, जिस प्रत्यवाय निमित्त के आ जाने से अभ्युदयसंस्कार निकल गया था, उस निमित्त का भविष्य के लिए तो अवरोध कर देना, एवं आगत निमित्त से शुभसंस्कार का जो अतिशय निकल गया था, उसे कर्म्मविशेष द्वारा पुनः आत्मा में स्थापित कर देना। वही उपाय शास्त्रों में 'प्रायश्चित्त' नाम से सम्बोधित हुआ है। तत्त्वतः प्रत्यवायजनक कर्म्मों के निमित्त का प्रतिबन्धक, एवं अभ्युदयसंस्कार का आधानकर्त्ता कर्म्म-विशेष ही 'प्रायश्चित्त' है, जैसा कि इस के निर्वचनार्थ से स्पष्ट है। प्रायश्चित्त शब्द के—'प्रायः-चित्त' ये दो विभाग हैं। 'प्रायः' विभाग 'प्रयाण' भाव का ही सूचक है। गतावस्था ही 'प्रायः' है, एवं इस गत-भाव का पुनः चयन (चिति, संग्रह, आधान) ही 'चित्त' है। प्रायोभाव का पुनः चयन ही प्रायश्चित्त है।

दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। उन शुभ कर्म्मों को, जिन से कि आत्मा में (आत्मविकासक) अभ्युदय संस्कार उत्पन्न होते हैं, 'श्वःश्रेयसकर्म्म' कहा गया है। इन शुभ कर्म्मों के बल से ही आत्मा अभ्युदय का अनुगामी बनता है, अतएव इन्हें हम 'अभ्युदय निमित्तक' कह सकते हैं। अभ्युदयनिमित्तक श्वःश्रेयस कर्म्मों का अनुगमन करते हुए आत्मा में अभ्युदयसंस्कार उत्पन्न हो गया, आत्मा विकसित हो गया। अब यदि कोई ऐसा कर्म्म कर लिया जाता है, जिस से कि अभ्युदय भाव को सुरक्षित रखने वाला, अतएव अभ्युदय

नाम से ही प्रसिद्ध वह शुभसंस्कार नष्ट हो जाता है, तो अभ्युदयनिमित्त-प्रतिबन्धक (शुभ-संस्कारप्रतिबन्धक) वही कर्म्म 'अघ' कहलाएगा। 'अघ' नामक कर्म्म विशेष स्व श्रेयस कर्म्म से उत्पन्न होने वाले अभ्युदयभाव के रक्षक, अतएव अभ्युदय नाम से ही प्रसिद्ध शुभ-संस्कार के प्रतिबन्धक बनते हुए इन के स्वाभाविक विकास को रोक देते हैं। फलतः रहता हुआ भी अभ्युदय निमित्तक शुभसंस्कार उसी प्रकार आत्माभ्युदय में असमर्थ रहता है, जैसे कि पारमेष्ठ्य सोमाहुतिरूप स्व श्रेयस कर्म्म से उत्पन्न, सावित्राग्नि में संस्काररूप से प्रतिष्ठित, प्रकाशप्रसाररूप अभ्युदय का निमित्त मेघात्मक प्रतिबन्धक के आ जाने से स्वप्रकाश प्रसार क्रिया में असमर्थ रहता है।

प्रायश्चित्त इसी अघकर्म्म का प्रतिद्वन्द्वी है। जिन अशुभ कर्म्मों से आत्मा में प्रत्यवाय संस्कार उत्पन्न होते हैं, उन्हें 'एनस् कर्म्म' कहा गया है। इन एनस्‌रूप अशुभ कर्म्मों के बल से ही आत्मा प्रत्यवाय का भागी बनता है, अतएव इन्हें हम प्रत्यवायनिमित्तक कह सकते हैं। प्रत्यवायनिमित्तक एनस् कर्म्मों का अनुगमन करने से आत्मा में प्रत्यवाय संस्कार उत्पन्न हो गया, आत्मा का स्वाभाविक विकास दब गया। अब यदि कोई ऐसा कर्म्म कर लिया जाता है, जिस से कि प्रत्यवायभाव को सुरक्षित रखने वाला, अतएव प्रत्यवाय नाम से ही प्रसिद्ध वह अशुभ संस्कार नष्ट हो जाता है, तो प्रत्यवायनिमित्त-प्रतिबन्धक (अशुभ-संस्कारप्रतिबन्धक) वही कर्म्म विशेष 'प्रायश्चित्त' कहलाएगा। प्रायश्चित्तात्मक ये कर्म्म विशेष एनस् कर्म्म से उत्पन्न होने वाले, प्रत्यवायभाव के रक्षक, अतएव प्रत्यवाय नाम से ही प्रसिद्ध अशुभसंस्कार के प्रतिबन्धक बनते हुए इन के आवरकधर्म्म को नष्ट कर देते हैं। फलत आत्मविकास उसी प्रकार अपनी पूर्व दशा में आ जाता है, जैसे कि अघस्थानीय मेघ के प्रतिबन्धक, प्रायश्चित्त स्थानीय वायुसञ्चाररूप कर्म्म के आगमन से अघप्रतिबन्धक (मेघ) हट जाता है, एवं सूर्य्यप्रकाशप्रसार अपनी पूर्व दशा में आ जाता है।

प्रकारान्तर से देखिए। स्व श्रेयसजनित अभ्युदय (शुभसंस्कार), एवं एनस्-जनित प्रत्यवाय (अशुभसंस्कार), इन दोनों का तो आत्मा (प्रज्ञानात्मा) के साथ साक्षात् सम्बन्ध है। दोनों ही संस्कार क्रमश. प्रज्ञानात्मा पर लिप्त रहते हैं। परन्तु अभ्युदयनिमित्त-प्रतिबन्धक अघ, तथा प्रत्यवायनिमित्त-प्रतिबन्धक प्रायश्चित्त, इन दोनों का आत्मा के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता। आत्मा का अभ्युदय ही आत्मा का 'उदय' है, एवं इस आत्मोदय का कारणभूत शुभसंस्कार (शुभोदर्क) भी अभ्युदय नाम से ही व्यवहृत हुआ है। इस दृष्टि से शुभोदर्करूप शुभसंस्कार अभ्युदय का निमित्त भी कहला सकता है, एवं

'ताच्छब्द्य' न्याय से अभ्युदय भी कहला सकता है। वस्तुतस्तु शुभसंस्कार अभ्युदय (आत्मोदय) का निमित्त ही माना जायगा। अघ का आत्मा के साथ सम्बन्ध न होकर अभ्युदय के निमित्त बने हुए इस शुभसंस्कार के साथ ही सम्बन्ध होता है।

इसी प्रकार आत्मा का प्रत्यवाय ही आत्मा का 'पतन' है, एवं इस आत्मपतन का कारणभूत अशुभसंस्कार (अशुभोदर्क) भी प्रत्यवाय नाम से ही व्यवहृत हुआ है। इस दृष्टि से अशुभोदर्करूप अशुभसंस्कार प्रत्यवाय का निमित्त भी कहला सकता है, एवं 'ताच्छब्द्य' न्याय से अभ्युदय भी कहला सकता है। वस्तुतस्तु अशुभसंस्कार प्रत्यवाय (आत्मपतन) का ही निमित्त माना जायगा। प्रायश्चित्त का आत्मा के साथ साक्षात् सम्बन्ध न होकर प्रत्यवाय के निमित्त बने हुए इस अशुभसंस्कार के साथ सम्बन्ध होता है।

अभ्युदयनिमित्तरूप जिस शुभसंस्कार से आत्मा का उदय हुआ था, उस निमित्त (शुभसंस्कार) का स्वरूप बिगाड़ देना ही अघकर्म्म का परमपुरुषार्थ है। एवमेव प्रत्यवाय-निमित्तरूप जिस अशुभसंस्कार से आत्मा का पतन हुआ था, उस निमित्त (अशुभसंस्कार) का स्वरूप बिगाड़ देना ही प्रायश्चित्त कर्म्म का परमपुरुषार्थ है। अघकर्म्म आत्मपतन का साक्षात्रूप से कारण नहीं बनता, न प्रायश्चित्त कर्म्म ही साक्षात्रूप से आत्मोदय का कारण बनता। साक्षातरूप से आत्मा का विकास करना, एवं साक्षातरूप से आत्मा को आवृत कर देना, यह तो श्वश्रेयस-एनस् कर्म्मों से उत्पन्न होने वाले शुभ अशुभसंस्कारों का ही काम है। इधर आत्मविकास करने वाले अभ्युदयजनक शुभसंस्कारों के बल को आवृत कर देना मात्र अघकर्म्म का काम है, एवं आत्मपतन के हेतुभूत प्रत्यवायजनक अशुभसंस्कारों को निर्बल कर देना मात्र 'प्रायश्चित्तकर्म्म' का काम है। इसी दृष्टि से हम 'अघ-प्रायश्चित्त' नामक इस तीसरे युग्म को पूर्व के दोनों युग्मों से पृथक् मानने के लिए तय्यार हैं।

मिथ्याभाषण 'अघकर्म्म' है। इसके अनुगमन से अभ्युदयनिमित्तरूप शुभसंस्कार अतिशयशून्य बन जाता है। इस दोष की निवृत्ति के लिए चान्द्रायणादि व्रतलक्षण प्रायश्चित्तकर्म्म अपेक्षित है। गोमयलिप्त यवचूर्ण के नियमित ग्रासाहार से अघजनित दूषित वासना हट जाती है। निकलती हुई आत्मशक्ति इस प्रायश्चित्तकर्म्म से पुनः चित (सञ्चित) हो जाती है। निकलती हुई शक्ति को पुन. आत्मा में चित कर देना ही प्रायश्चित्त (प्रयाण करती हुई शक्ति का पुनः चयन, सञ्चय) है। अघकर्म्म का जैसा स्वरूप है, अघ जितना बल रखता है, उसकी प्रतिद्वन्द्विता में प्रायश्चित्त भी उतना, अथवा उससे कुछ अधिक ही

बलशाली होना चाहिए। उदाहरण के लिए 'स्वार्थपरायणता' को ही लीजिए। जो व्यक्ति अपने कर्म्म का, अपने वित्त का केवल स्वार्थ में हीं उपयोग करता है, जिसका मुख्य जीवनोद्देश्य केवल अपना भरण-पोषण ही है, वह 'अघ' का पात्र माना गया है। स्वार्थ-मूलक कर्म्म, वित्त आदि साक्षात् अघरूप हैं। ऐसे स्वार्थी व्यक्ति 'अघ' रूप पाप को ही अपना अन्न बना रहे हैं, जैसा कि भगवान् ने कहा है—'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्' (गी० ३।६३)।

स्वार्थलक्षण इस अघ का प्रायश्चित है, अपने कर्म्म, तथा अपनी सम्पत्ति का यथाशक्ति परार्थ, तथा परमार्थ कर्म्मों में उपयोग। इस पर-परमार्थभाव से अघ द्वारा विनिर्गत आत्मशक्ति पुनः आत्मा मे सञ्चित हो जाती है। कितने एक अघ तो ऐसे हैं, जिनसे आत्मा के शुभसंस्कारों पर अल्प प्रभाव पडता है, एवं कितनें एक अघ कर्म्म आत्यन्तिक-रूप से शुभसंस्कारों का दलन कर डालते हैं। इसी अघतारतम्य से आगे जाकर इस अघ की अनेक जाति-उपजातियाँ हो जातीं हैं। अघभेद से प्रायश्चित्त कर्म्म भी अघ के बलाबल के अनुसार अनेक भागों मे विभक्त हो जाता है। इसी आधार पर धर्म्माचार्य्यों नें अघ कर्म्मों के 'पातक-अतिपातक-उपपातक-महापातक' आदि अनेक भेद मानें हैं। कितनें हीं अघ मलिनीकरण हैं, कितनें ही संकरीकरण हैं, कितनें हीं जातिभ्रंशकर हैं। अघ के स्वरूप के अनुसार ही प्रायश्चित्त का विधान हुआ है। रागासक्ति, तथा द्वेषासक्ति के अनुग्रह से उत्पन्न काम[1]-क्रोध-लोभ ये तीन प्रधान शत्रु ही मनुष्य को, विशेषतः

---

१ "अथ पुरुषस्य काम-क्रोध-लोभाख्यं रिपुत्रयं सुघोर भवति। परिग्रहप्रसङ्गाद्विशेषेण गृहाश्रमिण.। तेनायमाक्रान्ताऽतिपातक महापातका-नुपातको-पपातकेषु प्रवर्त्तते। जाति-भ्रंशकरेषु, संकरीकरणेषु, अपात्रीकरणेषु च। मलावहेषु प्रकीर्णकेषु च—

त्रिविधं नरकस्येद द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः-क्रोधस्तथा लोभ, स्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥" —विष्णुस्मृति ३३ अ०।

बहुपरिग्रहयुक्त गृहस्थी को अघकर्म्मों की ओर प्रवृत्त करते हैं। हमारे गीताशास्त्र[1] नें इन्हीं कामादि शत्रुओं के विजय के लिए 'बुद्धियोगास्त्र' प्रदान किया है।

मातृगमन, दुहितृगमन, स्नुषागमन, तीनों जघन्य कर्म्म अतिपातक नाम के अघ माने गए हैं। इन तीनों अघदोषों का इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा प्रायश्चित्त नहीं है, कि इनके अनुगामी अतिपातकी जीतेजी अग्नि में जल जाय। अग्निदेवता ही इन्हें इस पाप से बचा सकते हैं[2]।

ब्रह्महत्या,[3] सुरापान, ब्राह्मण के सुवर्ण का हरण, गुरुदारगमन, इन कर्म्मों को 'महापातक' माना गया है! एव इन कर्म्मों के अनुयायियों को महापातकी कहा गया है। जो ऐसे महापातकियों के साथ एक वर्ष तक किसी प्रकार का सम्बन्ध रखते हैं, वे भी महापातकी बन जाते हैं। एक सवारी में साथ बैठने से, एक साथ भोजन करने से, एक साथ सोने से वर्षान्त में अवश्य ही इन्हें भी महापातकी बनना पडता है। यदि कोई व्यक्ति इन महापातकियों के साथ विवाहादि सम्बन्ध कर लेता है, तो तत्क्षण ही वह महापातकी बन

---

१ काम एप क्रोध एप रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ —गी० ३।३७ ॥ १ ॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भ-मान-मदा-न्विताः।
मोहाद्गृहीत्वाऽसंग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रता.॥ —गी० १६।१० ॥ २ ॥
तस्मात्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ!
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ —गी० ३।४१ ॥ ३ ॥
कामक्रोधवियुक्ताना यतीना यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम्॥ —गी० ५।२६ ॥ ४ ॥
चेतसा सर्वकर्म्माणि मयि सन्यस्य मत्पर।
'बुद्धियोग' मुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ —गी० १८।५७ ॥ ५ ॥

२ "मातृगमनं, दुहितृगमनं, स्नुषागमन-मित्यतिपातकानि। अतिपातकिनस्त्वेते प्रविशेयु-र्हुताशनम्। न ह्यन्या निष्कृतिस्तेपा विद्यते हि कथञ्चन"। —विष्णु' ३४ अ०।

३ "स्तेनोहिरण्यस्य, सुरा पिबश्च, गुरोस्तल्पमावसन्, ब्रह्महा, चैते पतन्ति चत्वार', पञ्चमश्चाचरस्तैरिति। अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन् वेद, न सह तैरप्याचरन् पाप्मना लिप्यते। शुद्ध, पूत, पुण्यलोको भवति, य एवं वेद" —छान्दोग्य उप० ५।१०।९-१०।

जाता है। अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान, पृथिवी पर जितने भी तीर्थ हैं, उनमें गमन, ही इन महापातक कर्म्मों का प्रायश्चित्त है[1]।

तीसरा विभाग 'अनुपातक' का है। ये भी महापातक से ही मिलते जुलते हैं, अतएव इनका भी प्रायश्चित्त अश्वमेध यज्ञ, तथा तीर्थाटन माना गया है। यज्ञ करते हुए क्षत्रिय, तथा वैश्य को मार देना, रजस्वला को, गर्भवती स्त्री को, अग्निगोत्र वाली ब्राह्मणी को, गर्भ को, शरणागत को मार देना 'ब्रह्महत्या' के समान हैं। झूठी गवाही देना, मित्र को मार देना, ये दोनों कर्म्म 'सुरापान' के समान हैं। ब्राह्मण की जमीन छीन लेना, विश्वास पर किसी के द्वारा रक्खी हुई धरोहर हजम कर जाना, 'सुवर्णस्तेय' के समान हैं। पितृव्या (काकी), मातामही (नानी), मातुलानी (मामी), श्वश्रू (सासू), स्वसा (बहन), राजमाता (राजा की रानी), पितृष्वसा (बुआ), मातृष्वसा (मावसी), श्रोत्रिय (वेदविद्वान्) की पत्नी, ऋत्विक् (कर्म्मकरानेवाले पुरोहित की) पत्नी, उपाध्याय की पत्नी, मित्रपत्नी, सगोत्रा, स्वसु सख्या (बहन की समान गोत्रवाली मित्रस्त्री), ब्राह्मणादि उत्तमवर्ण की कन्या, अन्त्यजस्त्री, रजस्वला, शरणागता, धरोहररूप से किसी के द्वारा आई हुई स्त्री, आदि स्त्रियों के साथ गमन करना 'गुरुदारगमन' समान माना गया है। इन्हीं सब कुकर्म्मों की समष्टि 'अनुपातक' है। एवं इनके अनुयायी 'अनुपातकी' नाम से प्रसिद्ध हैं[2]।

---

१ "ब्रह्महत्या, सुरापानं, ब्राह्मणसुवर्णहरणं, गुरुदारगमनमिति महापातकानि। तत संयोगश्च। सम्वत्सरेण पतति, पतितेन सहाचरन्, एकयान-भोजन-शयनैः। यौनस्रौवमौखैः सम्बन्धैस्तु सद्य एव। अश्वमेधेन शुद्ध्येयुर्महापातकिनस्त्विमे। पृथिव्या सर्वतीर्थाना तथानुसरणेन च" —विष्णुः ३५ अ०।

२ यागस्थस्य क्षत्रियस्य वैश्यस्य च, रजस्वलायाश्च, अन्तर्वत्न्याश्च, अग्निगोत्रायाश्च, अविज्ञातस्यगर्भस्य, शरणागतस्य च घातन ब्रह्महत्यासमानि। कौटसाक्ष्यं, सुहृद्वध, एतौ सुरापानसमौ। ब्राह्मणस्य भूम्यपहरणं, सुवर्णस्तेयसमम्। पितृव्य-मातामह-मातुलश्वशुर-नृपपत्न्यभिगमनं गुरुदारगमनसमम्। पितृष्वसृ-मातृश्वसृ-स्वसृगमनं च। श्रोत्रियर्त्विगुपाध्याय-मित्रपत्न्य-भिगमनं च। स्वसु सख्या -सगोत्राया, उत्तमवर्णाया कुमार्य्या, अन्त्यजाया, रजस्वलायाः, शरणागताया प्रव्रजिताया., निक्षिप्तायाश्च (अभिगमन गुरुदारगमनसममेवेति शेष·)—·

अनुपातकिस्त्वेते महापातकिनो यथा।
अश्वमेधेन शुध्यन्ति तीर्थानुसरणेन च॥" —विष्णु ३६ अ०

मिथ्याभाषण, पिशुनता (खलवृत्ति), गुरुनिन्दा, वेदनिन्दा, पढ़ेलिखे वेद का अनभ्यास-वश विस्मरण, (एवं वेदस्वाध्याय परित्याग), गृह्याग्नि-पिता-माता-पुत्र-स्त्री आदि से सम्बन्ध विच्छेद, पलाण्डु-लशुन-गृञ्जन-मद्य-मांसादि अपेय-अभोज्य पदार्थों का भक्षण, दूसरे की सम्पत्ति का अपहरण, परस्त्रीगमन, शास्त्रविरुद्ध कर्म्मों से जीविका निर्वाह, कृपण-शूद्रादि असत् पुरुषों से असत् परिग्रह ग्रहण, क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रों की हिंसा, निषिद्ध विक्रेयों का विक्रय, बड़े भाई के अविवाहित रहते आप स्वयं विवाह कर लेना, ऐसे व्यक्ति को कन्यादान करने वाला, यथासमय उपनयनादि संस्कारों से वञ्चित रहने वाला, द्रव्य लेकर विद्यादान करना, वृक्ष-गुल्म-वेलड़ी-औषधियों को निष्प्रयोजन तोड़ना, स्त्रीधन से जीविका निर्वाह करना, मारण-मोहन-उच्चाटन-वशीकरण-आदि कृत्याप्रयोगों में प्रवृत्ति, केवल स्वार्थसिद्धि के लिए कर्म्म करना, यज्ञ-प्रजोत्पत्ति-श्राद्ध-स्वाध्याय से वञ्चित रहते हुए देव-पितृ-ऋषिऋण न चुकाना, नास्तिकता, (ईश्वरसत्ता पर विश्वास न करना), इत्यादि सब कर्म्म 'उपपातक' माने गए हैं, गोमेध, चान्द्रायणादि ही इन अघों के प्रायश्चित्त हैं (देखिए विष्णुस्मृति ३७ अ०)।

ब्राह्मण को पीड़ा पहुंचाना, मद्यादि का गंध लेना, कुटिलता रखना, पशुओं से मैथुन करना, पुरुषमैथुन करना आदि 'जातिभ्रंशकर' अघ हैं। 'सान्तपनप्राजापत्यकृच्छ्' नामक विशेष कर्म्म ही इन का प्रायश्चित्त है। ग्राम्य, तथा आरण्य पशुओं की हिंसा 'संकरीकरण' अघ हैं। एक महीने तक जौ खाना, अथवा 'कृच्छ्रातिकृच्छ्' करना ही इन का प्रायश्चित्त है। निन्दित मनुष्यों से धन लेना, व्यापार करना (ब्राह्मण के लिए), असत्यभाषण करना, शूद्रादि अवर-वर्णों की सेवा करना, ये सब 'अपात्रीकरण' नामक अघ हैं। 'तप्तकृच्छ्'-'शीतकृच्छ्'-'महासान्तपन' तीनों में से कोई सा भी एक कर्म्म करना इन का प्रायश्चित्त है। नभचर, जलचर, जलज, कृमि, कीट आदि प्राणियों की हिंसा, भांग-सुलफा-गांजा-चरस-तम्बाकू-सिगरेट-बीड़ी, ओर ओर नशीली चीजें खाना-पीना-सूंघना, ये सब कर्म्म 'मलिनीकरण' हैं। एवं 'तप्तकृच्छ्' ही इन का प्रायश्चित्त माना गया है। इन के अतिरिक्त ओर भी असंख्य अघ बच रहते हैं, जिन का यथा अवसर शास्त्रों में संग्रह कर दिया गया है। उन सब का प्रायश्चित्त अघ की योग्यता के तारतम्य से शास्त्रवित्-ब्राह्मण की अनुमति से कर लेना चाहिए—

प्रकीर्णपातके ज्ञात्वा गुरुत्वमथ लाघवम्।
प्रायश्चित्तं बुधः कुर्य्याद् ब्राह्मणानुमतः सदा॥

प्रसङ्गवश 'अघ-प्रायश्चित्त' युग्म के सम्बन्ध मे कर्म्मों का दिग्दर्शन कराना पडा।

सुकृत-दुष्कृत, कल्याण-किल्विप, निरुक्ति—

अव पुनः क्रमप्राप्त 'सुकृत-दुष्कृत' नामक चौथे युग्म की ओर पाठकों का ध्यान आकर्पित किया जाता है। इस युग्म का पूर्वप्रतिपादित तीनों युग्मों से विशेप महत्त्व माना गया है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होगा। पहिले 'दुष्कृत' शब्द की ही मीमासा कीजिए। अभ्युदयफलप्राप्ति के साधनभूत श्व श्रेयसकर्म्म से उत्पन्न, अभ्युदयफलप्राप्ति के निमित्त वनने से अभ्युदय नाम से ही प्रसिद्ध, 'शुभसंस्कार' की उत्पत्ति रोक देने वाला कर्म्मविशेप ही 'दुष्कृत' कहलाया है। जौ में अङ्कुर उत्पन्न होने की शक्ति अवश्य थी, परन्तु उसे धूम से युक्त कर दिया। इस धूमसंसर्ग-कर्म्म से जौ की वह शक्ति सर्वथा मूर्च्छित हो गई। अव आप इसे कितना भी सींचिए, कुछ भी प्रयास कीजिए, जौ से अङ्कुर उत्पन्न न होगा। अप्सिञ्चनकर्म्म 'श्व श्रेयस्' कर्म्म है। इससे जौ मे अभ्युदयनिमित्तक अङ्कुरात्मक संस्कार उत्पन्न होना चाहिए था। परन्तु धूम-सम्बन्धरूप दुष्कृत कर्म्म ने जौ का वीजनाश कर दिया। फलत अव वहा श्व.श्रेयसरूप अप्-सिञ्चनकर्म्म को कोई सफलता नहीं मिल सकती। जलसिञ्चन से उत्पन्न होने वाले अङ्कुर को नष्ट कर देने वाला रुद्रवायुसचारादिरूप कर्म्म 'अघ' है, एवं वीजनाशद्वारा अङ्कुरोत्पत्ति रोक देने वाला धूमादिसंसर्गरूप कर्म्म 'दुष्कृत' है। रगरञ्जितवस्त्र के रंग को उडा कर वस्त्र को अतिशयशून्य वना देने वाला कर्म्म 'अघ' है, एव वस्त्र को रंगग्रहण के ही अयोग्य वना देने वाला तैललिम्पनादिकर्म्म दुष्कृत है। इस प्रकार अघ, तथा दुष्कृत का पार्थक्य भी भलीभाति सिद्ध हो जाता है।

इसी 'दुष्कृत' कर्म्म-संस्कार के प्रभाव से वडे वडे पुण्यकर्म्म, वड़े वडे पुण्यातिशय नष्ट होते देखे गए हैं। एक व्यक्ति ने पूर्वजन्म मे गो-ब्राह्मणादिवधरूप कोई महादुष्कृत कर्म्म कर लिया, फलत इसका वीर्य्य दग्ध हो गया। अव इस उत्तर जन्म मे आप इसे कितना ही समझाइए, इसका कैसा ही दिव्यसस्कार कीजिए, स्वप्न मे भी इसकी वर्णधर्म्मानुकूल सत्कर्म्मों की ओर प्रवृत्ति न होगी। यदि कोई अपने इसी जन्म मे दुष्कृतकर्म्म कर डालेगा, तो उसका वीर्य्य भी निश्चयेन दग्ध हो जायगा। इस दुष्कृत कर्म्मानुष्ठानानन्तर इस पर किसी भी शुभकर्म्म का सस्कार न होगा। निरन्तर उपदेश सुनने पर भी, तर्क-युक्ति-विज्ञानसिद्ध शास्त्रीय कर्म्मों का स्वरूप समझ लेने पर भी जिन महारथियों के अन्त करण से कुसंस्कार नहीं निकलते, विश्वास कीजिए, यह या तो उनके पूर्वजन्मकृत दुष्कृत का परिणाम है, अथवा ऐहिक दुष्कृत का कटुफल है।

प्रत्यवायफलप्राप्ति के साधनभूत, एनम् कर्म्म से उत्पन्न, प्रत्यवायफलप्राप्ति के निमित्त बनने से प्रत्यवाय नाम से ही प्रसिद्ध, 'अशुभसंस्कार' की उत्पत्ति रोक देने वाला कर्म्म विशेष ही 'सुकृत' कहलाया है। किसी व्यक्ति ने अशुभसंस्कारजनक एनस् कर्म्म कर डाला। इस अशुभकर्म्मानुष्ठान से प्रत्यवाय निमित्तक कुसंस्कार उत्पन्न होना चाहिए था, परन्तु उस व्यक्ति के द्वारा कोई ऐसा शुभकर्म्म या तो तत्काल हो पड़ा, अथवा पहिले से ही कोई ऐसा प्रबल दिव्यसंस्कार प्रतिष्ठित है, जिसके प्रभूतवीर्य्य के सामने वह एनस्कर्म्म कुसंस्कार उत्पन्न न कर सका। बस ऐसे ही कर्म्मों को 'सुकृत' कहा जाता है।

एक व्यक्ति के अन्तरात्मा में दुष्कृत संस्कार भी सञ्चित हैं, एवं सुकृतसंस्कार भी सञ्चित हैं। दुष्कृत संस्कारवश क्रोध जागृत हो जाता है, किसी को मारने के लिए चल पड़ता है। इस दशा में यदि इसका सुकृतसंस्कार दुष्कृतसंस्कार की अपेक्षा बलवान् होता है, तो इसकी जागृति से दुष्कृतसंस्कार दब जाता है, तत्काल विचारों में परिवर्त्तन हो जाता है, क्रोध शान्त हो जाता है, कुविचार सुविचाररूप में परिणत हो जाते हैं। बड़े बड़े नास्तिक भी इसी सुकृतसंस्कार की कृपा से आस्तिक शिरोमणि बनते देखे गए हैं। इसी प्रकार बड़े बड़े आस्तिक भी दुष्कृतोदय से नास्तिकवत्-आचरण करते हुए उपलब्ध हुए हैं।

जिस प्रकार अभ्युदय के निमित्तभूत शुभसंस्कार को भी 'अभ्युदय' कह दिया जाता है, एवमेव कल्याण के निमित्त भूत इस सुकृतकर्म्म को भी 'कल्याण' कह दिया जाता है। सुकृत कर्म्म की कृपा से होने वाली जो आत्मपरिपूर्णता है, उसे ही 'कल्याण' माना गया है। सुकृत पिता है, कल्याण पुत्र है! सुकृत वृक्ष है, कल्याण फल है। शुभफल का अनुगामी संस्कार ही आत्मा की प्रातिस्विक कला मानी गई है। इसी कला के प्रभाव से मनुष्य 'पुण्याह'[1] लक्षण ब्रह्मा के दिन में शब्द प्रकट करने में (जीवन सञ्चालन में) समर्थ होता है। जिस प्रकार अवयवरूप कलाओं से अवयवी शरीर का स्वरूप सुरक्षित रहता है, एवमेव अनेकविध शुभफलानुगामिनी कलाओं के सहयोग से ही आत्मस्वरूप प्रतिष्ठित रहता है।

---

१ 'पुण्याह वाचन' कर्म्म में ब्राह्मणों की ओर से यजमान के लिये 'कल्याण' का ही उच्चारण होता है। इससे स्वस्तिभाव की ही कामना की जाती है। इसी स्वस्ति-कामना के सम्बन्ध से यह कर्म्म 'स्वस्तिवाचन' नाम से भी व्यवहृत हुआ है।

इस कलात्मक संस्कार का प्रवर्त्तक, रक्षक, अतिशय विशेष ही कल्याण नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

जिस प्रकार प्रत्यवाय के निमित्तभूत अशुभसंस्कार को भी 'प्रत्यवाय' कह दिया जाता है, एवमेव किल्विष के निमित्तभूत इस दुष्कृत कर्म्म को भी 'किल्विष' कह दिया जाता है। दुष्कृत पिता है, किल्विष पुत्र है। दुष्कृत वृक्ष है, किल्विष फल है। कलासमृद्धि से वञ्चित आत्मा की अशान्तिलक्षण अपरिपूर्णता ही किल्विष है। कल्याण जहां सुख-सम्पत्ति-स्वास्थ्य रूप है, वहाँ किल्विष दुःख-विपत्ति-रोगात्मक है।

निष्कर्ष यही निकला कि, जिस प्रकार बिगड़े हुए वस्त्र को स्वच्छ करना प्रायश्चित्त है, एवमेव वस्त्र को मलादि दोष से पहिले से ही बचाने वाला कर्म्म सुकृत है। इस सुकृतभाव से आत्मा का स्वस्ति—(कल्याण) भावपूर्वक गमन होता है। आत्मस्वरूप यथावत् सुरक्षित रहता है, आत्मा मलिन नहीं होने पाता। अतएव आत्मा के स्वस्तिभावपूर्वक गमन के साधक बनते हुए ये सुकृत कर्म्म **'शान्तिस्वस्त्ययन'** नाम से भी व्यवहृत हुए हैं। उत्पन्न रोग की चिकित्सा प्रायश्चित्त है, रोगोत्पत्ति का ही निरोध हो जाना स्वस्त्ययन, किंवा स्वास्थ्य है, एवं यही सुकृत है। शास्त्र नें बड़े आटोप के साथ इन कर्म्मों की भी विस्तार से मीमांसा कर डाली है। चूंकि इन स्वस्त्ययन कर्म्मों का हमारे दैनिक जीवन से घनिष्ठतम सम्बन्ध है, अतः आगे के प्रकरण में स्वतन्त्ररूप से इनका दिग्दर्शन कराया जायगा। प्रकृत में केवल यही वक्तव्य है कि, पुण्याहस्वरूपसमर्पक स्वस्तिभावप्रवर्त्तक कर्म्म ही 'सुकृत' नाम से प्रसिद्ध है।

समष्टि का सिंहावलोकन—

इस प्रकार—'श्वःश्रेयस[१]-एनस्[२], -अभ्युदय[१]-प्रत्यवाय[२], —अघ[२]-प्रायश्चित्त[१], —सुकृत[१]-दुष्कृत[२], —कल्याण[१]-किल्विष[२]' भेद से पुण्य-पापकर्म्मों के पाच युग्म हो जाते हैं। इन पांचों में श्वःश्रेयस, अभ्युदय, प्रायश्चित्त, सुकृत, कल्याण, ये पांच तो पुण्यात्मक बनते हुए श्रेष्ठ अतएव उपादेय हैं। एवं एनस्, प्रत्यवाय, अघ, दुष्कृत, किल्विष, ये पांचों पापात्मक बनते हुए निकृष्ट, अतएव सर्वथा हेय हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट हो रहा है।

पुण्यपापकर्म्मपरिलेखः—

१
१—स्वःश्रेयसम्—शास्त्रसिद्ध-अभ्युदयप्रवर्त्तकशुभसंस्कारजनकं सत्कर्म्म (पुण्यम्)
२—एनः —शास्त्रविरुद्ध-प्रत्यवायप्रवर्त्तकाशुभसंस्कारजनकं-असत्कर्म्म (पापम्)

२
१—अभ्युदयः —स्वःश्रेयसकर्म्मजनितशुभसंस्कारात्माकं, अभ्युदयप्रवर्त्तकत्वादभ्युदय-नामकं कर्म्म (पुण्यम्)
२—प्रत्यवायः —एनःकर्म्मजनिताशुभसंस्कारात्मकं, प्रत्यवाय प्रवर्त्तकत्वात् प्रत्यवायनामकं कर्म्म (पापम्)

३
१—प्रायश्चित्तम् प्रत्यवायनिमित्तकाशुभसंस्कारप्रतिवन्धकं कर्म्म (पुण्यम्)।
२—अवम् —अभ्युदयनिमित्तकशुभसंस्कारप्रतिवन्धकं कर्म्म (पापम्)।

४
१—सुकृतम् —प्रत्यवायनिमित्तकाशुभसंस्कारविघातकं कर्म्म (पुण्यम्)।
२—दुष्कृतम् —अभ्युदयनिमित्तकशुभसंस्कारविघातकं कर्म्म (पापम्)।

५
१—कल्याणम्—सुकृतजनितं लोकवैभवलक्षणं कर्म्म (पुण्यम्)।
२—किल्विषम्—दुष्कृतजनितं दारिद्र्यादिलक्षणं कर्म्म (पापम्)।

उदर्कनिवन्धनपट्कर्म्म—

पूर्वपरिलेखानुसार यद्यपि पुण्य-पाप कर्म्मों के प्रत्येक के पांच-पांच भेद हो जाते हैं, तथापि पारस्परिक समन्वय के कारण अन्ततोगत्वा पांच युग्मों के तीन ही युग्म रह जाते हैं। 'स्वःश्रेयस' नामक शास्त्रसिद्ध सत्कर्म्मों का तो स्वःश्रेयसकर्म्मजनित-अभ्युदयप्रवर्त्तक, अतएव अभ्युदयनाम से ही प्रसिद्ध शुभोदर्कलक्षण शुभ-संस्कारात्मक कर्म्म में अन्तर्भाव मान लिया जाता है। एवं 'एनस्' नामक शास्त्रविरुद्ध असत् कर्म्मों का एनः कर्म्मजनित-प्रत्यवायप्रवर्त्तक, अतएव प्रत्यवाय नाम से ही प्रसिद्ध-अशु-भोदर्कलक्षण-अशुभसंस्कारात्मक कर्म्म में अन्तर्भाव मान लिया जाता है। इस अन्तर्भाव का रहस्य यही है कि, शुभकर्म्म, तथा शुभसंस्कार, दोनों को श्रेयोभावप्रवृत्ति के कारण 'स्वःश्रेयस' कहा जा सकता है, एवं अशुभकर्म्म, तथा अशुभसंस्कार दोनों को एनोभावप्रवृत्ति के कारण 'एनस्' माना जा सकता है। संस्कारात्मक कर्म्मों को अभ्युदय-प्रत्यवाय शब्दों से 'ताच्छब्द्य' न्याय के आधार पर व्यवहृत किया गया है। वस्तुतः अभ्युदय तथा

प्रत्यवाय नाम के कोई कर्म्म नहीं है। ये तो शुभ-अशुभ संस्कारों के फल है। फलोत्पादकत्वेन ही संस्कारकर्म्म उक्त नामों के पात्र बन गए हैं। जब कि अभ्युदय-प्रत्यवाय शब्द संस्कारफल के वाचक हैं, तो अवश्य ही इन संस्कारों का भी कोई और नाम होना चाहिए। और नाम क्या हो ? इसके उत्तर मे श्वःश्रेयस-एनस् शब्द ही (सजातीयत्वेन) हमारे सामने उपस्थित होते है। कर्म्म, तथा कर्म्मजनित संस्कार दोनों की अभिन्नता ही इस समन्वय का मूल कारण है।

इसी प्रकार कल्याण, तथा किल्विष, इन दोनों का क्रमशः सुकृत-दुष्कृत कर्म्मों मे अन्तर्भाव हैं। सुकृत का फल कल्याण है, दुष्कृत का फल किल्विष है। दोनों युग्म समसम्बन्धी है। अतएव एक का दूसरे मे अन्तर्भाव मान लेना न्याय-सङ्गत बन जाता है। इस प्रकार पाच पाप-पुण्य युग्मों के अन्ततोगत्वा तीन ही युग्म रह जाते हैं। एवं यही 'षट्कर्म्माणि' का दूसरा वर्गीकरण है।

पुण्यत्रयी 'उदयानुगामिनी' है, पापत्रयी पतनोन्मुखा है। तीनों पुण्यकर्म्म क्रमशः अभ्युदयमूलक शुभसस्कार प्रवर्त्तक, प्रत्यवायनिमित्तप्रतिबन्धक, प्रत्यवायनिमित्तविघातक बनते हुए, अन्ततोगत्वा आत्मा के 'अभ्युदय' के साधक बनते हुए 'अभ्युदयकर्म्म' हैं। एवं तीनों पापकर्म्म क्रमशः प्रत्यवायमूलक अशुभसंस्कारप्रवर्त्तक, अभ्युदयनिमित्तप्रतिबन्धक, अभ्युदयनिमित्तविघातक, बनते हुए, अन्ततोगत्वा आत्मा के प्रत्यवाय के साधक बनते हुए 'प्रत्यवाय' कर्म्म हैं। तीनों पुण्यकर्म्म 'सत्कर्म्म' बनते हुए उपादेय हैं, एवं तीनों पापकर्म्म असत्-कर्म्म बनते हुए हेय हैं, जैसा कि निम्न लिखित परिलेखों से स्पष्ट हो रहा है—

उदर्कनिबन्धनषट्कर्म्मपरिलेखः—

१	१—श्वःश्रेयसम्—अभ्युदयमूलकशुभसंस्कारप्रवर्त्तकं-	(१)-'सत्कर्म्म'	षट्कर्म्माणि । तेषु त्रीणि त्रीणि उपादेयानि, त्रीणि त्रीणि हेयानि । तदित्थं 'षट्कर्म्माणि त्रीणि त्रीणि उपादेय-हेयानि' ।
	२—एनः —प्रत्यवायमूलकाशुभसंस्कारप्रवर्त्तकं-	(१)-'असत्कर्म्म'	
२	१—प्रायश्चित्तम्—प्रत्यवायनिमित्तप्रतिबन्धकं—	(२)-'सुकर्म्म'	
	२—अघम् —अभ्युदयनिमित्तप्रतिबन्धकं—	(२ –'विकर्म्म'	
३	१—सुकृतम् —प्रत्यवायनिमित्तविघातकं—	(३)-'कर्म्म'	
	२—दुष्कृतम् —अभ्युदयनिमित्तविघातकं—	(३)-'अकर्म्म'	

षट्कर्म्मविवर्त्तपरिलेखः—

संख्यानम्		कर्म्मनामानि	कर्म्मवृत्तयः	कर्म्मजातयः	कर्म्मातिशयाः
१	१	स्वःश्रेयसम्	अभ्युदयमूलकशुभसंस्कारजनकम्	शास्त्रविहितं–'सत्कर्म्म'	उपादेयः–पुण्यातिशयः
	२	एनः	प्रत्यवायमूलकाशुभसंस्कारजनकम्	शास्त्रप्रतिषिद्धं–'असत्कर्म्म'	हेयः–पापातिशयः
२	१	प्रायश्चित्तम्	प्रत्यवायनिमित्तप्रतिबन्धकम्	शास्त्रविहितं–'सुकर्म्म'	उपादेयः–पुण्यातिशयः
	२	अघम्	अभ्युदयनिमित्तप्रतिबन्धकम्	शास्त्राविहितं–'विकर्म्म'	हेयः–पापातिशयः
३	१	सुकृतम्	प्रत्यवायनिमित्तविघातकम्	शास्त्रविहितं–'कर्म्म'	उपादेयः–पुण्यातिशयः
	२	दुष्कृतम्	अभ्युदयनिमित्तविघातकम्	शास्त्राविहितं–'अकर्म्म'	हेयः–पापातिशयः

गीतादृष्टि और कर्म्मषट्क—

ज्ञानसहकृत कर्म्म ही गीतोक्त 'कर्म्मयोग' का रहस्य है, जैसा कि आगे आने वाले 'बुद्धियोगपरीक्षा' प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। गीता की दृष्टि से बिना ज्ञान को आधार बनाए कर्म्म की स्वरूप निष्पत्ति ही सम्भव नहीं है। कर्म्मप्रवर्त्तक ज्ञान चूंकि 'सत्-ज्ञान, विज्ञान, अज्ञान' भेद से तीन ही भागों में विभक्त है, अतएव तन्मूलक कर्म्म भी 'सत्कर्म्म, विकर्म्म, अकर्म्म' भेद से तीन ही भागों में विभक्त हो जाता है। जो जैसा है, उसे वैसा ही समझना 'सत्ज्ञान' है। इस सत्ज्ञान को आधार बना कर प्रवृत्त होने वाले कर्म्म 'सत्कर्म्म, हैं। जो जैसा है, उसे विपरीत समझना 'विज्ञान' (विरुद्धज्ञान) है, तत्सहकृत कर्म्म विकर्म्म, है। कुछ न समझना 'अज्ञान' है, तन्मूलक कर्म्म 'अकर्म्म' है। ज्ञान, कर्म्म, के इन ६ विवर्त्तों में सत्ज्ञान, सत्कर्म्म, ये दो दैवी सम्पत्तियां हैं, एवं विज्ञान, अज्ञान, विकर्म्म, अकर्म्म, ये चार आसुरी सम्पत्तियां हैं। चूंकि विश्व में दैवीसम्पत्तियां[१] कम, तथा आसुरी सम्पत्तियां अधिक हैं,

---

१ वैदिक 'देवताविज्ञान' के अनुसार भी देवता जहां सख्या में ३३ हैं, वहां असुर संख्या में ९९ हैं — "जघान नवतीर्नव" (ऋक् सं०)। ज्ञानप्रधान देवता प्रजापति की कनिष्ठ सन्तान हैं, बलप्रधान असुर ज्येष्ठ सन्तान है।

अतएव मनुष्य समाज अधिकांश मे दुखी ही बना रहता है। इस दुःख से त्राण पाने का एक मात्र उपाय सत-ज्ञानयुक्त सत्कर्म्मलक्षण बुद्धियोगानुष्ठान ही है।

शास्त्रसिद्ध कर्म्मों का मूल इन महर्षियों के सत-ज्ञान से व्यवस्थित होता हुआ 'सत्कर्म्म' है। सुरापान, ब्रह्महत्या, अगम्यागमनादि शास्त्रविरुद्धकर्म्म विज्ञान मूलक बनते हुए 'विकर्म्म' हैं। एवं ऐसे कर्म्म, जिनका न तो शास्त्र में विधान ही है, न शास्त्र जिनका निषेध ही करता है, वे सब कर्म्म अज्ञानमूलक बनते हुए 'अकर्म्म' हैं। अकर्म्मों से न पाप होता, न पुण्य। विकर्म्मों से प्रत्यवाय होता है, पाप लगता है। एवं सत्कर्म्म अभ्युदयजनक हैं, पुण्योदर्क हैं।

तृणच्छेद, वृथाहास्य, वृथाभ्रमण, बिना प्रयोजन बैठे बैठे पैर हिलाना, सीटी बजाना, चुटकी बजाना, भूमिताड़न करते हुए चलना, ये सब निरर्थक कर्म्म है। ये निरर्थक कर्म्म ही अकर्म्म है, जो कि पुण्यकर्म्मों (सत्कर्म्मों) के निमित्तभूत शुभोदर्कों (शुभसंस्कारों) के आवरक बनते हुए 'अविद्यामूलक' नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं तीनों कर्म्मों का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान ने कहा है—

कर्म्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्म्मणः।
अकर्म्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्म्मणो गतिः॥

अभ्युदयजनक, एवं प्रत्यवायविनाशक कर्म्म 'सत्कर्म्म' हैं। प्रत्यवाय जनक, एवं अभ्युदय विनाशक कर्म्म 'विकर्म्म' हैं। अभ्युदयनिमित्तप्रतिबन्धक कर्म्म 'अकर्म्म' हैं। इन्हीं तीन कर्म्मों के आगे जाकर ६ विभाग हो जाते है, जैसा कि पूर्वपरिच्छेदों मे स्पष्ट किया जा चुका है। यहां एक दूसरी ही दृष्टि से इन ६ ओं का वर्गीकरण कीजिए। सत्कर्म्म ३ है, विकर्म्म २ हैं, अकर्म्म १ है, सम्भूय ६ कर्म्म हो जाते हैं। अभ्युदयजनक श्वःश्रेयस कर्म्म 'सत्कर्म्म' हैं। 'सत्' शब्द सत्ताभाव का सूचक है। प्रतिष्ठातत्त्व ही सत्ता है। श्वःश्रेयस कर्म्मों से आत्मा के सल्लक्षण सत्ताभाव का विकास होता है, अतएव इन्हें हम 'सत्कर्म्म' (सत्तानुबन्धी कर्म्म) कह सकते हैं। प्रत्यवायविघातक प्रायश्चित्त कर्म्म 'सुकर्म्म' हैं। अघ से आत्मशान्ति का उच्छेद हो जाता है। प्रायश्चित्त से आत्मा पुनः शान्त हो जाता है। शान्ति ही सुख है। अतएव प्रायश्चित कर्म्म को 'सुकर्म्म' (शान्तिप्रद कर्म्म) कहना अन्वर्थ बनता है। प्रत्यवायनिमित्तप्रतिबन्धक स्वस्त्ययनकर्म्म (सुकृतकर्म्म) 'कर्म्म' है, इन से न उन्नति होती न पतन, स्वरूपस्थितिमात्र रहती है। अतएव इन्हे केवल 'कर्म'

शब्द से ही व्यवहृत करना न्यायसङ्गत समझा गया है। इस प्रकार सत्ताभाव, शान्तिभाव, स्वरूपस्थिति, इन तीन धर्म्मों की अपेक्षा से सत्कर्म्मों के सत्कर्म्म, सुकर्म्म, कर्म्म, ये तीन विभाग हो जाते हैं।

प्रत्यवायजनक 'एन' कर्म्मों से आत्मा अपनी स्वाभाविक गति से विरुद्ध गमन करता है। एवमेव अभ्युदयविघातक 'अघ' कर्म्म भी आत्मविरुद्धगमन के ही निमित्त बनते हैं। अत इन दोनों को हम 'विकर्म्म' ही कहेंगे। अभ्युदयनिमित्तप्रतिबन्धक कर्म्म निरर्थक कर्म्म हैं, अत इन्हें 'अकर्म्म' (कर्म्म सम्पत्ति से वञ्चित कर्म्म) ही कहा जायगा। 'सत्कर्म्म, सुकर्म्म, कर्म्म' तीनों 'रमणीयकर्म्म' नाम से प्रसिद्ध हैं। दुष्कर्म्म-विकर्म्म-अकर्म्म' तीनो कर्म्म 'कपूयकर्म्म' नाम से प्रसिद्ध हैं। सत्कर्म्मत्रयी सकामप्रवृत्ति से स्वर्ग का कारण बनती है, निष्कामप्रवृत्ति से मुक्ति की प्रवर्त्तिका बन जाती है। एवं दूसरी त्रयी प्रत्येक दशा में—"नरकायैव"। उदर्कनिबन्धनषट्कर्म्मों की यही सक्षिप्त मीमांसा है।

इति—उदर्कनिबन्धनषट्कर्म्माणि

* *

*

३—हमारे 'स्वस्त्ययन' कर्म्म

पूर्व प्रकरण में पाप-पुण्य की मीमांसा करते हुए 'स्वस्त्ययनकर्म्म' का भी दिग्दर्शन कराया गया है। अन्यान्य शास्त्रीय कर्म्मों की तरह इन स्वस्त्ययन कर्म्मों का भी हमने परित्याग कर दिया है, जो कि स्वस्त्ययन कर्म्म हमारे अभ्युदय के अन्यतम कारण बने हुए हैं। मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है? हमें क्या करना चाहिए? कैसे हमें शान्ति सुख मिले? इत्यादि प्रश्नों का समाधान अधिकांश में इन स्वस्त्ययन कर्म्मों से ही सम्बन्ध रखता है। मान लीजिए, अयोग्यता से देश-काल दोष से हम अन्यान्य शास्त्रीय कर्म्मों का अनुगमन नहीं कर सकते। न तो वर्त्तमान परिस्थिति में हमें इतना समय ही मिलता, जिससे हम शास्त्रीय यज्ञादि कर्म्मों का यथावत् अनुष्ठान कर लें, न इन के अनुष्ठान की योग्यता ही, ऐसी दशा में हमारे कल्याण का क्या उपाय? प्रस्तुत प्रकरण इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है।

स्वस्त्ययनशब्दनिर्वचन—

हमें अपनी अहोरात्रचर्य्याओं में कुछ एक ऐसे विशेष नियमों का अनुगमन करना चाहिए, जिनसे हमारी शारीरिक, मानसिक, तथा बौद्ध परिस्थितियां शान्ति-स्वस्तिभाव में परिणत रहें। उन नियम विशेषों को ही शास्त्रकारों ने 'स्वस्त्ययन' नाम से व्यवहृत किया है। हम अपने मन से अपने आत्मभाव से गिरने न पावें, मनुष्यता से वञ्चित न हो जायँ, इन उद्देश्यों को सिद्ध करते हुए जो कर्म्म हमें स्वस्तिभावपूर्वक उत्तरोत्तर आगे बढ़ाते रहते हैं, दूसरे शब्दों में जिन कर्म्मों के अनुगमन से हमारा स्वस्ति-शान्तिपूर्वक अयन (गमन) होता रहता है, वे ही 'स्वस्त्ययन' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। सूर्य्यकिरण के भूस्पर्शकाल से आरम्भ कर दूसरे दिन के उदयकाल पर्य्यन्त अहोरात्र के २४ घण्टों में हमे किस ढङ्ग से अपनी चर्य्या रखनी चाहिए, कैसे क्या भोजन-शयन-अर्थोपार्ज्जनादि करनें चाहिएँ? किसके साथ, कब, कैसा वर्त्ताव करना चाहिए? आगे के परिच्छेद क्रमशः इन्हीं प्रश्नों के समाधान के लिए पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहे हैं।

१—उत्थापन—

सब से पहिला नियम है, सूर्य्योदय से पहिले ब्राह्ममुहूर्त्त मे उठना। शारीरिक[1] स्वास्थ्य की दृष्टि से तो सूर्य्योदय से पहिले उठना उपकारक है ही, इसके अतिरिक्त जो प्रात.सवनीय देवता ब्राह्ममुहूर्त्त मे हमे दिव्य शक्तियाँ प्रदान करते है, उनका लाभ एक महाफल है। सविता, अश्विनी, ब्रह्मा आदि 'प्रातर्य्यावाणः' देवता अपनी प्रेरणा, चक्षुवल, ज्ञानवल बाँटते हुए त्रैलोक्य मे रश्मि प्रसार करते हैं। वुद्धियुक्त मन ही इन प्राकृतिक शक्तियों का ग्राहक (पात्र) है। यदि इस समय हम सोते रहते है, तो पात्र अधोमुख बने रहते है। फलतः इन दिव्य-दानविभूतियों से हम वञ्चित रह जाते हैं। अतएव दिव्यशक्ति के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति का यह आवश्यकतम कर्त्तव्य होना चाहिए कि, वह सूर्य्योदय से पहिले ब्राह्ममुहूर्त्त[2] मे शय्या का परित्याग कर दे। आगे जितने भी स्वस्त्ययन कर्म्म वतलाए जाने वाले है, उन सब की अपेक्षा हम इसे सर्वमूर्द्धन्य कर्म्म कहेगे। जो निद्राप्रेमी सज्जन शीघ्र नहीं उठने पाते, वे दिव्यशक्तियों से तो वञ्चित रहते ही है, स्वास्थ्य का वलिदान तो करते ही हैं, इसके अतिरिक्त उनके स्वार्थसाधक लौकिककर्म्म भी सदा अपूर्ण बने रहते हैं। क्योंकि पूर्णताप्रवर्त्तक, प्रेरणात्मक जो सवितावल मिलना चाहिए था, उस से ये भाग्यशाली वञ्चित रह जाते है। इसके अतिरिक्त स्वभाव मे चिडचिड़ापन, असनकर्म्मों में प्रवृत्ति, अकर्म्मण्यता, आलस्य, दीर्घसूत्रता, तन्द्रा, आदि अनेक अतिथि भी इन शयालुओं के अन्तर्जगत् की शोभा वढाते रहते हैं। सचमुच यह बड़े ही खेद का विषय है कि, आज हमने, विशेषतः हमारे सम्पन्न समाज के सम्पन्न नवयुवकों ने—'कलिः शयानो भवति' (तै० ब्राह्मण) को सवासोलह आना चरितार्थ करते हुए उक्त नियम की आत्यन्तिक रूप मे उपेक्षा करते हुए स्वास्थ्य, उत्साह, धैर्य्य, कर्म्मपरायणता, कान्ति, आदि के विसर्जन के साथ साथ आसुरभावों को अपना अथिति वना लिया है। हम साग्रह, सानुनय अपने वन्धुओं से निवेदन करेंगे कि, कम से कम वे इस नियम का अवश्यमेव पालन करें। यह एक ही नियम कालान्तर मे स्वतः एव इन की सुप्त दिव्य शक्तियों का उद्बोधन करने मे समर्थ हो जायगा।

दैनिक नित्य कर्म्म—

१—"ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्तिष्ठेत् स्वस्थो रक्षार्थमायुष." (अष्टाङ्गहृदय)

२—रात्रेश्च पश्चिमे यामे मुहूर्त्तो यस्तृतीयकः।
स 'ब्राह्म' इति विख्यातो विहितः सम्प्रबोधने॥ (निर्णयामृत)

२—इष्टदेवसंस्मरण—

पूर्वजन्मों के सुकृत से भगवान् ने हमें आज से ऐसी सद्बुद्धि प्रदान की, जिसकी प्रेरणा से हम ब्राह्म मुहूर्त्त मे उठने लगे। अब उसी मङ्गलमय भगवान् की प्रेरणा से हमें क्रम प्राप्त एक दूसरे 'स्वस्त्ययन' कर्म्म की ओर दृष्टि डालना चाहिए। समाज-लोक-राजनीतियों का परिज्ञान प्राप्त करना सामयिक है। और इस सामयिक ज्ञान की प्राप्ति के अन्यतम साधक मानें जा रहे हैं—'सामयिक समाचार पत्र'। इस व्यसन के परित्याग की चेष्टा करना तो व्यर्थ है। परन्तु इस सम्बन्ध में हमें अपने ऊपर दया कर यह संशोधन अवश्य कर लेना चाहिए कि, जिस पवित्र ब्राह्ममुहूर्त्त में उठ कर हमें आत्मशक्ति लाभ के लिए इष्टदेवसंस्मरण करना चाहिए, वह पवित्र समय इन पत्रों के अर्पण न किया जाय। अभी आपने हमनें शय्या नहीं छोड़ी है, निद्रा का परित्याग किया है। इसी समय सर्व प्रथम हमें उस इष्टदेव का स्मरण करना चाहिए, जिसके अनुग्रह से खण्डप्रलयोपलक्षित तमोबहुला रात्रि के वरुणपाश से निकल कर सृष्टिकालोपलक्षित ब्रह्म के पुण्याह काल में एक नवीन जीवनधारा को प्रवाहित करने हम प्रवृत्त हो रहे हैं। जिस के प्राकृतिक साम्राज्य में रहकर दिन भर हमें अपने कर्म्म का सञ्चालन करना है, जो हमारी इन्द्रियों, बुद्धि, मन, शरीर, आत्मा आदि आध्यात्मिक पर्वों को बल प्रदान कर रहा है, जिस बलके आधार पर हम 'अहमस्मि'—'ममेदं'—'मया कृतम्' 'करिष्यामि'—'क्रियते'-'ज्ञातं' 'ज्ञायते'-'जानामि'-'पश्यामि' 'गच्छामि' 'पठामि' अपने इन ज्ञान-कर्म्म कलापों के शुभोदर्कों के सत्पात्र बनते हैं, उस सर्वज्ञान-कर्म्म-अर्थघन जगदीश्वर का सर्वप्रथम इसलिए हमें स्मरण करना चाहिए कि, संस्मरणलक्षण उपासना से उस घनबल से हमें भी अंशात्मना बल की प्राप्ति होगी। सारा दिन सुख शान्तिपूर्वक व्यतीत होगा। चित्त प्रसन्न रहेगा। प्रसन्नचित्त बुद्धिप्रसाद का कारण बनेगा। प्रसन्नबुद्धि आत्मलक्षण पारलौकिक, तथा लोकलक्षण भौतिक सुख का कारण बनेगी। इसलिए—

१—प्रातः स्मरामि भवभीतिमहार्त्तिशान्त्यै-
नारायणं गरुड़वाहनमब्जनाभिम्।
ग्राहाभिभूतवरवारणमुक्तिहेतुं-
चक्रायुधं तरुणवारिजपत्रनेत्रम्॥

२—ब्रह्मा मुरारिस्त्रिपुरान्तकारी भानुः शशी भूमिसुतो बुधश्च ।
गुरुश्च शुक्रः शनिराहुकेतू कुर्वन्तु सर्व्वे मम सुप्रभातम् ॥
३—गुरुर्वसिष्ठः क्रतुरङ्गिराश्च मनुः पुलस्त्यः पुलहः सगौतमः ।
रैभ्यो मरीचिश्च्यवनश्च दक्षः कुर्वन्तु सर्व्वे मम सुप्रभातम् ॥
४—सनत्कुमारश्च सनन्दनश्च सनातनोऽप्यासुरिपिप्पलौच ।
सप्तस्वराः सप्तरसातलानि कुर्व्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥
५—सप्तार्णवाः सप्त कुलाचलाश्च सप्तर्षयो द्वीपवराश्च सप्त ।
भूरादिकृत्वा भुवनानि सप्त कुर्व्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥
६—पृथ्वी सगन्धा, सरसास्तथापः, स्पर्शी च वायु, र्ज्वलितं च तेजः ।
नभः सशब्दं महता सहैव कुर्व्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥
७—इत्थं प्रभाते परमं पवित्रं पठेत्, स्मरेद्वा शृणुयाच्च तस्य ।
दुःस्वप्ननाशस्त्विह सुप्रभातं भवेच्च नित्यं भगवत्-प्रसादात् ॥

ब्राह्ममुहूर्त्त में उठ कर जैसे इष्टदेवता का स्मरण आवश्यक है, एवमेव इष्टदेवता के स्मरण से पहिले शास्त्रकारों ने अनिष्ट का स्मरण भी आवश्यक माना है। हमें संसारयात्रा करते हुए मरण, व्याधि, शोक आदि लौकिक भयों का भी सामना करना है। जीवनयात्रा निर्व्वाह के लिए अर्थोपार्ज्जन भी करना है। साथ ही पारलौकिक शान्ति के लिए हमे धर्म्म-कर्म्म का भी यथाशक्ति अनुगमन करना है। इन सब ऐहिक, आमुष्मिक कर्त्तव्यकर्म्मों का, तथा उपस्थित होने वाले विघ्नों का प्रातःकाल ही समतुलन कर लेना चाहिए। यह निश्चय कर लेना चाहिए कि आज हमें अमुक अमुक कर्म्म करने हैं। तत्त्वतः दिनचर्य्या की सूची इसी समय बना लेनी चाहिए, जिस से कर्म्म में असुविधा न रहे। इसी चर्य्या-भाव का स्पष्टीकरण करते हुए व्यासदेव कहते हैं—

१—ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्थाय धर्म्ममर्थञ्च चिन्तयेत् ।
कायक्लेशे तदुद्भूते ध्यायीत मनसेश्वरम् ॥

—कूर्म्मपुराण ।

२—उत्थायोत्थाय बोद्धव्यं महद्भयमुपस्थितम् ।
मरण व्याधि शोकानां किमद्य निपतिष्यति ॥
३—ब्राह्मे मुहूर्त्ते स्वस्थे च मानसे मतिमान्नरः ।
विबुद्धश्चिन्तयेद्धर्म्ममर्थश्चास्याविरोधिनम् ॥
अपीड़या तयोः काममुभयोरपि चिन्तयेत् ॥
—विष्णुपुराण ।

इसके अतिरिक्त यदि हमें रात्रि में दुःस्वप्न आए हों, तो उनकी विशेप शान्ति के कुछ एक विशेपप्रयोग भी इसी समय कर लेने चाहिए। निम्न लिखित वचन इसी चिकित्साकर्म्म का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

१—महाभारतमाख्यानं, क्षितिं, गाश्च, सरस्वतीम् ।
ब्राह्मणान्, केशवञ्चैव, कीर्त्तयन्नावसीदति ॥
२—व्यासं, विभीपणं, भीमं, यमं, रामं, नलं, वलिम् ।
यश्चैतान् संस्मरेन्नित्यं दुःस्वप्नं तस्य नश्यति ॥
३—कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च ।
ऋतुपर्णस्य राजर्पेः कीर्त्तनं कलिनाशनम् ॥
४—अश्वत्थामा, वलि, व्यासो, हनूमांश्च, विभीपणः ।
कृपः, परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः ॥
सप्तैतान् संस्मरेन्नित्यं मार्कण्डेयमथाष्टमम् ॥
५—अहल्या, द्रौपदी, सीता, तारा, मन्दोदरी तथा ।
पञ्चैताः संस्मरेन्नित्यं महाहान्या न वाधते ॥

यथासम्भव उक्त स्तुतिमन्त्रों द्वारा, अथवा स्वाभिमत श्री दुर्गा राम कृष्ण हनूमान भैरव-आदि इष्टदेवता का स्मरण करना प्रत्येक आस्तिक का आवश्यकतम कर्त्तव्य हो जाता है।

अस्तिलक्षणा ईश्वरसत्ता का जिसने स्मरण न किया, वह कैसा आस्तिक? अपने इसी आस्तिकभाव की रक्षा के लिए शय्या छोड़ने से पहिले पहिले 'इष्टदेवतास्मरण' नामक दूसरे स्वस्त्ययन कर्म्म का अनुगमन आवश्यक है।

आस्तिक जगत् की मङ्गलमयी भावनाओं का स्मरण करके अन्तरात्मा फूला नहीं समाता। कैसी दिव्यभावना है। कैसी अलौकिक ईश्वरपरायणता है। और कैसे हैं हम मन्दभाग्य, जो इनका उपहास करने में ही अपने आपको धन्य, तथा कृतकृत्यमान रहे हैं। अस्तु, आगे बढ़िए। ईश्वरस्मरणानन्तर इस आस्तिक को शय्या छोड़नी है, और विष्णुपत्नी उस माता पृथिवी का आश्रय लेना (पृथिवी पर पैर रखना) है, जिसे कि इसने अपने क्रोड़ में स्थान दिया है। पिता (प्रजापति, ईश्वर, सौर सम्वत्सर) परोक्ष था, अतः उसका स्मरण परोक्षरूप से किया गया। अब माता का स्मरण भी आवश्यक है। इसलिए—

समुद्रवसने देवि! पर्व्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि! नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥

इस स्तुतिमन्त्र का उच्चारण करते हुए, यदि स्तुति मन्त्र विदित न हो, तो मानसिक प्रणत भावना रखते हुए भूमि पर पैर रखना चाहिए। निःसीमसमुद्र को जिस माता पृथिवी ने अपना वस्त्र बना रक्खा हो, उसकी महा-आशयता, उदारता, गाम्भीर्य्य में कौन सन्देह कर सकता है। अतुलित भारवाले पर्वतराज जिसके शरीर की शोभा बढ़ा रहे हों, उसकी सहन-शक्ति की कौन समता कर सकता है। सर्वजगत् पालक विष्णुदेवता पालनसाधन अन्न को जिस के गर्भ से उत्पन्न कर पालनकर्म्म में समर्थ बनते हैं, उस विष्णुपत्नी माता पृथिवी से अतिरिक्त हमारा और कौन पालक हो सकता है। अवश्य ही वह उदारमना हमारे पाद-स्पर्शजनित अपराध को क्षमा करेगी, हमें पर्वतवत् अपने क्रोड़ में स्थान देगी (हमारा भार उठावेगी), एवं हमारा पालन करेगी।

३—शौचकर्म—

इष्टदेवतास्मरणानन्तर 'शौचकर्म्म' (मूत्र-पुरीषोत्सर्गकर्म्म) का अनुगमन आवश्यक है। इस सम्बन्ध में कुछ एक विशेष नियमों का अनुगमन आवश्यक है। दिन में यथा-सम्भव उत्तर दिशा की ओर मुख करके, एवं रात्रि में दक्षिण दिशा की ओर मुख करके शौच-

कर्म्म करना चाहिए। जिसकी पूरी सुविधा ग्राम्यजीवन में ही प्राप्त हो सकती है। इस कर्म्म से आयु-स्वरूपसम्पादक सौर प्राण पर आघात होता है। दिन में उत्तरभाग इस सौर-प्राण व्याप्ति से पृथक् रहता है, एवं रात्रि में दक्षिणभाग पृथक् रहता है। इस लिए आयुःप्राण रक्षार्थ इस नियम का अनुगमन आवश्यक है[1]। दूसरा नियम है—'शिरोवेष्टन'। मस्तक को किसी नियत वस्त्र से ढक कर ही शौच जाना चाहिए। सीमन्तसंस्कारप्रकरण में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, केशान्तस्थान आयुरक्षक इन्द्रप्राण की आभासभूमि है। उधर मल-परित्याग में ब्रह्मग्रन्थिस्थ अपानप्राण के व्यापार की प्रधानता रहती है। एवं अपान वारुण-प्राण माना गया है, जो कि मृत्यु समकक्ष है। वरुण, और इन्द्र, दोनों प्राणों में अश्वमाहिष्य है। केशान्तस्थ इन्द्रप्राण को मलावस्थित, आयुविघातक इस वारुणप्राण के आक्रमण से बचाने के लिए ही शिरोवेष्टन आवश्यक माना गया है। यदि इस नियम का यथावत् पालन नहीं किया जाता, तो अर्द्धाङ्ग (लकवा, फालिज) रोग के आक्रमण की आशङ्का रहती है। चेतना के शिथिल होने का ही नाम अर्द्धाङ्ग है। एवं इन्द्र ही चेतनालक्षण, आयुःस्वरूपरक्षक दिव्यप्राण है। जब इस पर अपानप्राण का आक्रमण हो जाता है, तो अवश्यमेव यह शिथिल हो जाता है। यदि सौभाग्य से हम इस रोग से बचे भी रहे, तब भी उघाड़े मस्तक शौच जाने से दिव्यभावनाओं का उद्रेक तो अवश्यमेव अवरुद्ध हो जाता है। इस लिए इस नियम पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है[2]। तीसरा नियम है, 'मौनव्रत'। इन्द्रप्राण वाक्तत्त्व के अधिष्ठाता हैं, वाङ्मय है। शब्द द्वारा इनका इतस्ततः तत्काल सम्बन्ध हो जाता है। इस सम्बन्धनिरोध के लिए मौनव्रतावलम्बन भी आवश्यक नियम माना गया है। चौथा नियम है—'यज्ञोपवीत को दक्षिण कान पर चढ़ा के शौच जाना', जिस की उपपत्ति उपनयनसंस्कार प्रकरण में बतलाई जा चुकी है[3]।

उक्त नियमों के अनुगमन के साथ साथ खड़े खड़े मूत्र-पुरीषोत्सर्ग न करना, देवालयसमीप की भूमि, हरितघास की भूमि, चतुष्पथ (चौराहा), राजमार्ग,

---

१—उभे मूत्र-पुरीषे तु दिवा कुर्य्यादुदङ्मुखः।
राज्रौ कुर्य्याद्दक्षिणास्य एवं ह्यायुर्न हीयते॥ (वसिष्ठः ६।१०)

२—परिवेष्टितशिरा मूत्रपुरीषे कुर्य्यात्। (वसिष्ठः १२।१०)

३—पवित्रं दक्षिणे कर्णे कृत्वा विण्मूत्रमुत्सृजेत्। (हारीतः)

विदीर्ण भूमि, नदीतट, पर्वत, वृक्षच्छाया, सत्वयुक्त भूमिविल, पर्वतमस्तक, वल्मीकस्थान, भस्म, आदि स्थानों से बचते हुए ब्राह्मण सूर्य्य-जल-गौ को न देखते हुए, तीर्थतटों को छोड़ते हुए आदि, इत्यादि नियमविशेषों का भी यथासम्भव अनुगमन करना चाहिए। 'मलभाण्डं न चालयेत्' आदेश को लक्ष्य में रखते हुए शौचकर्म्म में कभी बल-प्रयोग नहीं करना चाहिए। बलप्रयोग से प्रतिष्ठात्मक, ब्रह्मग्रन्थिस्वरूपरक्षक, जीवनरक्षक गणपति-प्राण के उच्छेद की सम्भावना रहती है। इस प्राण के शिथिल होने से मल की स्थिरता उच्छिन्न हो जाती है। इसी को लोकभाषा में 'मलटूटना' कहा जाता है। मल-टूटने के अनन्तर जीवनरक्षा असम्भव हो जाती है। इस आपत्ति से बचने के लिए मल-विनिर्गम में सदा स्वाभाविक प्रेरणा का ही अनुगमन करना चाहिए। बलप्रयोग प्रत्येक दशा में हानिकर है।

४—दन्तधावन—

बड़े शान्तभाव से, व्यग्रता का एकान्ततः परित्याग करते हुए, यथानियम, नियत समय पर शौचकर्म्म करने के अनन्तर 'दन्तधावन' करना चाहिए। दन्तधावन कर्म्म की उपपत्ति व्रतादेशसंस्कारप्रकरण में बतलाई जा चुकी है। इस सम्बन्ध मे भी कुछ एक विशेष नियमों पर ध्यान रखना चाहिए। चतुर्दशी, अष्टमी, अमावास्या, पूर्णिमा, रविसंक्रान्ति, श्राद्धदिन,[१] जन्मदिन, विवाह, उपवास, आदि विशेष दिनों में, अजीर्ण, श्वास, कास, ज्वर, आदि रोगा-वस्थाओं मे दन्तधावन नहीं करना चाहिए। चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों मे ओषधियों को तोड़ना निषिद्ध है। अतएव इन पर्वतिथियों को निषिद्ध माना है[१]। इसी प्रकार रज-स्वला स्त्री को, सद्यः-प्रसूता को भी दन्तधावन नहीं करना चाहिए। रजस्वला स्त्री चौथे

१—१ चतुर्दश्यष्टमीदर्शपूर्णिमासंक्रमेषु च। नन्दासु च नवम्यां च दन्तकाष्ठं विवर्ज्जयेत् ॥
२ उत्पत्तौ च विपत्तौ च मैथुने दन्तधावने। अभ्यंगे ह्युदधिस्नाने तिथिस्तात्कालिकी स्मृता ॥
३ श्राद्धे यज्ञे च नियमे तथा प्रोषितभर्तृका। रजस्वला सूतिका च वर्ज्जयेद्दन्तधावनम् ॥
४ श्राद्धे जन्मदिने चैव विवाहेऽजीर्णदूषिते। व्रते चैवोपवासे च वर्ज्जयेद्दन्तधावनम्। (यमः)
५ नाद्यादजीर्णवमथुश्वासकासज्वरादिभिः। पुरोदयाद्रवेस्तद्यान्नोदितेऽस्तमिते रवौ ॥
—मरीचिः।

दिन, एवं सद्य प्रसूता स्त्री दसवें दिन दन्तधावन करेगी[१]। आसन, शयन, यान, पादुका, दन्तधावन, इतनी वस्तुओं में पलाश, तथा अश्वत्थ (पीपल), इन दोनों वृक्षों का परित्याग होना चाहिए[२]। पलाश, श्लेष्मातक, अरिष्ट, विभीतक, कोविदार, शमी, पीलु, पिप्पलीङ्गुद, गुग्गुलुज, कर्बुर, निर्गुणी, तिल्वक, तिन्दुकज, शिग्रू, पारिभद्रा, शाल्मली आदि काष्ठों से दन्तधावन नहीं करना चाहिए[३]। इन सब नियमों का यथाशक्ति अनुगमन करते हुए उत्तरमुख, अथवा प्राङ्मुख बैठकर परिमित दन्तधावन से मौनव्रती रहते हुए दन्तधावन कर्म्म करना चाहिए। कर्म्मारम्भ से पहिले निम्न लिखित मन्त्र स्मरण भी आवश्यक माना गया है—

आयुर्बलं यशो वर्च्चः प्रजाः पशुवसूनि च !
ब्रह्म प्रज्ञाञ्च मेधाञ्च त्वन्नो धेहि वनस्पते ! ॥

५—स्नान—

दन्तधावनानन्तर 'नित्यस्नान'[१] लक्षण स्नानकर्म्म हमारे सामने आता है। नित्य, नैमित्तिक काम्यादि ६ स्नान कर्म्मों में से प्रथम नित्यस्नानकर्म्म के सात विभाग माने गए

१—१ "रजस्वला चतुर्थेऽह्नि, सूतिका दशमेऽहनि"। —सङ्ग्रह।

२—१ आसने शयने याने पादुके दन्तधावने। पालाशाश्वत्थकौ वर्ज्यौ सर्व्वकुत्सितकर्म्मसु ॥
   २ अलाभे दन्तकाष्ठाना निषिद्धायां तिथौ तथा। अपा द्वादशगण्डूषैर्विदध्याद्दन्तधावनम् ॥
   —स्मृत्यर्थसार।

३—१ "अत्र न पालाशं दन्तधावनं स्यात्, न श्लेष्मातकारिष्टविभीतकधवधन्वनज, न कोविदारशमीपीलुपिप्पलीङ्गुदगुग्गुलुज, न कर्बुरनिगुण्ठीविल्वकतिष्टुकज, न शिग्रूपारिभद्राम्लिकामोचकाशाल्मलीशणजं, न मधुर, नाम्लं, नोर्ध्वशुष्कं, न सुषिरं, न पूतिगन्धि, न पिच्छिल, न दक्षिणापराशाभिमुखोऽद्यात्" —विष्णु।

४—"नित्यं, नैमित्तिकं, काम्य, क्रियाङ्ग, मलकर्षणम्। क्रियास्नानं तथा षष्ठं षोढा स्नानं प्रकीर्त्तितम् ॥" के अनुसार स्नान ६ तरह के माने गए हैं। इन में पहिला नित्यस्नान ही 'स्वस्त्ययन' कर्म्म माना जायगा। प्रतिदिन नियत समय पर होनेवाला दैनिक-मलविशोधक स्नान ही 'नित्यस्नान' है। चन्द्र-सूर्य-

हैं। वे सातों नित्यस्नान क्रमशः १-मन्त्रस्नान, २-भूमिस्नान, ३-अग्निस्नान, ४-वायुस्नान, ५-दिव्यस्नान, ६-जलस्नान, ७-मनःस्नान' इन नामों से प्रसिद्ध हैं। 'आपो हि ष्ठा मयो भुवः'-'अपवित्रः पवित्रो वा०' इत्यादि मन्त्रों का उच्चारण कर लेना 'मन्त्रस्नान' है। पवित्र स्थान की मिट्टी शरीर पर डाल देना 'भौमस्नान' है। पवित्र अङ्गार भस्म (यज्ञशाला की भस्म) लेप कर लेना 'आग्नेयस्नान' है। गो-रज का लेप कर लेना 'वायव्यस्नान' है। 'आतपवर्ष्या' नामक पानी में (धूप निकल रही हो, और उसमें पानी बरसता हो, वही पानी 'आतपवर्ष्या' नाम से प्रसिद्ध है) स्नान करना 'दिव्यस्नान' है। साक्षात् जल से स्नान करना 'वरुणस्नान है। एवं अपने अन्तर्जगत् में इष्टदेवता का स्मरण करते हुए स्नान की भावना कर लेना सातवां—'मानसस्नान' है। स्नान एक अत्यावश्यक धार्म्मिक कर्म्म है। केवल बाह्यमलविशोधन ही इसका मुख्य लक्ष्य नहीं है। अतएव इसे नित्यकर्म्म माना गया है। परन्तु रोगादि दशा मे जलस्नान असम्भव हो जाता है। ऐसी दशा में स्नान न करने से प्रत्यवाय अवश्यम्भावी है। इस दोप को रोकने के लिए ही अशक्त, रोगार्त्त द्विजातियों के लिए जलस्नानातिरिक्त मन्त्रस्नानादि इतर स्नानकर्म्मों का विधान हुआ है। स्नानकर्म्म के सम्बन्ध में निम्न निखित अवान्तर स्वस्त्ययन भावों का ध्यान रखना भी आवश्यक है—

१—नग्न होकर स्नान न करे, २—रात्रि में स्नान न करे, ३—अजीर्णावस्था में स्नान न करे, ४—तैलवत् जल का मर्दन न करे, ५—दूसरे की गीली धोती आदि पहिन कर स्नान

ग्रहण, जननमरणाशौचनिमित्तिक शुद्धिस्नान 'नैमित्तिकस्नान' है। गृध्र-कागला-माज्जार-खर-उष्ट्र-श्वान-शूकर-अन्यान्य अमेध्य पदार्थों (विष्ठा पङ्कादि) के स्पर्श से उत्पन्न होनेवाले अघ की निवृत्ति के लिए जो स्नान किया जाता है, वह भी नैमित्तिक ही माना गया है। पुष्यार्क, जन्मनक्षत्र, व्यतीपात, अमावास्या, तीर्थस्नान आदि 'काम्यस्नान' हैं। श्राद्ध, यज्ञ, उपवीत, सीमन्तादि धार्म्मिक सस्कारों के आरम्भ में किया जाने वाला स्नान 'क्रियास्नान' है। प्रतिसप्ताह, प्रतिपक्ष, अथवा प्रतिमास शरीर के मलों को आत्यन्तिकरूप से दूर करने के लिए तैलाभ्यग पूर्वक स्नान किया जाता है, वह 'मलापकर्पक' स्नान है। श्राद्ध-यज्ञादि पित्र्य-दैवकर्म्म की समाप्ति पर जो स्नान किया जाता है, जो कि यज्ञपरिभाषा मे 'अवभृथस्नान' नाम से प्रसिद्ध है, वही छठा 'क्रियास्नान' है।

न करे, ६—सूची (सुई) से सिला हुआ वस्त्र पहिन कर स्नान न करे, ७—फटा, मैला वस्त्र पहिन कर स्नान न करे, ८—वर्षाऋतु मे (गंगादि पवित्र नदियों को छोड कर अन्य) नदियों मे स्नान न करे, ९—यथासम्भव नदी मे स्नान करे, १०—नदी न हो तो समीप के किसी तालाव मे स्नान करे, ११—तालाव न हो तो कूप पर स्नान करे, १२—इनमें से कोई भी साधन उपलब्ध न हो, तभी घर मे भाण्ड स्नान करे. १३—धोबी घाट के समीप स्नान न करे. १४—यथासम्भव शीतल जल से ही स्नान करे. १५—जनन मरणाशौच में, सक्रान्ति मे, जन्मदिन मे, अन्त्यजाति स्पर्श करने मे उष्णजल से स्नान न कर शीतल जल से ही स्नान करे, १६—एक वस्त्र (धोती) पहिन कर ही स्नान करे, १७-१८—भोजन करके स्नान न करे, १९—जिस नदी, तालाव की गहराई की पता न हो, उस में स्नान न करे, २०—मकर-मत्स्य-तिमिङ्गिल-तिमिङ्गिलगिलादि से युक्त नद-नदी सरोवरों मे स्नान न करे, २१—(विहितस्नानातिरिक्त) समुद्रजल मे स्नान न करे, २२—मैथुनान्त में तत्क्षण ही स्नान न करे, २३—दूसरों के प्रातिस्विक (निजी) पुष्करिणी आदि जलाशयों में स्नान न करे, २४—स्नान करने के अनन्तर केश, शिखा आदि को हाथो से न फटकारे, २५—स्नान करने के अनन्तर शरीर पर लगे हुए जलकणों को हाथों से न हटावे। २६—खडा खडा स्नान न करे, २७—ऊकडू बैठ कर स्नान न करें, २८—दक्षिण, अथवा पश्चिम मुख बैठ कर स्नान न करे, २९—उत्तर, अथवा पूर्वाभिमुख होकर स्नान करे, ३०—शिखा खुली रख कर स्नान न करे। ३१—स्नानारम्भ मे यथाशक्ति—'उरुं हि राजा वरुणश्चकार०' इत्यादि स्नानीय मन्त्रों का स्मरण करे।

६—*वस्त्रधारण*—

स्नानानन्तर 'वस्त्रधारणकर्म्म' अपेक्षित है। ब्राह्मण को यथासम्भव श्वेतवस्त्र, क्षत्रिय को रक्तवस्त्र, वैश्य को पीतवस्त्र, तथा शूद्र को नीलवस्त्र पहिनना चाहिए। क्योकि ये चारो रग क्रमश सत्त्व, सत्त्वरज, रजस्तम, तमोगुणों के सूचक बनते हुए ब्रह्म-क्षत्र-विट्-शूद्रभावों के रक्षक बनते हैं। द्विजाति को नीलवस्त्र कभी न पहिनना चाहिए। हा—'कम्बले पट्ट-सूत्रे तु नीलदोषो न विद्यते' इस स्कान्दवचन के अनुसार कम्बलादि मे नीलदोष उपेक्षणीय माना गया है। वस्त्रों के सम्बन्ध मे भी निम्न लिखित स्वस्त्ययन भावों का अनुगमन आवश्यक है—

१—विना धुला हुआ वस्त्र स्नानानन्तर न पहिने, २—गीला वस्त्र न पहिने, ३—ओछा-वस्त्र न पहिने, ४—मलिनवस्त्र न पहिने, ५—फटे वस्त्र न पहिने, ६—नील लगा हुआ वस्त्र न पहिने, ७—दूसरे का पहिना हुआ वस्त्र न पहिने, ८—शनिवार-मङ्गलवार-तथा शुक्रवार को नवीन वस्त्र न पहिने, ९—रविवार, सोमवार, बुधवार, बृहस्पतिवारों को नवीन वस्त्र पहिने [१]। १०—उद्दण्डता सूचित करने वाली वेषभूषा न रक्खे, ११—अवस्था के अनुकूल, कर्म्मपरिचायक, प्रतिष्ठानुगामी, वंशपरम्परानुगत, सम्पत्ति के अनुरूप, देशाचार सम्मत, शिष्टपुरुष सम्मत वेशभूषा धारण करे, १२—(वारुणदोष से बचने के लिए) सर्वथा तंग वस्त्र न पहिने, १३—(शैथिल्य दोष से बचने के लिए) एकदम ढीले वस्त्र न पहिने। १४—सदा सुवासा बना रहे, क्योंकि सुन्दरवेषभूषा स्वास्थ्य, आत्मतुष्टि के साथ साथ लोकसम्पत्ति की भी वृद्धि करती है, समाज में प्रतिष्ठा भी होती है।

७—*सन्ध्यादिनित्यकर्म*—

(१)—धौतादि आवश्यक वस्त्र पहिनने के अनन्तर सन्ध्या, तर्पण, बलिवैश्वदेव, पञ्च-महायज्ञादि (नित्यकर्म्म लक्षण) स्वस्त्ययन कर्म्मों का अवसर आता है। सन्ध्यादि क्यों करनी चाहिये ? इस प्रश्न का समाधान यहां सम्भव नहीं है। प्रकृत में इस सम्बन्ध में केवल यही कहा जा सकता है कि, जो गायत्रीतत्त्व द्विजाति के वीर्य्य की मूलप्रतिष्ठा है, जिसका सविता देवता द्वारा सन्ध्याकालोपक्षित पृथिवी-द्युलोक के विवहन काल में अतिशय मात्रा से भूतलपर आगमन होता है, उसे आत्मसात् करने की मन्त्रयुक्ता जो एक विशेष वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जो कि वैज्ञानिक प्रक्रिया गोपथादि ब्राह्मणों में 'मौद्गल्यविद्या' नाम से प्रसिद्ध है, सन्ध्याकर्म्म है। यद्यपि नित्यकर्म्म होने से इसे पोषक नहीं माना जा सकता, फिर भी

---

१ मार्तण्डे च धनं, यशः शशधरे, क्लेशः सदा भूमिजे,
वस्त्रं लाभकरं बुधे, सुरगुरौ विद्यागमः सम्पदः।
नानायोगरतिः प्रमोदवनिता शस्यादिलाभो भृगौ,
दैन्यं शाश्वतरोगवांश्च मनुजो धृत्वाम्बरं सूर्य्यजे॥ (श्रीपतिः)
रोहिणीषु करपञ्चकेऽश्विभे त्र्युत्तरेऽपि च पुनर्व्वसुद्वये।
रेवतीषु वसुदैवते च मे नव्यवस्त्रपरिधानमिष्यते॥

अतिशयरूप से उपकारक होने से मन्वादिधर्म्माचार्य्यों ने इसे काम्यकर्म्मों की भांति पोषक भी मान लिया है, जैसा कि निम्न लिखित मनुवचनों से स्पष्ट है—

> १—उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः ।
> पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् स्वकाले चापरां चिरम् ॥
> २—ऋषयो दीर्घसंध्यात्त्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः ।
> प्रज्ञां यशश्च कीर्त्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥
>
> —मनु' ४।९३-९४

८—भोजनकर्म्म—

(१) नित्यकर्म्मों के अनन्तर उस आवश्यकतम नित्यकर्म्म का अवसर आता है, जिस का अनुगमन सभी करते हैं, और वह कर्म्म है—'भोजनकर्म्म' । प्रजापति ने देवता, पितर, असुर, पशु, मनुष्य, नाम की अपनी पांच प्रजाओं के लिए भोजनसम्बन्धी व्यवस्थाएँ व्यवस्थित करते हुए मनुष्यों को यह आदेश दिया है कि, 'तुम अहोरात्र में सायं प्रातः, दो बार ही भोजन किया करो' (देखिए, शतपथ ब्रा० ११५।३।) । इस श्रौत आदेश के अनुसार हमारा यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि,—'हिताशी स्यात्, मिताशी स्यात्' इस नियम को लक्ष्य में रखते हुए धातु, तथा प्रकृति (वर्ण) के अनुकूल सायं प्रात. नियत समय पर दो बार ही भोजन करें। पशुओं की तरह, तथा असुरों की तरह दिन रात, इतस्ततः, खाद्याखाद्य पदार्थों का चर्वण-पेषण न करते रहें। भोजन ही हमारे स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरों की प्रतिष्ठा बनता है, जैसा कि 'धर्म्मशास्त्रनिबन्धनषट्कर्म्म' प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। इस लिए भोज्यपदार्थों में, भोजनपद्धति में हमें पूरी सावधानी रखनी चाहिए। अब क्रमप्राप्त भोजनकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली स्वस्त्ययनकर्म्म तालिका पर भी दृष्टि डाल लीजिए—

१—म्लेच्छ, पतित, अन्त्यज, कृपण, वैद्य, गणिका, गण, रोगी, नास्तिक, दुराचारी, हीनाङ्ग, अधिकाङ्ग, जुआरी, शिकारी, षण्ढ, कुलटा, स्त्रीवशवर्त्ती, प्राड्विवाक (वकील), राजकर्म्मचारी, वधिक, आदि से न तो किसी प्रकार का परिग्रह ले, न इन का अन्न खाय। २—मस्तक ढक कर भोजन न करे, ३—दक्षिण की ओर मुख कर के भोजन न करे, ४—जूता पहिने

भोजन न करे, ५—चाण्डाल, शूकर, श्वान, मुर्गा, रजस्वला, नपुंसक, इन की दृष्टि के सामने भोजन न करे, ६—आधीरात बीतने पर भोजन न करे, ७—ठीक दोपहर में भोजन न करे, ८—प्रातः सायं सन्ध्या वेला में भोजन न करे, ९—गीले वस्त्र पहिन कर भोजन न करे, १०—जल में वैठ कर भोजन न करे, ११—उकडू वैठ कर भोजन न करे, १२—पैर पर पैर रख कर भोजन न करे, १३—हथेली टेक कर भोजन न करे, १४—भोजन करते समय आत्मीय वन्धुओं से (स्त्री, पुत्र, भ्राता, कन्या, माता, पिता आदि से) झगड़ा न करे, १५—पांव फैला कर भोजन न करे, १६—गोद में भोजनपात्र रख कर भोजन न करे, १७—स्त्री, तथा पुत्रों के साथ एक थाली में भोजन न करे, १८—भोजन करते समय हाहा-हीही लक्षण अट्टाट्टहास न करे, १९—धोती को ऊर्ध्वाङ्ग में लपेट कर भोजन न करे, २०—भोजन करते समय मस्तक न खुजलावे, २१—अन्न की स्तुति कर के भोजन आरम्भ करे, २२—जो भोजन सामग्री सामने आजाय, उसे देख कर मुंह न. विगाड़े, २३—क्रोधवश भोजनस्थाली को वीच में हीं छोड़ कर उठ न खड़ा हो, २४—समय पर रूखा सूखा जैसा भोजन सामने आजाय, उसे ही साक्षात् 'अन्नब्रह्म' मानते हुए उद्वेगरहित होकर ग्रहण करे, २५—खड़े खड़े भोजन न करे, २६—चलते चलते भोजन न करे, २७—विना आसन के भोजन न करे, २८—फटे आसन पर भोजन न करे. २९—कार्पास के आसन पर भोजन न करे, ३०—अनेक मनुष्यों की दृष्टि पड़ते हुए भोजन न करे, ३१—एक व्यक्ति के देखते हुए अनेक व्यक्ति भोजन न करे, ३२—जमीन पर रख कर भोजन न करे, ३३—हाथ में रख कर भोजन न करे, ३४—देवता को निवेदन किए विना भोजन न करे, ३५—परिवार के कनिष्ठ व्यक्तियों, तथा वच्चों के भोजन करने से पहिले भोजन न करे, ३६—यथासम्भव अतिथि को भोजन कराके भोजन करे, ३७—सोता सोता भोजन न करे, ३८—आधीरात वीत जाने पर भोजन न करे, ३९—यदि पड़ोस में किसी गौ-ब्राह्मण पर कोई संकट आया हो, तो उसकी यथाशक्य व्यवस्था कर तत्पश्चात् भोजन करे, ४०—चन्द्र-सूर्य्यग्रहणावसरों पर भोजन न करे, ४१—अजीर्णावस्था में भोजन न करे, ४२—अधिक भोजन न करे, ४३—टूटे वर्त्तनों में भोजन न करे, ४४—लोह, एवं तत्सम (लोह से भी हीन) एलोमोनियम के वर्त्तनों में भोजन न करे, ४५—शाक, क्षीर आदि के छोटे पात्रों को वड़ी स्थाली में न रक्खे, ४६—(सतिविभवे) रूक्ष निन्द्य-भोजन न करे, ४७—४८—(द्विजातिवर्ग) पलाण्डु (प्याज), लशुन, मसूर की दाल, सलगम, (जहां तक हो सके मूली भी), सुफेद वैंगुन, न खाय, ४९—रात्रि में तिल, तैल, दधि, सत्तू न खाय, ५०—झूठे मुंह से घृत न लेवे, ५१—भोजन करते समय सूर्य्य-चन्द्रमा

तारों को न देखे, ५२—भोजन करते समय वेदमन्त्र न बोले, ५३—दधि, मधु, घृत, दुग्ध, क्षीर, मोदक, सत्तु को छोड कर अन्य भोज्य द्रव्यों में से पिपीलिका कीट पतङ्गादि के लिए थोडा उच्छिष्ट अवश्य छोड़े, ५४—भोजन के आद्यन्त मे तीन तीन वार आचमन अवश्य करे, ५५—मूले में बैठ कर भोजन न करे, ५६—पलाशपत्तों पर भोजन न करे, ५७—भोजनारम्भ मे गौग्रास अवश्य निकाले, ५८—हाथ से हथेली मे नमक ले [१]। ५९—तावे के वरतन मे दूध न पीवे, ६०—नारियल का पानी, और शहद कासी, एव ताने के पात्र से न पीवे, ६१—साठे का रस ताने के वर्त्तन से न पीवे, ६२—वाए हाथ से (पात्र से) जल न पीवे, ६३—माघ मास में मूली न खावे, ६४-पडवा के दिन कूष्माण्ड (कोला-कासीफल) खाने से अर्थनाश होता है, ६५—तीज, तथा चौथ को मूली खाने से अर्थनाश होता है, ६६-पञ्चमी के दिन विल्व (वेल) खाने से कलङ्क लगता है, ६७—अष्टमी के दिन नारियल खाने से बुद्धि विगडती है, ६८—चतुर्दशी के दिन उर्द खाने से आत्मा मलिन होता है, ६९—रविवार के दिन चणे, तेल, लवण नहीं खाने चाहिए।

९—*अर्थोपार्ज्जनकर्म*—

'भुक्त्वा शतपथं गच्छेत्' के अनुसार भोजनोपरान्त वडी शान्ति के साथ थोडा सा तो टहलना चाहिए, अनन्तर थोडे समय के लिए सामान्य विश्राम करना चाहिए। विश्रामानन्तर परिवार के भरण पोषण के लिए नियत समय तक अर्थचिन्ता (उपार्जनकर्म) में प्रवृत्त होना चाहिए। अर्थोपार्ज्जन के सम्बन्ध मे इस वात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि, कहीं अर्थचिन्ता में हीं तो सारा समय नहीं निकल जाता, अतिशय मिथ्याभाषण तो इस कर्म्म का सञ्चालक नहीं बन रहा,

अर्थोपार्ज्जनमीमासा—

---

१ नमक क्षारतत्व से सम्बन्ध रखता है, क्षारतत्व वारुणपानी की प्रतिष्ठा माना गया है, जो कि क्षारगुणक वारुणपानी क्षारसमुद्र का स्वरूप सम्पादक बनता है। शरीर मे हाथ कर्म्म के सञ्चालक माने गए हैं। कर्मप्रवृत्ति के प्रधान अधिष्ठाता शरीरगत इन्द्रदेवता हैं, जैसा कि—'या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्म्मैवतत्' (यास्कनिरुक्त) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। इन्द्र-वरुण की शत्रुता सर्व विदित है। इन्द्रवीर्य्य लक्षण कर्म्मवीर्य्य शिथिल न हो जाय, एकमात्र इसी प्रयोजन के लिए 'हस्तदत्त न गृह्णीयात्तुल्य गोमासभक्षणम्' यह आदेश हुआ है। दोनों हाथा में भी अग्नि प्रधानता से दक्षिणहस्त म इन्द्रवीर्य्य की विशेषसत्ता मानी गई है। अतएव कुलस्त्रियाँ इस हाथ को लवणादान कर्म्म से विशेषत पृथक् रखतीं हैं।

वर्णस्वरूप को एकान्ततः गिरा देने वाले अकर्म्म-विकर्म्म लक्षण निन्द्य कर्म्मों का तो अनुगमन नहीं करना पड़ता, इस कर्म्म से ऐसा मलिन अर्थ तो नहीं आ रहा, जो हमारी स्वाभाविक दिव्य शक्तियों का विकास रोक रहा हो। अवश्य ही इन विशेष नियमों का अनुगमन करने के लिए हमें भूतप्रपञ्च से सम्बन्ध रखने वाली आवश्यकताओं को अधिकाधिक कम करना पड़ेगा। प्रवृद्ध आवश्यकताएं हीं अर्थलालसा की जननी बनती हैं, प्रवृद्ध अर्थलालसा ही अर्थकर्म्म को प्रवृद्ध करती है, प्रवृद्ध अर्थकर्म्म ही हमें अपने ओर ओर अत्यावश्यक लौकिक-पारलौकिक कर्म्मों से वञ्चित रखता है। अर्थ जीवन का कारण अवश्य है, परन्तु अर्थ ही जीवन का परम-पुरुषार्थ नहीं है। इस लिए अर्थ के साथ काम, धर्म्म, मोक्ष नामक इतर पुरुषार्थों को भी जीवन के आवश्यक कर्त्तव्य मानते हुए धर्म्ममूल अर्थ, कामों का ही अनुगमन करना चाहिए। धर्म्मशून्य अर्थ-काम् जहां तृष्णावृद्धि के द्वारा ऐहलौकिक सुखभोग में अशान्ति उपस्थित करते हैं, पारलौकिक शान्ति से सर्वथा वञ्चित रहते हैं, वहां धर्म्ममूल अर्थ-काम एक नियतसीमा, नियतकामना से मर्य्यादित रहते हुए उभयलोक कल्याणकारक बनते हैं, जैसा कि 'योगसङ्गति' प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है।

जो महानुभाव अपने आप को आस्तिक कहते हुए भी उक्त स्वस्त्ययन कर्म्मों के सम्बन्ध में यह हेतु उपस्थित करते हुए अपनी विवशता प्रकट करते हैं कि, "क्या करें, उदरपूर्त्ति से ही समय नहीं मिलता, सारा समय अर्थोपार्ज्जन मे ही व्यतीत हो जाता है, फिर भी काम नहीं चलता", उन महारथियों के सम्बन्ध मे यही कहना पर्य्याप्त होगा कि, वे धर्म्म को, धर्म्म के साथ-साथ अपने आपको, समाज को, ईश्वर को धोका दे रहे हैं। उन्हें केवल योग-क्षेम ही अपेक्षित नहीं है, अपितु वे धनसञ्चय द्वारा नगर सेठ बनना चाहते है। अर्थतृष्णा में पड़ कर ये सज्जन थोड़ी देर के लिए यह भूल जाते हैं कि—'धनसञ्चयकर्तृणि भाग्यानि पृथगेव हि'। धर्म्मपूर्वक जीवन यात्रा का सञ्चालन करते हुए, नियमित योग-क्षेम की पूर्त्ति के लिए नियमितरूप से सुव्यवस्थाओं द्वारा अर्थोपार्ज्जन करने वाले के चारों पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं, और अवश्य सिद्ध हो जाते हैं।

वर्त्तमानयुग मे अर्थसमस्या के जो कई एक राजनैतिक कारण हैं, उनकी भी उपेक्षा तो नहीं की जा सकती। अवश्य ही इस क्षेत्र में हम दूसरों की कृपा का फल (कुफल) भोग रहे हैं। परन्तु इसके साथ ही हमें यह स्वीकार कर लेने में भी कोई आपत्ति नहीं करनी चाहिए कि, अर्थोपार्ज्जन की पद्धत्ति भी आज हमनें बिगाड़ रक्खी है। हमारा कोई काम नियत समय पर नियमित रूप से नहीं होता। उदाहरण के लिए शिक्षाक्षेत्र को ही लीजिए।

सौभाग्य से कहिए, अथवा दुर्भाग्य से, पहिले तो हमारे शिक्षणालयों में वर्षभर में पढ़ाई ही केवल ४-५ मास होती है। इनमें भी पुरुषार्थी छात्र नियमतः स्वाध्याय नहीं करते। खेल-कूद तमाशों में ही अधिक समय जाता है। ज्यों ज्यों परीक्षा सन्निकट आती जाती है, त्यों-त्यों ये मेधावी अपनी मेधा का सदुपयोग करने लगते हैं। १-२ मास रात दिन पिष्टपेषण कर जैसे तैसे तृतीयांश योग्यता प्राप्त कर ली, तो जीवन धन्य बन गया। माता पिता ने प्रसाद बांटा, दोस्तों ने मिठाइयाँ उड़ाईं, और इधर हमारे इस वीर परिश्रमी ने स्वास्थ्य खोया, विद्या का दृढ़ संस्कार खोया, सब के एवज में खरीदा नितान्त निरर्थक 'अभिमान'। यह सब विडम्बना क्यों ? नियमशः स्वाध्याय न करने से। नियमपूर्वक नियत समय तक दैनिक स्वाध्याय से विद्यासंस्कार भी दृढ़मूल बनते हैं, स्वास्थ्य भी सुरक्षित रहता है, इतर कर्म्मों में नैपुण्य प्राप्त करने का अवसर भी मिल जाता है।

ठीक यही दशा अर्थक्षेत्र की समझिए। 'हम अर्थोपार्जन करते हैं,' इस वाक्य के 'हम' पदार्थ का क्या कभी हमने यह विचार किया कि, 'हम' क्या हैं। दार्शनिकों से पूछने पर वे हमें हमारे इस 'हम' पदार्थ के सम्बन्ध में यह उत्तर देते हैं कि—'आत्मा–बुद्धि–मन–शरीर' इन चार पृथक् संस्थाओं की समष्टि का ही नाम 'हम' पदार्थ है। आत्मा भी 'हम' हैं, बुद्धि भी 'हम' हैं मन भी 'हम' हैं, एवं शरीर भी 'हम' हैं। चार 'हम' के मिलने से एक महा 'हम' हम बन रहा है। जब आत्मा-बुद्धि आदि चारों ही 'हम' है, साथ ही इस 'हम' को सुखी रखना हमारा मुख्य उद्देश्य है, तो हमें मान लेना पड़ता है कि, पूर्णसुखोद्रेक के लिए इन चारों 'हम' पदार्थों को, दूसरे शब्दों में एक ही 'हम-भाव' के चारों पर्वों को सुव्यवस्थित, सुरक्षित सुपुष्ट, सुविकसित रखना हमारा आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है। चारों में से यदि एक भी दुःखी है, तो 'हम' पदार्थ के इतर पर्व कभी सुखी नहीं रह सकते। अब देखना यह है कि, इन चारों पर्वों के सुख-साधन कौन कौन से है, एवं वे कैसे प्राप्त किए जा सकते हैं ?

'पहिला सुख, निरोगी काया' इस वृद्धव्यवहार के अनुसार, तथा—'शरीरमाद्यं-खलु धर्मसाधनम्' इस शास्त्रीय आदेश के अनुसार सबसे पहिले 'शरीरपर्व' ही प्रधानरूप से हमारे सामने आता है। रोगाभाव, दृढावयवता, आदि ही शरीर सुख माने गए हैं। रोग-ग्रस्त, शिथिल शरीर ही दुःखी माना गया है। इस सुख की प्राप्ति के साधन है—व्यायाम, दुग्ध, घृत, मक्खन आदि पौष्टिक पदार्थों का सेवन, नियत समय पर हित-मित भोजन, नियत समय तक परिभ्रमण। कहना न होगा कि, ये सब साधन अर्थ की अपेक्षा रखते हैं। बिना अर्थ के शरीरसुख साधनभूत परिग्रहों का सञ्चय असम्भव है। इसी दृष्टि से 'अर्थ'

को हम शरीरपर्व का मुख्य पुरुषार्थ मानेंगे। जिसकी सिद्धि के लिए हम 'अर्थोपा-र्ज्जन' किया करते हैं। सचमुच अर्थ-सम्पत्ति ही शरीर का परम पुरुषार्थ है।

शरीर के बाद सर्वेन्द्रिय नामक, इन्द्रियाध्यक्ष, मनोविवर्त्त हमारे सामने आता है। शोक-मोहादि से वियुक्त रहना, श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह-काम-रति, भावों का यथा समय अनुगमन करते रहना, अभीप्सित कामनाओं का यथा समय पूर्ण हो जाना, ये ही मन के सुख हैं। इस सुख का प्रधान साधन है—'काम'। इच्छा पर विजय प्राप्त कर लेना ही मनोराज्य की शान्ति का अन्यतम उपाय है, जैसा कि—'स शान्तिमाप्नोति, न कामकामी' इत्यादि गीतासिद्धान्त से स्पष्ट है। काम को वश मे कर लेने का काम यथा समय कामपूर्ति का साधक वन जाता है। दूसरे शब्दों मे यों समझिए कि, कामविजय से उत्थाप्याकाक्षा उत्थिताकाक्षा रूप में परिणत होती हुई निष्कामभावमूला तृप्ति का कारण वन जाता है। प्रज्ञाप्रतिष्ठ ऐसे व्यक्ति के मन से श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेहादि गुणों का स्वभावत. विकास होता रहता है। अल्प-कार्य्य सिद्धि मे भी यह सन्तुष्ट रहता है, हानि मे भी प्रसन्न रहता है, पूर्ण-सिद्धि मे भी उद्विग्न नहीं होता। नारद-तुम्बुरू आदि संगीताचार्यों नें सगीत को भी मन. शान्ति का प्रधान साधन माना है। क्योंकि श्रुति-नाद-स्वरभावयुक्त सङ्गीतलहरी अप्सराप्राण के सम्बन्ध से तत्सम्बन्धी गन्धर्व प्राणयुत मन की स्थिरता का कारण बन जाती है। यही मन पर्व का संरक्षक दूसरा 'कामपुरुपार्थ' है।

मन के अनन्तर 'बुद्धि' पर्व का साम्मुख्य होता है। आपत्तिकाल मे धैर्य रखना, सदसत् का विवेक करते हुए—'इदमित्थमेव नान्यथा' इस निश्चयात्मक निर्णय पर पहुंच जाना, दिव्यभावों की अनुगति द्वारा स्वस्वरूप से पूर्ण विकसित रहना, धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य ऐश्वर्य्य लक्षण भगसम्पत्तियों के शान्त-निरुपद्रव-वातावरण में विचरण करना ही 'बौद्धसुख' है। एवं इस सुख के साधक हैं, धर्म्मशास्त्रोक्त धर्म्म-कर्म्मों का यथानियम पालन, देव-द्विज-गुरु की उपासना, तत्त्वविश्लेपक तात्विक ग्रन्थों का यथाशक्य श्रवण-मनन-निदिध्यासन, सर्वोपरि गीतोक्त बुद्धियोगमार्ग का अनन्यनिष्ठा से अनुसरण। यही तीसरा 'धर्म्म' नामक पुरुपार्थ है, जो इस ओर के काम-अर्थ पुरुपार्थों को भी सफल बनाता है, एवं उस ओर के मोक्ष पुरुपार्थ को भी बलप्रदान करता है।

बुद्धि के अनन्तर उस आत्मदेवता का अनुमान लगाना पडता है, जहां न इन्द्रियां जा सकतीं, न मन पहुंच सकता, एव न बुद्धि ही कोई चेष्टा कर सकती। सर्वातीत, किन्तु सर्वा-

नुस्यूत इस आत्मदेवता का प्रधान सुख है— शान्तिलक्षण वह आनन्द, जिसमें उच्चावचभावों का एकान्ततः अभाव है। जिसका तटस्थरूप से-'उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्म्मसु' इन शब्दों में अभिनय किया जाता है। जहाँ न शोक व्यञ्जक 'हा-हा' शब्दों का समावेश है, न हर्ष व्यञ्जक 'अ-हा-हा' का उद्घोष है। पूर्णसमत्वलक्षण इस आत्मसुख की प्राप्ति का अन्यतम साधन है—'मूर्खता'। 'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' इस औपनिषद आदेश के अनुसार आत्मशान्ति के लिए हमें पाण्डित्य का गर्व छोड़कर एक अबोध बालक बन जाना पड़ेगा। श्रद्धा-विश्वास पूर्वक, सर्वथा अन्ध बनकर उसमें अपनी बुद्धि, मन सब कुछ समर्पित कर देना पड़ेगा, एवं तभी निःश्रेयसलक्षण, अद्वयभावापन्न यह 'मोक्ष' नामक ('विदेहमुक्ति नामक) आनन्द हमें मिल सकेगा। और यही हमारा सर्वान्त का चौथा परम पुरुषार्थ होगा। इस प्रकार अपनी चारों अध्यात्मसंस्थाओं के अर्थ-काम-धर्म्म-मोक्ष' इन चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करते हुए हम कृतकृत्य बन जायँगे।

सीधी-साधी भाषा में यों कह लीजिए कि, शरीर का सर्वोत्तम विनोद-'व्यायाम', है, इसका साधन-फल अर्थ है। मन का सर्वसुन्दर विनोद 'सङ्गीत' है, इस का साधन-फल काम है। बुद्धि का सर्वोत्कृष्ट विनोद 'शास्त्रपरिशीलन' है, इस का साधन-फल धर्म्म है। एवं आत्मा का सर्वातिशाय विनोद 'मूर्खता' है, इस का साधन बुद्धियोग है, फल मोक्ष है। देखिए न, गीता नायक ने इन्हीं चारों विनोदों का कैसा सुन्दर अभिनय किया है। बाललीला शरीरविनोद की सूचना दे रही है। वंशीवादन मनोविनोद का परिचय दे रहा है। गीतोपदेश बौद्धविनोद का प्रदर्शन कर रहा है। एवं सान्दीपन के पास श्रद्धा-विश्वासपूर्वक विद्याध्ययन करना आत्मविनोद का परिचायक बन रहा है। हम क्या चाहते हैं ? 'हम' पदार्थ क्या है ? उस चाह के साधन क्या हैं ? इत्यादि प्रश्नों की यही संक्षिप्त मीमांसा है, जिस का भारतीय वैज्ञानिकों द्वारा 'धर्म्म-अर्थ-काम-मोक्ष' इन चार पुरुषार्थों में वर्गीकरण हुआ है।

पुरुषार्थचतुष्टयीपरिलेखः—

१—आत्मा—	शान्तिः—	आत्मसमर्पणम्—	श्रद्धाश्रयः—	मोक्षः
२—बुद्धिः—	विकासः—	बुद्धियोगानुष्ठानं—	तत्त्वदर्शनम्—	धर्म्मः
३—मनः—	तृप्तिः—	कामानुगतिः—	सङ्गीतः—	कामः
४—शरीरम्—	स्वास्थ्यम्—	अर्थानुगतिः—	व्यायामः—	अर्थः

उक्त चारों पुरुषार्थों के आधार पर ही भारतवर्ष ने चार शास्त्रों को जन्म दिया है। जो कि चारों शास्त्र क्रमशः 'अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, धर्म्मशास्त्र, मोक्षशास्त्र' इन नामों से प्रसिद्ध हैं। लोकनीति, समाजनीति, राष्ट्रनीति, नागरिकनीति, आदि के द्वारा अर्थप्रपञ्च का सुविशद निरूपण करने वाले शुक्रनीति, चाणक्यनीति, बृहस्पतिसूत्र, कौटिलीय अर्थशास्त्र, आदि तन्त्रों का संग्रह ही अर्थशास्त्र है। महाकवि कल्याण विरचित 'अनङ्गरङ्ग', कविशेखर श्री ज्योतिरीश विरचित 'पंचसायक', महाराज वीरभद्रदेव विरचित 'कन्दर्पचूड़ामणि', महाकवि श्रीकोक्कोक (कोका) विरचित 'रतिरहस्य', पद्मश्री विरचित 'नागरसर्वस्व', एवं महामुनि सर्वश्री वात्स्यायन विरचित 'कामसूत्र' आदि तन्त्रों की समष्टि ही कामशास्त्र है। मनु, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठादि 'स्मृतिग्रन्थ' कात्यायन, पारस्कर, गोभिलादि 'सूत्रग्रन्थ' निर्णयसिन्धु, धर्म्मसिन्धु, चतुर्वर्ग चिन्तामणि, विधानपारिजातादि निबन्धग्रन्थ, इन तन्त्रों की समष्टि ही 'धर्म्मशास्त्र' है। गीता, उपनिषत्, व्याससूत्र की समष्टिरूप प्रस्थानत्रयी ही मोक्षशास्त्र है। चूंकि चारों शास्त्र क्रमशः शरीर-मन-बुद्धि-आत्मा, इन चारों को लक्ष्य बनाते हैं, एवं अध्यात्मसंस्था के ये चारों पर्व एक दूसरे के उपकार्य्य उपकारक हैं, अतएव तत् प्रतिपादक चारों शास्त्रों को अपनी प्रधान संस्थाओं के साथ इतर तीनों गौण संस्थाओं की रक्षा का भी पूरा पूरा ध्यान रखना पड़ता है।

'मोक्षशास्त्र' जहां आत्मा को अपना प्रधान लक्ष्य बनाएगा, वहां वह यह नहीं भूल जायगा कि, आत्मा की वैसी मुक्ति कभी शान्ति का कारण नहीं बन सकती, जिस में बुद्धि, मन, शरीर पर्वों का स्वरूप ही शेष न बचे। यह ठीक है कि, क्षीणोदर्क, किंवा भूमोदर्क लक्षण परामुक्ति (क्रममुक्ति में) एक दिन आत्मा को बुद्धि आदि सब परिग्रहों का परित्याग कर देना पड़ेगा, यह भी ठीक है कि, 'मुक्ति' शब्द चरितार्थ भी उसी दशा में होगा, परन्तु जबतक हमारा भौतिक शरीर विद्यमान है, इन्द्रियां हैं, मन है, बुद्धि है, संसार है, तबतक आत्मा कभी ऐसी परिग्रहशून्य लक्षण परामुक्ति का अनुगामी नहीं बन सकता। कामक्लेशपूर्वक यदि हमने शरीर को कष्ट दिया, मन को मारा, बुद्धि को निश्चेष्ट बनाया, संसार छोड़ते हुए लोकसंग्रह का विघात किया, और इसी को संन्यासमार्ग कहते हुए मुक्तिपथ मान लिया, तो न ऐसा संन्यास संन्यास ही माना जायगा, न इसे मुक्तिपथ ही कहा जायगा। अपितु जीवित दशा में इतर तीनों संस्थाओं की रक्षा का पूरा ध्यान रखते हुए, लोकसंग्रहदृष्टि से निष्काम भाव से यावज्जीवन विहित कर्म्मों में प्रवृत्त रहते हुए उदासीनवत् आसीन रहना ही 'इह चेदवेदीत्' वाली विदेहमुक्ति कहलाएगी, जिसके सफल उदाहरण राजर्षि जनकादि हो गए हैं।

यही परिस्थिति 'धर्म्मशास्त्र' की समझिए। बौद्धविकास के साथ धर्म्मशास्त्र को भी आत्मा, मन, शरीर, तीनों पर दृष्टि रखनी पड़ेगी। धर्म्मशास्त्र उन्हीं कर्म्मों का विधान करेगा, जिन से पारलौकिक निःश्रेयस प्राप्ति के साथ साथ ऐहलौकिक अभ्युदय सुख भी सुरक्षित रहेगा। 'यतोऽभ्युदनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः' (वै० दर्शन) कहते हुए भगवान् कणाद ने धर्म्म का यही लक्षण माना है। वह धर्म्म धर्म्म नहीं माना जा सकता, जिसमे केवल विशुद्ध परलोक के सुख स्वप्नों का प्रलोभन हो। हम, हमारा परिवार, हमारा बन्धुवर्ग, हमारा समाज, हमारा देश, हमारा राष्ट्र ऐहलौकिक सम्पत्तियों से पूर्ण समृद्ध बना रहे, हमारा अर्थ, तथा कामबल सुरक्षित रहे, और फिर हम पारलौकिक दिव्य भावों की ओर अग्रसर होते रहें, यही हमारे धर्म्म का, तत्प्रतिपादक धर्म्मशास्त्र का मूलमन्त्र होगा, जिसे विस्मृत कर आज हम सर्वतः शून्य बन गए हैं, अथवा तो बनते जा रहे हैं।

अब कामशास्त्र के उद्देश्य को सामने रखिए। इसे भी काममय जगत् की प्रधानता के साथ साथ आत्मा, बुद्धि, शरीर, तीनों की रक्षा का विशेष प्रयास करना पड़ेगा। अपने कामादेशों मे पदे पदे धर्म्म का नियन्त्रण लगाना पड़ेगा। निम्न लिखित काम सूत्र ही इस बात के साक्षी है कि, काम ही एकाकी शतायु पुरुष का प्रधान पुरुषार्थ नहीं है। अपितु इसे आयु को आश्रमानुसार विभक्त कर कामके अतिरिक्त मोक्ष-धर्म्म-अर्थ पुरुषार्थों का भी संग्रह करना है। देखिए!

१—शतायुर्वै पुरुषो विभज्य कालमन्योऽन्यानुबद्धं
परस्परानुपघातकं त्रिवर्गं सेवेत।
२—बाल्ये विद्याग्रहणादीनर्थान्।
३—कामं च यौवने।
४—स्थाविरे धर्म्मं, मोक्षं च।
५—अनित्यत्वादायुषो यथोपपादं वा सेवेत।

—वा० का० १।२।

हमारा कामशास्त्र प्रत्यक्ष मे कामविषयक प्रतीत होता हुआ भी एक प्रकार का धर्म्मशास्त्र है। पशुवत् स्वभावतः उदीयमान उच्छृङ्खल कामप्रवृत्तियों को मर्य्यादित करने के लिए ही

कामारि भगवान् शङ्कर के अनुचर नन्दी के द्वारा इस शास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ है [1]। काम-शास्त्र एक ऐसा शास्त्र है, जिसके यथावत् अनुगमन से हमारा स्वास्थ्य, आयु, बल, वीर्य्य, पराक्रम सब कुछ सुरक्षित रहते हैं। उत्तम प्रजा उत्पन्न होती है। राष्ट्रीय समाज पूर्ण बलवान् बना रहता है। जब से हमनें इस शास्त्र की उपेक्षा की है, तभी से हमारा प्रजावर्ग ऐन्द्रिक काम-विषयपरायण बनता हुआ अपना सर्वस्व खो बैठा है। निम्न लिखित काम-लक्षणों से, एवं उस की तात्त्विकशैली से पाठकों को स्वयं यह स्वीकार कर लेना पड़ेगा कि, सचमुच कामशास्त्र हमारे लिए एक महा उपयोगी शास्त्र है—

१—श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-जिह्वा-घ्राणाना-'मात्म' संयुक्तेन मनसा-
ऽधिष्ठितानां स्वेषु स्वेषु विषयेस्वानुकूल्यतः प्रवृत्तिः'कामः'।

—वा० का० सू० १।१।११।

२—एकमर्थं च कामं च धर्म्मं चोपाचरन्नरः।
इहामुत्र च निःशल्यमत्यन्तं सुखमश्नुते॥

—वा० सू० १।२।४९।

३—धर्म्मार्थाङ्गविद्याकालाननुपरोधयन्–
कामसूत्रं, तदङ्गविद्याश्च पुरुषोऽ'धीयीत'।

—वा० सू० १।३।१।

४—तदेतत्–ब्रह्मचर्य्येण परेण च समाधिना।
विहितं लोकयात्रार्थं न रोगार्थोऽस्य संविधिः॥

५—रक्षन् धर्म्मार्थकामानां स्थितिं स्वां लोकवर्त्तिनीम्।
अस्य शास्त्रस्य तत्त्वज्ञो भवत्येव 'जितेन्द्रियः'॥

६—तदेतत् कुशलो विद्वान् धर्म्मार्थाववलोकयन्।
नातिरागात्मकः कामी प्रयुञ्जानः प्रसिद्ध्यति॥

—का० सू० उपसहार।

---

१ 'महादेवानुचरश्च नन्दी सहस्रेणाध्यायानां पृथकामसूत्रं प्रोवाच'। —वा० का० १।१।८।

१—रतिशास्त्रपरिज्ञानविहीना ये नराधमाः ।
तेषां रतिः श्वानवत्स्यान्न रतेः सुखमश्नुते ॥
२—रतेः सुखस्य ज्ञानार्थं कामशास्त्रं समभ्यसेत् ।
ज्ञात्वा कर्म्माणि कुर्वीत तत्रानन्दो भवेद् ध्रुवम् ॥
३—अन्यथा पशुवत्तेषां रतिकर्म्म सुनिष्फलम् ।
नचानन्दो न च सुखं दुःखस्यैव तु कारणम् ॥
४—संसारे सु-रतं सारं सर्वलोकसुखप्रदम् ।
तन्न कुर्व्वन्ति ये मूढास्ते नराः पशवः स्मृताः ॥'

—सग्रहः

चौथा क्रमप्राप्त 'अर्थशास्त्र' है, इस सम्बन्ध में भी विशेष वक्तव्य इस लिए नहीं है कि, भारतीय अर्थशस्त्रियों नें पदे पदे धर्म्मानुशासन का ही अनुगमन किया है। ये अर्थशास्त्री उस अर्थसंग्रह को, उस अर्थोपार्जनपद्धति को सर्वथा निकृष्ट, अतएव एकान्ततः त्याज्य समझ रहे हैं, जो कि संग्रह-पद्धतियाँ मन, बुद्धि, आत्ममूलक काम-धर्म्म-तथा मोक्षमार्ग मे बाधा उपस्थित करने वाली है। केवल शरीरसुख ही तो अभीष्ट नहीं है। यही क्यों, शरीर सुख की अपेक्षा मानस शान्ति कहीं बढ़ कर है। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, यदि हमारा मन अशान्त रहता है, तो विपुल सम्पत्ति भी हमें शान्ति नहीं पहुंचा सकती। अपितु चित्त-खेदावस्था मे ये लौकिक अर्थवैभव शून्यवत् वेदना के कारण और बन जाते हैं।

सुखोपभोक्ता, दूसरे शब्दों मे अर्थानुगत ऐन्द्रियक विषयोपभोक्ता इन्द्रियाध्यक्ष मन हीं माना गया है। यदि उस की स्वाभाविक शान्ति को आघात पहुंचाने वाली पद्धति के द्वारा हमने अर्थसंग्रह कर भी लिया, तो उस सञ्चित अर्थ का सिवाय परितापवृद्धि के और उपयोग ही क्या रह जाता है।

---

१ इस विषय का विशद विवेचन 'पुरुषार्थचतुष्टयी, और तत् प्रतिपादक शास्त्र' नामक स्वतन्त्र निबन्धन में देखना चाहिए।

मन से भी उच्चस्थान बुद्धि का है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, एक मूर्ख मनुष्य साधारण सी आपत्ति पर व्याकुल हो जाता है, रो पडता है। परन्तु एक बुद्धिमान मनीषी व्यक्ति घोरघोरतम आपत्तियों के आक्रमण करने पर भी बुद्धि-स्थिरता से उन्हें शान्तिपूर्वक सह जाता है, व्याकुल नहीं होता, रो नहीं पडता। जो अर्थप्रवृत्ति इस बुद्धि को मलिन बना दे, बुद्धि को क्षुब्ध कर दे, अथवा तो अतिशय अर्थावरण से जो बुद्धि अपने स्वाभाविक दिव्यविकास से आत्यन्तिक रूप से आवृत होती हुई जडवत् बन कर यह अनुभव भी न कर सके कि, यह अर्थमार्ग मेरा सर्वनाश कर चुका है, तो क्या ऐसी असदर्थ प्रवृत्ति दूर से ही प्रणम्य नहीं मानी जायगी ?

बुद्धि से परे निष्काम आत्मदेवता प्रतिष्ठित है। इसी की आन्दमात्रा लेकर बुद्धि, बुद्धि द्वारा मन, मन के द्वारा इन्द्रियाँ, एव इन्द्रियों के द्वारा भूतवर्ग सुख का कारण बनता है। यदि धर्म्ममार्ग की उपेक्षा कर हमने अपनी प्रवृद्ध कामनाओं के कहे असदर्थ सग्रह कर लिया तो, ये प्रवृद्ध, अविद्यामय काम सस्कार पहिले मन को, तद्द्वारा बुद्धि को मलिन करेंगे। तत्काल बुद्धिसहकृत आत्मा का निष्कामभाव कामावरण से अपने स्वाभाविक शान्ति-प्रतिष्ठा-प्रसाद-आदि गुणों से वञ्चित हो जायगा। इस प्रकार जघन्य, अधर्म्ममयी, अर्थलिप्सा के कुचक्र मे पड कर हम अपना स्वास्थ्य खो बैठेंगे, मनोराज्य को अशान्त बना लेंगे, बुद्धि को अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष अभिनिवेश लक्षण सर्वनाशक यन्त्रों का शिकार बना लेंगे, और सर्वान्त में खो देगें ईश्वर प्रदत्त आत्मा की शाश्वतशान्ति, जिसका स्मरण करता हुआ आज का अर्थलोलुप, दुःखसागरैक निमग्न ससार त्राहि-त्राहि का करुण क्रन्दन करता नहीं अघाता। अब हमे यह स्वीकार कर लेने मे सम्भवत कोई आपत्ति न होगी कि, अर्थोपार्ज्जन वही सर्वात्मना श्रेयस्कर माना जायगा, जिसके मूल मे धर्म्म प्रतिष्ठित रहेगा। अर्थतत्व की इसी महाविभीषिका को लक्ष्य में रखते हुए अर्थशास्त्रियों ने धर्म्ममूल अर्थ का ही समादर किया है, जैसा कि निम्न लिखित कुछ एक वचनो से स्पष्ट है—

१—"नीतेःफलं-धर्म्मार्थकामावाप्तिः। धर्म्मेण-कामार्थौ परीक्ष्यौ।
धर्म्मं धर्म्मेण, अथमर्थेण, कामं कामेन, मोक्षं मोक्षेण॥

२—ऐश्वर्य्य मदमत्तेन सलोभमानिना सञ्चितं विनश्यति।

३—धर्म्म (एव) प्रधानः, पुरुषार्थान। अधर्म्मेण भुज्यमानं सुखमसुहृत्।

१—रतिशास्त्रपरिज्ञानविहीना ये नराधमाः ।
तेषां रतिः श्वानवत्स्यान्न रतेः सुखमश्नुते ॥
२—रतेः सुखस्य ज्ञानार्थं कामशास्त्रं समभ्यसेत् ।
ज्ञात्वा कर्म्माणि कुर्वीत तत्रानन्दो भवेद् ध्रुवम् ॥
३—अन्यथा पशुवत्तेषां रतिकर्म्म सुनिष्फलम् ।
नचानन्दो न च सुखं दुःखस्यैव तु कारणम् ॥
४—संसारे सु-रतं सारं सर्वलोकसुखप्रदम् ।
तन्न कुर्व्वन्ति ये मूढास्ते नराः पशवः स्मृताः ॥'

—संग्रह ,,।

चौथा क्रमप्राप्त 'अर्थशास्त्र' है, इस सम्बन्ध मे भी विशेष वक्तव्य इस लिए नहीं है कि, भारतीय अर्थशास्त्रियों नें पदे पदे धर्म्मानुशासन का ही अनुगमन किया है। ये अर्थशास्त्री उस अर्थसंग्रह को, उस अर्थोपार्ज्जनपद्धति को सर्वथा निकृष्ट, अतएव एकान्ततः त्याज्य समझ रहे हैं, जो कि संग्रह-पद्धतियां मन, बुद्धि, आत्ममूलक काम धर्म्म-तथा मोक्षमार्ग मे बाधा उपस्थित करने वाली है। केवल शरीरसुख ही तो अभीष्ट नहीं है। यही क्यो, शरीर सुख की अपेक्षा मानस शान्ति कहीं बढ कर है। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, यदि हमारा मन अशान्त रहता है, तो विपुल सम्पत्ति भी हमे शान्ति नहीं पहुचा सकती। अपितु चित्त-खेदावस्था मे ये लौकिक अर्थवैभव शून्यवत् वेदना के कारण और बन जाते हैं।

सुखोपभोक्ता, दूसरे शब्दों मे अर्थानुगत ऐन्द्रियक विषयोपभोक्ता इन्द्रियाध्यक्ष मन ही माना गया है। यदि उस की स्वाभाविक शान्ति को आघात पहुचाने वाली पद्धति के द्वारा हमने अर्थसंग्रह कर भी लिया, तो उस सञ्चित अर्थ का सिवाय परितापवृद्धि के और उपयोग ही क्या रह जाता है।

---

१ इस विषय का विशद विवेचन 'पुरुषार्थचतुष्टयी, और तत् प्रतिपादक शास्त्र' नामक स्वतन्त्र निबन्धन में देखना चाहिए।

मन से भी उच्चस्थान बुद्धि का है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, एक मूर्ख मनुष्य साधारण सी आपत्ति पर व्याकुल हो जाता है, रो पड़ता है। परन्तु एक बुद्धिमान मनीषी व्यक्ति घोरघोरतम आपत्तियों के आक्रमण करने पर भी बुद्धि-स्थिरता से उन्हें शान्तिपूर्वक सह जाता है, व्याकुल नहीं होता, रो नहीं पड़ता। जो अर्थप्रवृत्ति इस बुद्धि को मलिन बना दे, बुद्धि को क्षुब्ध कर दे, अथवा तो अतिशय अर्थावरण से जो बुद्धि अपने स्वाभाविक दिव्यविकास से आत्यन्तिक रूप से आवृत होती हुई जड़वत् बन कर यह अनुभव भी न कर सके कि, यह अर्थमार्ग मेरा सर्वनाश कर चुका है, तो क्या ऐसी असदर्थ प्रवृत्ति दूर से ही प्रणम्य नहीं मानी जायगी ?

बुद्धि से परे निष्काम आत्मदेवता प्रतिष्ठित है। इसी की आनन्दमात्रा लेकर बुद्धि, बुद्धि द्वारा मन, मन के द्वारा इन्द्रियाँ, एवं इन्द्रियों के द्वारा भूतवर्ग सुख का कारण बनता है। यदि धर्म्ममार्ग की उपेक्षा कर हमने अपनी प्रवृद्ध कामनाओं के कहे असदर्थ संग्रह कर लिया तो, ये प्रवृद्ध, अविद्यामय काम संस्कार पहिले मन को, तद्द्वारा बुद्धि को मलिन करेंगे। तत्काल बुद्धिसहकृत आत्मा का निष्कामभाव कामावरण से अपने स्वाभाविक शान्ति-प्रतिष्ठा-प्रसाद-आदि गुणों से वञ्चित हो जायगा। इस प्रकार जघन्य, अधर्म्ममयी, अर्थलिप्सा के कुचक्र मे पड कर हम अपना स्वास्थ्य खो बैठेंगे, मनोराज्य को अशान्त बना लेंगे, बुद्धि को अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश लक्षण सर्वनाशक यन्त्रों का शिकार बना लेंगे, और सर्वान्त में खो देंगे ईश्वर प्रदत्त आत्मा की शाश्वतशान्ति, जिसका स्मरण करता हुआ आज का अर्थलोलुप, दुःखसागरैक निमग्न संसार त्राहि-त्राहि का करुण क्रन्दन करता नहीं अघाता। अब हमें यह स्वीकार कर लेने में सम्भवतः कोई आपत्ति न होगी कि, अर्थोपार्ज्जन वही सर्वात्मना श्रेयस्कर माना जायगा, जिसके मूल में धर्म्म प्रतिष्ठित रहेगा। अर्थतत्व की इसी महाविभीषिका को लक्ष्य में रखते हुए अर्थशास्त्रियों ने धर्म्ममूल अर्थ का ही समादर किया है, जैसा कि निम्न लिखित कुछ एक वचनों से स्पष्ट है—

१—"नीतेःफलं-धर्म्मार्थकामावाप्तिः। धर्म्मेण-कामार्थौ परीक्ष्यौ।
धर्म्मं धर्म्मेण, अथमर्थेण, कामं कामेन, मोक्षं मोक्षेण॥

२—ऐश्वर्य्यं मदमत्तेन सलोभमानिना सञ्चितं विनश्यति।

३—धर्म्मं (एव) प्रधानः, पुरुषार्थान। अधर्म्मेण भुज्यमानं सुखमसुहृत्।

४—एवं धर्म्ममूलं विद्यां (अर्थश्च)आर्जयेत् । विद्यामूलं जगत्।
विद्या पुनः सर्वमित्याह गुरुः" —बार्हस्पत्यसूत्राणि।

१—"एप त्रयी धर्मश्चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणाञ्च स्वधर्म्मस्थापना-
दौपकारिकः ।

२—स्वधर्म्मस्स्वर्गायानन्त्यायच । तस्यातिक्रमे लोकसङ्करा-
दुच्छिद्य`ेत—

तस्मात् स्वधर्म्मं भूतानां राजा न व्यभिचारयेत् ।
स्वधर्म्मं संदधानोहि प्रेत्यचेह च नन्दति ।।
व्यवस्थितार्य्यमर्य्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः ।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ।।

—सुखस्य मूलं धर्म्मः, धर्म्मस्य मूलमर्थः, अर्थस्य मूलंराज्यं,
राज्यमूलमिन्द्रियविजयः, इन्द्रियजयस्य मूलं विनयः,
विनयस्य मूलं वृद्धसेवा, वृद्धसेवाया विज्ञानम् ।
विज्ञानेनात्मानं सम्पादयेत् । सम्पादितात्मा जितात्मा
भवति । जितात्मा सर्वार्थैस्संयुज्येत । अर्थसम्पत् प्रकृति-
सम्पदं करोति। स्त्रीणां भूपणं लज्जा । विप्राणां भूपणं
वेदः । सर्वेपां भूपणं धर्म्म." —कौटिलीय अर्थशास्त्र ।

इसी प्रकार चारो हीं शास्त्र एक दूसरे के उद्देश्यों के सहायक बनते हुए हमे यही आदेश दे रहे हैं कि, तुम्हे आत्मा, बुद्धि, मन, शरीर, चारों सस्थाओं की रक्षा करनी चाहिए। यह स्पष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं है कि, इन चारों शास्त्रों मे अर्थ, तथा कामशास्त्र के प्रचार का वर्तमान युग में अभाव सा ही हो गया है। केवल धर्म्म, तथा मोक्षशास्त्रों की ही प्रधा-नता हो रही है। अर्थ काम सहयोग से वञ्चित ये धर्म्म मोक्षशास्त्र आज हमारा कैसा, एव कितना उपकार कर रहे हैं, इसका उत्तर तो वर्त्तमान युग के मुमुक्षु, तथा धर्म्मिष्ठों से ही पूछना चाहिए। यहां इस सम्बन्ध मे हमे केवल यही कहना है कि, जिस प्रकार अर्थ-काम

से वञ्चित धर्म्म-मोक्ष मार्ग अपूर्ण है, एवमेव मोक्ष-धर्म्म से वञ्चित अर्थ-काम मार्ग भी नितान्त अपूर्ण ही हैं। हम सुखी रहना चाहते हैं, एवं यह हमारी चाह तभी पूरी हो सकती है, जब कि हम 'हम' से सम्बन्ध रखने वाली आत्मा, बुद्धि, मन, शरीर, नाम की चारों संस्थाओं के विनोद के साधन उपस्थित कर दें। हमें अपनी आयु को, आयु के क्षण-क्षण को इस रूप से व्यवस्थित बनाना पड़ेगा, जिससे चारों पुरुषार्थों की यथानियम सहचर अवस्था बनी रहे।

सब से बड़ी भूल, जो हम कर रहे हैं, यही है कि, हमारा दृष्टिकोण सर्वात्मना एक ही ओर झुक रहा है। यदि कोई महानुभाव अर्थसञ्चय की ओर प्रवृत्त है, तो अब २४ घन्टे उसे इस चिन्ता के अतिरिक्त और किसी संस्था का ध्यान नहीं रहता। वह भूल जाता है कि, आत्मा-बुद्धि-मन की तुष्टि के बिना मेरी यह ऐकान्तिक प्रवृत्ति कभी शान्ति का कारण नहीं बन सकती। अर्थानुगामी कर्म्म में जब जब इन की प्रवृत्ति होती है, तब तब ही असन्तुष्ट बने हुए बुद्धि-मन आदि उत्पात मचाने लगते हैं। प्रकृति के अव्यर्थ आक्रमण से सम्बन्ध रखने वाले इन उत्पातों को ना ना करते हुए भी हमें सहना पड़ता है। कब तक हम गम्भीर बने रह सकते हैं, कब तक हम मन की स्वाभाविक विनोदप्रियता का दमन कर सकते हैं, कब तक हम बुद्धि की ज्ञानानुगति का अवरोध कर सकते हैं। फलतः अर्थप्रवृत्ति के साथ-साथ प्रकृतिबल से आगत विनोदादि व्यापार भी अस्त-व्यस्त रूप से चलते रहते हैं। अर्थ-प्रधान काम कर रहे हैं। कोई मिलने आया, काम छोड़ा, लगे उससे गपशप करने। समय निकल गया, अर्थप्रवृत्ति ने पुनः धक्का मारा, तत्काल "जाओ, भाई जाओ, काम बहुत करना है", शब्द निकल पड़े। इस प्रकार अनन्यता के अभाव से न अर्थ-कर्म्म ही सम्पन्न हुआ, न मानस विनोद ही हुआ, न बुद्धि तथा आत्मा की ही तुष्टि-तृप्ति हुई। बस इसी विभीषिका के उपासक बने हुए आज के हम अर्थकामुक कहा करते हैं कि, "रात दिन काम करते हैं, फिर भी काम पूरा नहीं होता, अर्थचिन्ता नहीं मिटती"।

होना क्या चाहिए? उत्तर स्पष्ट है। जब हम धर्म्मचिन्ता में प्रवृत्त रहें, तब और किसी अन्य विषय पर दृष्टि न डालें। जब हम अर्थ-कर्म्म में प्रवृत्त हों, तो इसी में अनन्य बने रहें, जब मानस विनोद के अनुगामी बनें, तो दूसरा कोई लक्ष्य सामने न आए। संसार चाहे रूठ जाय, परन्तु हम अपनी इन विभक्त व्यवस्थाओं को अव्यवस्थित न होने दें। जिस जिस वृत्ति का अनुगमन करें, तन्मय बन जायँ। यही अनन्यनिष्ठा है, यही समत्व योग है; और योग की मूलप्रतिष्ठा है, यथा समय, यथा नियम नियत कर्त्तव्यों का अनुगमन।

हम समझ यह रहे हैं कि, अभी तो हम युवा हैं, अभी तो अर्थ-सञ्चय का समय है। धर्म्म-मोक्ष की बातों के लिए बहुत समय पड़ा हुआ है। ठीक है, परन्तु क्या कभी हमनें अपनी आयु के वर्षों का गणित द्वारा विवेक किया ? नहीं, तो अब कर लिया जाय। हमारा अव्यवस्थित जीवन पहिले तो यह विश्वास करने के लिए ही तय्यार नहीं है कि, हम वेदोक्त पूरे १०० वर्ष जीएंगे। यदि अभ्युपगमवाद से हम यह मान भी लें कि, हम तो पूरे १०० वर्ष ही जीएंगे, तब भी इसके साथ ही हमें यह भी मान लेना पड़ेगा कि, १०० वर्षों के अहोरात्रों में रात्रिभाग तो एक प्रकार से यों हीं निकल जाता है। इसमें हम विशेष पुरुषार्थ नहीं कर सकते। तत्त्वतः १०० वर्षों में से ५० वर्ष तो रात्रि के निकल गए। शेष रहे ५० वर्ष। अज्ञान प्रधान बाल्यावस्था के १०-१२ वर्ष, एवं शक्तिह्रास लक्षणा वृद्धावस्था के १०-१२ वर्ष, इस प्रकार लगभग २५ वर्ष हमें इन ५० वर्षों में से और निकाल देने पड़ेगे, जिनमें रात्रिवत् कोई विशेष पुरुषार्थ नहीं किया जा सकता। अब बाकी बचे २५ वर्ष। ज्ञान-सञ्चय, धर्मानुष्ठान, लोक-सुख, प्रजा-सुख, अर्थ-सञ्चय, समाज सेवा, राष्ट्रसेवा, देशसेवा, सब कुछ पुरुषार्थ इन २५ वर्षों में पूरे करने हैं, बशर्त्ते कि किसी सांघातिक रोग की हम पर कृपा न हो जाय। यदि ऐसा हो गया, तो सब कुछ चौपट है।

आयु के इस संख्यान से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, किसी भी पुरुषार्थ के सम्बन्ध में 'श्वः-श्वः' (कल-कल) की प्रतीक्षा करना व्यर्थ है। भूत-भविष्यत् के मध्य में रहने वाला वर्त्तमान ही हमारे लिए सर्वस्व है। इसी में हमें अत्यावश्यक, ईश्वरप्रणिधानादि लक्षण धर्म्म का भी सञ्चय करना है, अर्थ का भी सञ्चय करना है, शरीर को भी स्वस्थ रखना है, एवं प्रजातन्तु वितान का भी अनुगमन करना है। और इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हमें करना है, दिनरात के २४ घन्टों को '६-६-६-६' क्रम से चार भागों में विभक्त। इन चारों विभागों से हमारे चारों पुरुषार्थ सफल हो सकते हैं, हुआ करते थे।

शौच, स्नान, सन्ध्यादि नित्यकर्म्मों के लिए प्रातः-सायं ६ घन्टे नियत कर दीजिए। ६ घन्टों तक अनन्य निष्ठा से धर्म्माविरोधी अर्थोपार्ज्जन कर्म्म का अनुष्ठान कीजिए। ६ घन्टों में भ्रमण, मनोविनोद, शिष्टाचारसम्मत, उपहास आदि लक्षण मनोविनोद, तथा तत्त्वदर्शन कीजिए, एवं ६ घन्टों तक विश्राम कीजिए। द्विजातिवर्ग (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिए यह चतुर्द्धावर्गीकरण जहां श्रेष्ठ पक्ष माना जायगा, वहां चौथे वर्ण के लिए '८-८-८' के क्रम से तीन विभाग भी ग्राह्य समझे जायँगे। आठ घन्टे सोना, आठ घन्टे अर्थोपार्ज्जन करना, तथा आठ घन्टों में यथा सम्भव ईश्वर संस्मरण, तथा मनोविनोद करना। समय

के इस वर्गीकरण के बिना कथमपि हम अपनी अध्यात्मसंस्था को सुखी नहीं बना सकते। इस सुख प्राप्ति के लिए आवश्यक रूप से सर्व प्रथम हमें अपनी अर्थ प्रवृत्ति को सीमित बनाना पड़ेगा, जैसा कि आरम्भ में हीं निवेदन किया जा चुका है। ऐसी अर्थ प्रवृत्ति, ऐसा अर्थोपार्ज्जन कर्म्म ही 'स्वस्त्ययन' कर्म्म कहलाएगा।

जीवन को स्वस्तिभाव पूर्वक प्रवाहित रखने वाले (ले जाने वाले), अतएव 'स्वस्त्यन' नाम से प्रसिद्ध, अबतक बतलाए गए १—उत्थान, २—ईश्वरस्मरण, ३—शौच, ४—दन्तधावन, ५—स्नान, ६—सन्ध्यादि नित्यकर्म्म, ७—वस्त्र ८—भोजन, ९—अर्थोपार्ज्जन, इन नौ कर्म्मों के अतिरिक्त शयन, गमन, व्यवहार, शिष्टाचार, आदि से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ एक सामान्य स्वस्त्ययन कर्म्म और बच रहते हैं। प्रकरण आवश्यकता से अधिक विस्तृत होता जा रहा है। अतः उन सामान्य कर्म्मों की उपपत्ति का भार विज्ञ पाठकों के ऊपर छोड़ कर उनकी गणना मात्र उद्धृत कर दी जाती है—

१०—शयन विविधप्रसंग—

१—पांव गीले करके न सोवे, २—उत्तरदिशा की ओर मस्तक करके न सोवे, ३—टूटी खाट पर न सोवे, ४—अग्निदग्ध, विद्युद्दग्ध खट्वा पर न सोवे, ५—ढीली खट्वा पर न सोवे, ६—मलिन शय्या पर न सोवे, ७—फटी शय्या पर न सोवे, ८—कर्कश शय्या पर न सोवे, ९ हाथों का तकिया बनाकर न सोवे, १०—हाथों को छाती पर रख के न सोवे, ११—पैरों को सिकोड़ कर न सोवे, १२—मुख ढाँप कर न सोवे, १३—सिरहाने, पैरों के पास, शय्या के आस-पास प्रज्वलित दीपक रख कर न सोवे, १४—पुष्पमाला लेकर न सोवे, १५—स्त्री के साथ न सोवे, १६—दिन में न सोवे, १७—प्रातः-सायं-सन्ध्या में न सोवे, १८—सब वस्त्र पहिन कर न सोवे, १९—नग्न होकर न सोवे, २० झूलने में न सोवे, २१—फर्च पर न सोवे, २२—अंगड़ाई लेता हुआ न सोवे, २३—पर्वत मस्तक पर न सोवे, २४—नदीतट पर न सोवे, २५—नौका में न सोवे, २६—आर्द्रस्थान पर न सोवे, २७—(रात्रि में) वृक्ष के नीचे न सोवे, २८—गवाक्षमार्ग, क्षुद्रमार्ग आदि को अवरुध करके न सोवे, २९—श्मशान भूमि, शून्यगृह, देवालयों में न सोवे, ३०—स्त्री-समुदाय मे न सोवे, ३१—हास्योपहासरत चपल व्यक्तियों के मध्य में न सोवे, ३२—खुली छत पर बिना शय्या के न सोवे, ३३—अशुचि प्रदेशों में न सोवे, ३४—ग्रहण के समय न सोवे, ३५—दुःसाध्य रोगी की परिचर्य्या करते हुए न सोवे, ३६—वृद्ध, पूज्य कुटुम्बियों से पहिले न सोवे, ३७—पशुशाला में न सोवे, ३८—केश, तुष, कपाल, अस्थि,

भस्म, अङ्गार, आदि से युक्त स्थानों में न विश्राम करे, न सोवे, ३६—सत्वयुक्त गर्भादि के समीप, वल्मीकवपा के समीप, चतुष्पद के समीप न सोवे, ४०—सोने से पहिले अपने दिनभर के शुभाशुभ कर्म्मों का समतुलन करते हुए, अशुभ कर्म्मों के लिए आत्मपरिताप लक्षण भर्त्सना करते हुए, आगे से ऐसे कर्म्मों से बचने की प्रतिज्ञा करते हुए ईश्वर संस्मरण करे, तदनन्तर शान्ति पूर्वक शयन करे।

११—रतिप्रसङ्ग—

१—दिन में भूलकर भी रतिप्रसङ्ग न करे, २—ब्राह्ममुहुर्त्तोपलक्षित उषाकाल में रतिप्रसङ्ग न करे, ३—रतिसमय में शय्या पर पहिले दाहिना पांव रक्खे, ४—आतुर बनकर रतिप्रसङ्ग न करे, ५—बुभुक्षित दशा में रतिप्रसङ्ग न करे, ६—निद्रावस्था के मध्य में जगकर रतिप्रसङ्ग न करे, ७—चटकविधि से रतिप्रसङ्ग न करे, ८—उठता-चलता-बैठता रतिप्रसङ्ग न करे, ९—भयावस्था में रतिप्रसङ्ग न करे, १०—रोगदशा में रतिप्रसङ्ग न करे, ११—अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, श्राद्धदिन, जन्मदिन, व्रतदिन, आदि दिनों में रतिप्रसङ्ग न करे, १२—देवमन्दिर, श्मशान भूमि, वृक्षमूल, परगृह, आदि स्थानों में रतिप्रसङ्ग न करे, १३—व्यर्थ वीर्य्यपात न करे, १४—मलिना स्त्री से स्वयं मलिनावस्था में रतिप्रसङ्ग न करे, १५—हीनाङ्गी, अधिकाङ्गी, कुमारी, रजस्वला, रोगार्त्ता, ब्राह्मणजाया, वयोऽधिका, गर्भिणी स्त्रियों से भूलकर भी रतिप्रसङ्ग न करे, १६—परदाराभिगमन से अहि की तरह बचता रहे, १७—पुंश्चली, कुलटा, दरिद्रा, विधवा, आश्रिता, सेविका, आदि से रतिप्रसङ्ग न करे, १८—प्रसङ्गानन्तर सद्यः स्नान न करे, १९—प्रसङ्गानन्तर दुग्ध, सर्पिआदि बल-वीर्य्यप्रद पेय पदार्थों का अवश्य सेवन करे, २०—परोक्ष मे रतिप्रसङ्ग करे, २१—किसी को मिथुन भाव में देखने की चेष्टा न करे, २२—वृथा कामचेष्टाएँ न करे, २३—कामविषयक हास-परिहासों से बचता रहे, २४—वेगों का निरोध न करे।

१२—शिष्टाचार (सभ्यता, मनुष्यता) प्रसङ्ग—

१—माता, पिता, आचार्य, ज्येष्ठ भ्राता, ज्येष्ठ भगिनी, सास, ससुर, मातृ पितृकुल के अन्य वृद्ध पुरुषों का प्रणामादि से सम्मान करे। २—देश-राष्ट्र-विश्व के विद्वानों का आदर करे। ३—सम्पन्न, कुलीन, प्रतिष्ठाप्राप्त संभाव्यजन, आदि का सत्कार करे, इन से सहयोग बनाए रक्खे। ४—समाज के शिष्ट पुरुषों के गुणों का, इनके उदात्त आदेशों का ही अनुगमन

करे, उनके मानव सुलभ दोषों की न तो समालोचना करे, एवं न अनुकरण। ५ यदि कोई विद्वान्, कुलीन, सम्पन्न, भद्र पुरुष घर में आवे, तो तृण (आसन), जल, मधुरवाणी, भद्र-व्यवहार आदि से उन्हें पूर्ण सन्तुष्ट रखने का यत्न करे। ६—यदि कोई भारवाही स्वभारवहन में असमर्थ है, तो उसे सहयोग देवे। ७—अनाथ, पीड़ित, दुःखी, दरिद्री, आदि असमर्थ पुरुषों की तन-मन-धन से यथाशक्ति सहायता करे। ८—अपने सम्मान्य पुरुष, तथा मानार्ह माता आदि स्त्रियों के सामने बड़े विनीत भाव से, विनययुक्त वाणी से उपस्थित रहे। ९-अन्ध, वधिर, कुब्ज, वामन, पण्ढ, मूक, विकृताङ्ग, उन्मत्त, वामन (बौना), आदि का उपहास न करे। १०—शरीरयष्टि को मोड़ता न रहे। ११—चक्षु, नासिका, मुख, हाथ, पैर आदि अवयों से विकृत कुचेष्टाएं न करे। १२—छोटी ऊमर के बच्चों से मैत्री न करे। १३—निष्प्रयोजन अट्टाट्टहास न करे। १४—स्त्रियों से विवाद न करे। १५—अशुभ, अश्लील, त्रुटित. स्खलित, उद्दण्डतापूर्ण, असभ्य भाषा का प्रयोग न करे। १६—मस्तक टेढा करके, पांव पर पांव रख के, दोनों पैरों को छाती से मिला के, गोडी डाल के, पैर लम्बे पसार के, हाथों में ग्रन्थि (अलवेटा) लगा के, अङ्गुलियों को मोड़ के, दोनों हाथों को दण्डवत् खड़ा कर मिला के, कभी न बैठे। १७—शिष्ट, पूज्य पुरुषों की भर्त्सना पर भूल कर भी उन्हें उद्दण्डतापूर्वक प्रत्युत्तर न दे। १८—भोजन के समय झुंझलाना, बात-बात पर बिगड़ जाना, क्रोधावेश में आकर भोजन का तिरस्कार कर देना, भूमि पर पैर पटक-पटक कर चलना, भ्रूभङ्गी को विकृत कर लेना, अवाच्य वाणी का प्रयोग करना, इत्यादि असभ्यता सूचक, विनयभाववञ्चित महा अमाङ्गलिक दोषों से बचता रहे। १९—दुष्ट, हीनाचार, पतित भृत्यवर्ग, उन्मत्त, मद्यपी, क्रोधी, लोभी, नास्तिक, स्त्रीवशवर्त्ती, स्नेहातिविह्वला माता की सन्तान, आदि से कोई सम्पर्क न रक्खे। २०—गर्ज्जन-तर्ज्जन-पुरस्सर लड़ते हुए सांढ़ों को देखने न दौड़े। २१—शृङ्खला तुड़ाकर भागते हुए हाथी को देखने न दौड़े। २२—कलह करते हुए कुटुम्बियों की चर्चा में हस्तक्षेप न करे। २३—पागल मनुष्य की ओर दृष्टि जमा कर न देखे। २४—पाकशाला, शयनगृह, गमनागमन मार्ग, (सोपान-सीढ़ियां), अग्निस्थान, अग्नि, जलस्थान, जल, अतिथिशाला, धर्म्मशाला, व्याख्यान भवन, पाठशाला, वापी, कूप, तड़ाग, देवमन्दिर, दिव्यवृक्ष, पथिकमार्ग, आदि स्थानों मे उपेक्षा से अमेध्यपदार्थ (कूड़ा-कचड़ा, विषैली ओषधियां, बासी भोजन, कफ, थूक, लाला, पीक आदि) न डाले। २५—सर्प, हिंस्रक पशु-पक्षी कीटादि, शस्त्र (चाकू छुरी कटार आदि) आदि से विनोदपूर्वक क्रीड़ा न करे। २६—अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए कभी चाटुकार न बने। २७—दूसरों के दोषों की समालोचना न करे। २८—

रक्खे। ४४—अप्रिय भाषण न करे। ४५—एकान्त में स्त्रियों से सम्भाषण न करे। ४६—स्त्रियों का भूल कर भी अपमान न करे। ४७—बच्चों के शिरः प्रदेश में कभी ताड़न न करे। ४८—देव, ब्राह्मण, शास्त्र, गुरु, सम्मान्य पुरूष, महात्माओं की निन्दा, मीमांसा, समालोचना न करे। ४९—किसी के वैभव को देखकर ईर्षा न करे ५०—परगुणों[1] का विस्तार से बखान करे। ५१—गौ, ब्राह्मण, हस्ति, फल, अन्न, दुग्ध, श्वेतवस्तु, सरसों, कमल, पुष्प, छत्र, कन्या, रत्न, उष्णीष (पगड़ी) श्वेतवैल, मद्य, सपुत्रा नारी, प्रज्वलित दक्षिणावर्त्त अग्नि, दर्पण, अञ्जन, धौतवस्त्र, मत्स्य, घृत, सिंहासन, शव (मूर्दा), मधु, बकरी, शस्त्र, गोरोचन, भारद्वाज (शकुन चिड़िया), नीलकण्ठ, पालकी, वेदध्वनि, मङ्गल गीतध्वनि, विष्ठा का टोकरा, देवप्रतिमा, वरवधू, जाताहुआ रिक्त घट, जलपूर्ण घट, वामभागस्थ चील, आर्द्र (हरित), शाक, वीणा, चन्दन, आर्द्र गोमय (गीला गोबर), चामर, गणिका (वेश्या), बिल्ववृक्ष, अश्व, इन में से किसी को सामने आया देख कर ही किसी विशेष कार्य्य सिद्धि के लिए घर से गमन करे। ५२—वन्ध्या स्त्री, विधवा स्त्री, चमड़ा, भूसा, अस्थि, सर्प, लवण, अङ्गार, नपुंसक, मार्गपतित विष्ठा, तैल, उन्मत्त, चर्बी, औषधि, शत्रु, संन्यासी (मुण्डी), जटी, तृण, रोगी, नग्न, तैलाभ्यक्त मनुष्य, क्षीणाङ्ग, भिखारी, रजस्वला, भगवांवस्त्र, गुड़, छाछ, पङ्क (कीचड़) कलह करते हुए कुटुम्बी, वस्त्र चीरता हुआ मनुष्य, रूई, वान्ति, क्रोधी, गाली देता हुआ मनुष्य, छाणों, मार्ज्जार, आता हुआ रिक्तघट, शव ले जाने के उपकरण (कफन-काठी आदि), भस्म, कपासरज्जू, शुक्र के शास्त्री, वामन, अन्ध, कुब्ज, बधिर, काण, कुष्ठी, लोकायतिक (चार्वाक) इन में से किसी को भी सामने आया देख कर विशेष कार्य्य सिद्धि के लिये घर से निकले हुए व्यक्ति को वापस लौट आना चाहिए। थोड़ी देर विश्राम कर इष्टदेवता का स्मरण कर मङ्गल मनाते हुए पुनः घर से निकलना चाहिये।

अत्यावश्यक स्वस्त्ययन कर्म्म-

सर्वान्त में अत्यावश्यक, महामङ्गलप्रद निम्न लिखित कतिपय स्वस्त्ययन कर्म्मों का अनुगमन नितान्त आवश्यक समझना चाहिए। इनके परित्याग से ही आज हमारा देश वैभवशून्य बन रहा है। १—सम्पत्ति के लिए हमनें उद्योग किया, परन्तु कारणवश हमें उसमें सफलता न मिली। अथवा हम पहिले से ही

---

१ मनसि वचसि काये पुण्य पीयूषपूर्णा, त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः पूरयन्तः।
परगुण परमाणून् पर्वती कृत्य नित्यं, निजहृदि विलसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः॥

निर्धन हैं, एवं निर्धनतावश हमें अनेक प्रकार के कष्ट सहने पड़ रहे हैं। अथवा हम अहोरात्र श्रम करते हैं, फिर भी हमारा आर्थिक सङ्कट दूर नहीं होता। अथवा हमने प्रज्ञापराध से पूर्वपुरुषों द्वारा, तथा अपने द्वारा सञ्चित धन खो दिया। इन सब परिस्थितियों के रहने पर भी, कभी भी, भूल कर भी अपने मुख से—"मैं मन्दभागी हूँ, गरीब हूँ, मजदूर हूँ, दुःखी हूँ, विपत्ति पीछा हो नहीं छोड़ती, बड़े सङ्कट में हूँ, कोई मदद नहीं करता" इन अशुभ वाक्यों का उच्चारण नहीं करना चाहिए। इनके उच्चारण से आत्म-देवता का स्वाभाविक विकास दब जाता है। और परिणाम स्वरूप यदि भविष्य में हमारा भाग्योदय होने वाला भी है, तो वह भी इस 'न-न' लक्षण असद्भावना से एकान्ततः अवरुद्ध हो जाता है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि, हम (आर्षप्रजा) सत्तालक्षण 'अस्ति' ब्रह्म के उपासक हैं। प्रत्येक कार्य्य में, प्रत्येक दशा में-"सब कुछ है, किसी की कमी नहीं है, भगवान् के अनुग्रह से सब आनन्द है" इन अस्तिलक्षण वाक्यों की ही तो प्रयोग करना चाहिए, एवं सदा 'अस्ति, अस्ति' की ही भावना रखनी चाहिए। यही आस्तिकता है, यही हमारी प्रतिष्ठा है। यही हमारे विकास का अन्यतम साधन है। मृत्युलक्षणपर्य्यन्त हमें सदा मङ्गल कामनाओं का ही अनुगमन करना चाहिए। किसी भी लौकिक, पारलौकिक सम्पत्ति के सम्बन्ध में यह निर्वीर्य्य भावना नहीं रखनी चाहिए कि, "अजी! हमारे भाग्य में ऐसा होना कहां लिखा है, हम तो सदा के दुःखी है, और सदा दुःखी रहेंगे"। अपितु ठीक इसके विपरीत-"हम आनन्दघन परिपूर्ण ब्रह्म के अंश हैं, हमारे लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है" यही सद्भावना रखनी चाहिए। विश्वास कीजिए, सुख-दुःख, दरिद्रय, सम्पन्नता, सबका हमारे भावमय मनोराज्य से सम्बन्ध है। 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो योयच्छ्रद्धः स एव सः' के अनुसार हम जैसी भावना रक्खेंगे, तदनुरूप ही बाह्य जगत् अनुकूल, तथा प्रतिकूल रहेगा। यदि हम सम्पत्ति के अभाव में वस्तु गया, अथवा सम्पत्ति रहते हुए भी अधिक स्वार्थ साधन की दृष्टि से अपने आपको दरिद्री घोषित करते रहे, तो एक दिन इस 'न-न' की उपासना से हम सब कुछ खो देंगें। इसलिए—

१—नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनांमन्येत दुर्लभाम्॥
—मनु ४।१३७

२—असन्नेव स भवति, असद्ब्रह्मेति वेदचेत्।
'अस्ति' ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः॥

का ढंग ऐसा मधुर बनाओ, जो समाज में उद्वेग पैदा न करे ; कर्णकटु प्रतीत न हो, उद्दण्डता को अपने गर्भ में न रक्खे। अपितु बड़े सौम्यभाव से, हानि-लाभ के समतुलन द्वारा स्वयं उन्हें यह विश्वास अनुभव कराते हुए कि, सचमुच हम अनुचित कर रहे हैं, बुरा कर रहे हैं, सत्य का अभिनय करो।

'किसी को कड़ुआ लगे, ऐसा सत्य नहीं बोलना चाहिए' इस वाक्य का यह तात्पर्य्य नहीं है कि, हम सत्य बोलना बंद कर दें, एवं उसके स्थान में उन्हें प्रिय लगने वाला अनृत-भाषण किया करें। सम्भव है, कोई (सामान्य मनुष्य) मनु के इस आदेश का उक्त तात्पर्य्य लगाता हुआ अनृतभाव को भी अच्छा कहने लगे, इसीलिए आगे जाकर मनु को कहना पड़ा कि- 'प्रियं च नानृतं ब्रूयात्'। "अमुक व्यक्ति हमारे सच सच बोलने से बुरा मान जायगा, इस लिए हमें सच न कह कर उसे प्रिय लगने वाली झूठ ही बोलनी चाहिए" इस भावना को मूल बना कर, साथ ही में-'न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' के उक्त तात्पर्य्य को न समझने के कारण आज हम अधिकांश में सामाजिक, वैय्यक्तिक, प्रातिस्विक दोषों को सुनने, सुनाने में असमर्थ हो गए हैं। न किसी को हम स्पष्ट कह सकते, न किसी का स्पष्टकथन सुन सकते। परिणाम इस सत्य-हनन का यह हो रहा है, कि हमारे दोष उत्तरोत्तर वृद्धिगत होते हुए हमारे आमूल-चूड़ पतन के कारण बन रहे हैं। "अमुक व्यक्ति बहुत धनिक है, अमुक व्यक्ति बहुत विद्वान् है, अमुक व्यक्ति आचार्य है, भला हम उन्हें कैसे क्या कह सकते हैं" इस भावना ने अवश्य ही आज हमारे नैतिक बल का सर्वनाश कर रक्खा है। कुछ तो स्वार्थरक्षा की दृष्टि से, एवं कुछ सामाजिक प्रतिष्ठा विच्युति के भय से आज हम दिन-दहाड़े प्रिय अनृत का आश्रय लेते हुए सत्य की हत्या कर रहे है। ऐसा करते हुए हम मनु के 'एष धर्म्मः सनातनः' इस आदेश की उपेक्षा कर धर्म्मवृषभ पर प्रहार कर रहे हैं। सत्य परिस्थिति अवश्य ही सामने रक्खी जाय, शिष्टभाषा में, शिष्ट पद्धति से, दुर्भावना को छोड़ते हुए अवश्य ही सचाई का आश्रय लिया जाय, यही सनातनधर्म्म की मूल प्रतिष्ठा का कारण होगा। एवं ऐसा प्रतिष्ठित धर्म्म ही हमारी प्रतिष्ठा का कारण बनेगा। अप्रिय अनृतमूला चापलूसी करते करते आज हमने अपने आत्मविकास की हत्या तो कर ही दी है, इसके साथ ही अपने प्रतिष्ठित विद्वानों, सन्तमहन्तों, आचार्यों, धनिकों की भी आदतें बिगाड़ डालीं हैं। आज ये अणुमात्र भी अपने दोषों का स्पष्टीकरण सहन नहीं कर सकते। परिणामतः इनके द्वारा समाज का कोई मौलिक हितसाधन नहीं हो रहा। इस लिए—

सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात्, एष धर्म्मः सनातनः॥ —मनुः ४।१३८

३—तीसरा स्वस्त्ययन कर्म्म 'भद्रवादन' है। अधिकाश में आज हम लोग खाते-पीते, सोते-उठते-बैठते-चलते-फिरते-अभद्रभावों, तथा अभद्रशब्दों का ही प्रयोग देख-सुन रहे हैं। अशुभ कल्पनाओं नें, एवं अशुभ शब्दों ने घर कर रक्खा है। पद-पद पर चिन्ता, भय, मोह, ईर्ष्या, लोभ, क्रोध, छल, कपट, आदि अशुभ अभद्रभावों का आश्रय लिया जा रहा है। "अब क्या होगा, अब कैसे होगा, अब क्या करें, कहीं ऐसा न हो जाय, बीमार न हो जायँ, भूकम्प न हो जाय, अकाल न पड़ जाय, सम्पत्ति कम न हो जाय," इस प्रकार की अशुभ-वाणियों से स्वयं अपने लिए, एवं—"राम करे उसका सत्यानाश हो जाय, वह सर्वथा नीच है, वह महा स्वार्थी है, वह महा कृपण है, वह महा दुराचारी है" इस प्रकार की अशुभ-वाणियों से दूसरों के लिए हमारा मुखारविन्द सदा सुशोभित बना रहता है। अपने लिए बुरी भावनाएं, बुरे शब्द बोलना, दूसरों के लिए कुत्सित भावना रखना, एवं अभद्र-अशिष्ट वाणी का प्रयोग करना, इन दोनों कर्म्मो से हमारा ही अनिष्ट होता है। हमारे ही आत्मा का श्रेयोभाव निकल जाता है। इसलिए हमें अपने लिए, तथा दूसरों के लिए सदा भद्र-भावना, एवं भद्रवाणी का ही अनुगमन करना चाहिए—'भद्रं भद्रमिति ब्रूयात् भद्र-मित्येव वावदेत्' —मनु।

४—प्रायः देखा गया है कि, हम निष्प्रयोजन, बिना किसी उद्देश्य के चाहे जिससे तो विवाद कर बैठते हैं, एवं चाहे जिसे अपना शत्रु बना लेते हैं। एक नहीं, दो नहीं, सैकड़ों उदाहरण आपको ऐसे मिलंगे, जिनमे विवाद करने वालों को परिणाम मे सिवाय हानि के और कोई लाभ नहीं होता, परन्तु आदतन वे विवाद, तर्क-कुतर्क करते हुए मनोमालिन्य-वृद्धि के कारण बन जाते हैं। इसी प्रकार किसी के वैभव की वृद्धि देख कर, विद्या का विकास देख कर, लोक प्रतिष्ठा देख कर निष्कारण ही हम उससे शत्रुता कर बैठते हैं। हमारी सारी शक्तियां इसी जघन्य कर्म्म की ओर लग जाती हैं कि, हम कैसे इसे नीचा दिखावें, कैसे इसे अपमानित करें। अपनी इस पापमयी दुर्वासना को पूरी करने के लिए हम अनेक षड्यन्त्रों का आश्रय लिया करते हैं। नई नई असत् कल्पनाओं के प्रचार से उसे गिराने का प्रयास करने लगते हैं। इसलिए यह बहुत ही आवश्यक है कि, अपने कल्याण के नाते न तो हम किसी से विवाद करें, एवं न शुष्कवैर का अनुगमन करें—'शुष्कवैरं विवादं च न कुर्य्यात् केनचित् सह' —मनुः

उपर्युक्त स्वस्त्ययन कर्म्मों के अतिरिक्त अभी सैकड़ों स्वस्त्ययन कर्म्म और बच रहते हैं, जिनका शास्त्रपरिशीलन से, शास्त्र रहस्यवेत्ता ब्राह्मणों से परिचय प्राप्त करना चाहिए। अनन्त लक्षण महामहिममयी प्रकृति के गर्भ मे रहने वाले अनन्त शुभाशुभभावों का विशकलन करने वाला शास्त्र भी अनन्त है। उसके आदेश भी अनन्त हैं। हम उस अनन्त (ब्रह्म) की सन्तान हैं। सर्वत्र सब दशाओं मे आनन्त्य लक्षण भूमा ही हमारा प्रधान उपास्य देवता है। अल्पता मृत्यु है, भूमा अमृत है। अमृतोपासक आर्यसन्तान की दृष्टि मे जहा अमृत-अनन्त-लक्षण ये अनन्त शास्त्रादेश स्वस्तिभाव के कारण बनते हुए उपादेय हैं, वहा मृत्यु-पासक अनार्य प्रजा की दृष्टि मे मृत्यु आदि लक्षण अशाश्वत-अमङ्गल भाव ही उपादेय बन रहे हैं। अनार्य्यों की दृष्टि मे अनन्त स्वस्त्ययन कर्म्म, एव तत् प्रतिपादक अनन्त शास्त्र जहा एक व्यर्थ का आडम्बर है, वहा आर्यसन्तति के लिए यह आनन्त्य महामङ्गलप्रद है, जिसकी उपेक्षा से हमने अपने स्वाभाविक स्वस्तिभाव को खो दिया है। स्वस्त्ययन कर्म्मों के अनुगमन से क्या होता है अब सर्वान्त मे सक्षेप से इस प्रश्न की भी मीमासा कर लीजिए।

उक्त 'स्वस्त्ययन' कर्म्मों के आचरण से अध्यात्मसस्था की स्वरूप रक्षा होती हैं। ये कर्म्म पुष्टिकर नही हैं, अपितु पतन से बचाना इनका मुख्य उद्देश्य है। अतएव इनका कोई दृष्टफल दृष्टिगोचर नहीं होता। कहना न होगा कि अविद्यावश आज का भारती समाज इन स्वस्त्ययन कर्म्मों का महत्त्व न समझने के कारण क्रमश इनका परित्याग करता जा रहा है। परिणाम इस अविवेक का यह हो रहा है कि, आज हमारी आध्यात्मिक संस्थाओं में से स्वस्तिभाव निकल गया है। आत्मा की स्वाभाविक स्थिरता नष्ट हो चुकी है। सदा आत्मा चिन्ताग्रस्त रहता है। स्वस्त्ययन कर्म्मों के अनुगामी हमारे पूर्वज जहा कम-से-कम परिग्रह साधनों से भी सदा सुखी, शान्त रहते थे, वहा आज इन कर्म्मों के परित्याग कर देने से विपुल साधन-सम्पत्ति के रहते पर भी हम त्राहि-त्राहि कर रहे हैं। विवेकशील पाठक उक्त स्वस्त्ययन कर्म्मों का तात्विक स्वरूप समझते हुए अवश्य ही यह स्वीकार करेंगे कि, स्वस्त्ययन सम्बन्धी कर्म्म आत्मा के तो उपकारक है हीं, साथ ही इन से शरीर-स्वास्थ्य की भी पूरी पूरी रक्षा होती है। यही कारण है कि, स्वास्थ्याचार्य्यों ने अपने स्वास्थ्य ग्रन्थों मे इन्हे भी चिकित्सा कर्म्म ही माना है, जैसा कि निम्न लिखित 'अग्नि-वेश' वचनों से स्पष्ट हो रहा है—

परसम्मति—

१— नरो हिताहारविहार सेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥

२—मतिर्वचः कर्म्म सुखानु बन्धि सात्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः।
ज्ञानं तपस्तपरता च योगे यस्यास्ति'तं नानुतपन्ति रोगाः॥
—चरक सं० शारीरस्थान, अतुल्यगोत्रीय शारीराध्याय २-४६-४७।

३—आदित एवाचार्याभिगमनं, तस्योपदेशानुष्ठानं, अग्नेरेवोपचर्य्या, धर्म्मशास्त्रानुगमनं तदर्थावबोधः, तेनावष्टम्भः, तत्र यथोक्ताः क्रियाः, सतामुपासनं, असतां परिवर्जनं, असङ्गतिर्दुर्जनेन, सत्यं-सर्वभूतहितं-अपरुषं-अनतिकाले-परीक्ष्यवचनं, सर्वप्राणिस्वात्मनीवावेक्षा, सर्वासां-अस्मरण-असंकल्पन-अप्रार्थना-नभिभाषणं चं स्त्रीणां, × × × इत्युदयनानि व्याख्यातानि।

एतत् सौम्य! विज्ञानं यज्ज्ञात्वा मुक्तसंशयाः।
मुनयः प्रशमं जग्मुर्वीत मोहरजःस्पृहाः॥
—चरक शा०।

आचारात्मक इन स्वस्त्ययन कर्म्मों का अनुगमन कितना आवश्यक है? यह स्पष्ट करने की अब कोई आवश्यकता न रही। सम्पति, प्रजा, अनुचर, यश, कीर्ति, विद्या, आरोग्य, दीर्घायु, आदि की अपेक्षा हो, वे इनका श्रद्धा-विश्वास पूर्वक अनुगमन करें, एवं जो महानुभाव दारिद्रय, प्रजा-अभाव, अपयश, अपकीर्ति, अविद्या, रोग, अल्पायु, चिन्ता, अशान्ति, क्षोभ आदि से स्नेह करते हों वे अवश्य ही इन का परित्याग करदें। शास्त्र का काम है, दोनों मार्ग बतला देना। अब इस सम्बन्ध में शास्त्र इसके अतिरिक्त और क्या आदेश करेगा—'यथेच्छसि, तथा कुरु,।'

श्रुति-स्मृत्युदितं सम्यग् साधुभिश्च निषेवितम्।
तमाचारं निषेवेत धर्म्म कामो जितेन्द्रियः॥ १॥
आचाराल्लभते चायु, राचारादीक्षितां गतिम्।
आचाराद्धनमक्षय्य माचाराद्धन्त्यय लक्षणम्॥ २॥
सर्वलक्षण हीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।
श्रद्दधानोऽनुसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥ —विष्णुः।

इति—स्वस्त्ययन कर्म्माणि।

४—आत्मनिबन्धनषट्कर्म्म

जिन सांस्कारिक षट् कर्म्मों का, तथा उदर्क निबन्धन षट् कर्म्मों का पूर्व प्रकरणों में क्रमशः दिग्दर्शन कराया गया है, उन सब का, एवं आगे क्रमशः बतलाए जाने वाले लोक-वेद निबन्धन, धर्म्मशास्त्र निबन्धन, गीता निबन्धन षट् कर्म्मों का आत्मा से ही प्रधान सम्बन्ध है। आत्मा (भूतात्मा, कर्म्मात्मा, भोक्तात्मा[1]) ही तो इन्द्रियवर्ग, प्रज्ञानज्ञानलक्षण सर्वेन्द्रियमन, विज्ञानज्ञानलक्षणा बुद्धि, तथा पाञ्चभौतिक शरीर के सहयोग से यच्चयावत् कर्म्मों की स्वरूप निष्पत्ति का कारण बनता है। ऐसी स्थिति में यद्यपि संस्कार, उदर्क, वेदलोक, धर्म्मशास्त्र निबन्धन, सभी कर्म्म षट्कों को 'आत्मनिबन्धनकर्म्म' कहा जा सकता है, कहना चाहिए, कहा जाता है। तथापि एक विशेष दृष्टिकोण को लेकर प्रकृत प्रकरण मे बतलाए जाने वाले ६ कर्म्मों को ही प्रधान रूप से आत्मनिबन्धन कर्म्म मान लिया गया है।

आत्मा के प्रातिस्विक कर्म्म-

इसी विशेषदृष्टि के कारण इतर कर्म्मषट्कों को 'आत्मनिबन्धनकर्म्म' न कह कर इन निरूपणीय कर्म्मों को ही 'आत्मनिबन्धनकर्म्म' नाम से व्यवहृत करना आवश्यक समझा गया है। एवं उस विशेष दृष्टि का स्वरूप है—'आत्मा के प्रातिस्विककर्म्म'। आत्मा के द्वारा सांस्कारिक, उदर्क्, लोकवेदादि कर्म्मों का अनुष्ठान होता है। इस कर्म्मानुष्ठान की सिद्धि के लिए, दूसरे शब्दों मे उन कर्म्मों का अपने साथ सम्बन्ध करने के लिए, सम्बन्ध करने से पहिले, सम्बन्ध साधक कुछ एक अपने प्रातिस्विक कर्म्मों का आत्मा को अनुगमन करना पडता है। जब तक आत्मा अपने प्रातिस्विक कर्म्मों की इतिकर्त्तव्यता समाप्त नहीं कर लेता, तब तक यह इतर किसी बाह्य कर्म्म मे प्रवृत्त नहीं हो सकता।

दूसरे शब्दों मे यों भी कहा जा सकता है कि, वाह्यकर्म्मों मे प्रवृत्त होने से पहिले आत्मा का जो अन्तर्व्यापार है, (जिस अन्तर्व्यापार के अवान्तर ६ पर्वों में से कुछ एक पर्व तो आभ्यन्तर कर्म्मों के उपोद्बलक बनते हैं, एवं कुछ एक आगे जाकर बाह्य कर्म्म रूप मे परिणत हो जाते हैं) वही आत्मा का प्रातिस्विक कर्म्म है। निष्कर्ष यह निकला कि बाह्यकर्म्मों का (संस्कार-उदर्क-वेदलोक-धर्म्मशास्त्र निबन्धन कर्म्मों का) जिन आत्मकर्म्मों से सञ्चालन

---

१ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण ॥ —कठोपनिषत् १ अ०। ३ वल्ली। ४ म०

होता है, वे ही आत्मा के प्रातिस्विक कर्म्म कहलाए हैं। इतर प्रत्येक कम्म में इन आत्म निवन्धन ६ ओं कर्म्मों का समावेश रहता है। उदाहरण के लिए—'गर्भाधान' नामक पहिले संस्कार कर्म्म को ही लीजिये। जब तक आत्मा के ६ ओं कर्म्मों का सहयोग प्राप्त न होगा, तब तक 'सत्व' लक्षण गर्भाधान की ही स्वरूपनिष्पत्ति न होगी। छोटे से छोटे, एवं बड़े से बड़े, यच्चयावत् कर्म्मों की (प्रत्येक की) स्वरूपनिष्पत्ति आत्मनिबन्धन-षट्कर्म्म-सहयोग पर ही अवलम्बित है। इसी विशेषता से इनका पृथक् निर्देश करना आवश्यक समझा गया है।

आत्मा के तीन कर्म्म—

विद्या, तथा कर्म्म, इन दोनों के समन्वित रूप का ही नाम 'आत्मा' है। विद्या प्रधान वही आत्मा 'आनन्द-विज्ञान-मनोमय' है, एवं कर्म्मप्रधान वही आत्मा 'मनः-प्राण-वाङ्मय' है। विद्यामय आत्मा 'ज्ञानात्मा' है, कर्म्ममय आत्मा 'कर्म्मात्मा' है। हृदयस्थ, ज्ञानात्मगर्भित कर्म्मात्मा (अव्ययात्मा किंवा अव्यय के कर्म्म भाग) का भूतात्मा पर अनुग्रह होता है, एवं इस आत्मानुग्रह से हमारा भूतात्मा भी ज्ञानकर्म्ममय बनता हुआ 'ज्ञायते, अथच क्रियते' रूप से ज्ञान-कर्म्म का प्रवर्त्तक बन जाता है। जिस कर्म्मात्मा के अनुग्रह से यह भूतात्मा कर्म्ममय बनता है, कर्म्म में प्रवृत्त होता है, अथवा कर्म्म प्रवृत्ति में समर्थ होता है, वह मूलकर्म्मात्मा मनः-प्राण-वाक् भेद से चूंकि त्रिकल है, अतएव उस त्रिकल से सम्बन्ध रखने वाला कर्म्म भी त्रिकल ही होना चाहिए। एवं त्रिकल कर्म्मात्मानुगृहीत भूतात्मा का कर्म्म भी त्रिकल ही होना चाहिये। वे ही तीनों आत्मकर्म्म क्रमशः **'मानसकर्म्म-प्राणकर्म्म-वाचिककर्म्म'** नामों से व्यवहृत हुए हैं।

आत्मा के ६ कर्म्म—

इस तीनों कर्म्मों के (प्रत्येक के) आगे जाकर दो दो विभाग हो जाते हैं। **क्रतुकर्म्म, चेष्टाकर्म्म,** ये दोनो मानसकर्म्म हैं। **भावकर्म्म, संस्कारकर्म्म,** ये दोनों प्राणकर्म्म हैं। एवं **विकारकर्म्म, सत्त्वकर्म्म,** ये दोनों वाचिककर्म्म हैं। इस प्रकार तीन आत्मकर्म्मों के ६ आत्मकर्म्म हो जाते हैं। इनकी समष्टि ही 'आत्मनिवन्धनषट्कर्म्म' है। इन ६ ओं आत्मकर्म्मों का गीतामूलभाष्यान्तर्गत **'बुद्धियोग से विरोध न रखने वाले ज्ञान, कर्म्म, दोनों उपादेय हैं'** नाम की राजर्षि विद्या की ६ ठी उपनिषत् के **'ज्ञानयुक्त निवृत्तकर्म्म ज्ञानाग्नि के आश्रय से संस्कारलेपबन्धन के जनक नहीं बनते'** नामक तृतीय उपदेश में (गी० मू० भा० ४।१६ से ४।२२ पर्य्यन्त) विस्तार से निरूपण होने वाला है। यहां प्रकरणसङ्गति के लिए इनका केवल संक्षिप्त परिचय करा दिया जाता है।

'काम' (कामना, इच्छा) मन का रेत है, 'तप' प्राण का रेत है, एवं 'श्रम' वाक् का रेत है। कामरूप मन के रेत से क्रतु, चेष्टा, नामक दो मूल कर्म्मों का विकास होता है। इन दोनों में भी क्रतु सबे प्रतिष्ठा बनता हुआ सर्वमूल है। प्रत्येक कर्म्म (स्थूलकर्म्म) के उत्थान से पहिले एक अन्तर्व्यापार होता है। वही अन्तर्व्यापार चेष्टा (यत्न-कृति-कोशिश) नाम से प्रसिद्ध है। इस चेष्टाकर्म्मलक्षण अन्तर्व्यापार का उक्थ (प्रभव) 'क्रतु' नामक अन्तरतम व्यापार है। चेष्टा की प्रथमावस्था क्रतु है, क्रतु की उत्तरावस्था चेष्टा है। दोनों मनोमय एक ही अङ्कुर के द्विदल है। यही कारण है कि, आगे जाकर क्रतु-चेष्टा का यत्रतत्र पर्य्याय सम्बन्ध बन जाता है।

चेष्टाकर्म्म से पहिले-पहिले कर्म्म सर्वथा मुग्धावस्था (मुकुलितावस्था) में रहता है। चेष्टा के अन्तर ही कर्म्म भावदशा (अस्ति, दशा) में परिणत होता है। मुग्धावस्थापन्न मानस चेष्टाकर्म्म ही प्राणबल को साथ लेता हुआ 'भाव' रूप मे परिणत होता है, एवं यही तीसरा 'भावकर्म्म' नामक प्राणकर्म्म है। इसी भावकर्म्म के अनुग्रह से प्रज्ञानात्मा में अतिशयाधायक, 'संस्कार' रूप कर्म्म का उदय होता है। इसी के उदय से प्रज्ञान में 'अहंकरोमि' यह भाव जागृति होता है। संस्कार कर्म्म की प्रथमावस्था ही 'भावकर्म्म' है, एवं भावकर्म्म की उत्तरावस्था ही 'संस्कारकर्म्म' है। दोनों प्राणात्मक एक ही अङ्कुर के दो वृन्त है।

कर्म्म प्रवृत्ति किसी न किसी उद्देश्य को लेकर होती है, दूसरे शब्दों में कर्म्म किसी उद्देश्य सिद्धि के लिए ही किया जाता है। वह उद्देश्य एकमात्र अर्थ (पदार्थ) की स्वरूप निष्पत्ति ही है। अर्थ विकार सापेक्ष है। विकारसंघ ही वैकारिक अर्थ की स्वरूपनिष्पत्ति का कारण बनता है। भावकर्म्मजनित 'संस्कारकर्म्म' ही वाक्बल का सहयोगी बनता हुआ, इस वाक्-सहयोग से स्थूलरूप मे परिणत होता हुआ, अतएव विकारोत्पत्ति योग्य 'उक्थ' बनता हुआ विकार प्रवृत्ति का कारण बन जाता है। यही विकारसंघ आत्यन्तिक स्थूलावस्था में आकर 'सत्वकर्म्म' रूप में परिणत हो जाता है, जिसे कि 'पदार्थ' कहा जाता है। विकारकर्म्म सत्व (पदार्थ) कर्म्म की प्रथमावस्था है, एवं सत्वकर्म्म विकारकर्म्म की उत्तरावस्था है। दोनों एक ही वाङ्मय अङ्कुर के दो पत्र हैं।

विश्व में जितने भी स्थूलपदार्थ है, प्रत्येक-'अर्थ क्रियाकारित्वंसत्' इस 'नास्ति-दर्शन' सिद्धान्त के अनुसार कर्म्म के पुद्गलमात्र है। विकार कर्म्मों का पुद्गल (संघ-राशि) ही 'अर्थ', किंवा 'पदार्थ' है। यह 'पदार्थ' उस मूलभूत क्रतुकर्म्म का ही चरम परिणाम है, चरम विकार है। जिस आत्मकर्म्म सन्तान का क्रतु से उपक्रम हुआ था, पदार्थरूप सत्वकर्म्म पर उस सन्तान

धारा का निधन (अवसान) है। किसी भी भौतिक पदार्थ को ले लीजिए। स्वयं, भौतिक पदार्थ 'सत्वकर्म्म' है, इस के मूल में विकारकर्म्म प्रतिष्ठित है, विकार के गर्भ में संस्कारकर्म्म प्रतिष्ठित है, संस्कार के गर्भ में भावकर्म्म प्रतिष्ठित है, भावकर्म्म के गर्भ में चेष्टाकर्म्म प्रतिष्ठित है, सर्वान्त में सर्वमूल भूतक्रतुकर्म्म इन पांचों का मूल बना हुआ है। इन ६ ओं कर्म्मों का मूल कर्म्मात्मा की कामना है, कामना का मूल ज्ञानजनित इच्छातन्त्र में ये ६ ओं, आत्मा-निबन्धन कर्म्म प्रतिष्ठित हैं।

आत्मा के आठ पर्व—

ज्ञान से आरम्भ कर सत्वकर्म्म-पर्य्यन्त विभक्त-"ज्ञान[1]-इच्छा[2]-क्रतु[3]-चेष्टा[4]-भाव[5]-संस्कार[6]-विकार[7]-सत्व[8]-" इन आठ पर्वों का आगे जाकर विद्वानों ने-ज्ञान-इच्छा-क्रतु-कर्म्म" इन चार ही पर्वों में अन्तर्भाव कर लिया है। ज्ञान, तथा इच्छा, इन दोनों का एक स्वतन्त्र विभाग है। क्रतु, चेष्टा, भाव, तीनों का एक स्वतंत्र विभाग है। एवं संस्कार, विकार, सत्व, इन तीनों का एक स्वतंत्र विभाग है। ज्ञान स्वतन्त्र है, इच्छा स्वतन्त्र है। क्रतु-चेष्टा-भाव, तीनों सजातीय हैं, एवं संस्कार-विकार-सत्व, ये तीनों सजातीय हैं। अतएव क्रतु सजातीय चेष्टा, तथा भाव, दोनों का तो क्रतु में अन्तर्भाव कर लिया जाता है, एवं कर्म्म (सत्व) सजातीय संस्कार, तथा विकार, दोनों का कर्म्म (सत्व) में अन्तर्भाव मान लिया जाता है। फलतः आठ विभागों के चार ही विभाग रह जाते हैं। अष्टविभागानुयुक्त इसी विभागचतुष्ट्यी का दिग्दर्शन कराते हुए अभियुक्त कहते हैं—

> ज्ञान जन्या भवेदिच्छा, इच्छा जन्यं क्रतुर्भवेत् ।
> क्रतु जन्यं भवेत् कर्म्म, तदेतत् कृत मुच्यते ॥ इति ॥

३—*आत्मानिबन्धनषट्कर्म्म परिलेखः—*

१	१—(१)—क्रतुः २—(२)—चेष्टा	मानसकर्म्मद्वयी-कामप्रधाना (मनोमयी-मनः)	"स वा एष आत्मा-वाङ्मयः, प्राणमयो, मनोमयः— इत्याहुराचार्याः
२	३—(१)—भावः ४—(२)—संस्कारः	प्राणकर्म्मद्वयी-तपःप्रधाना (प्राणमयी प्राणः)	
३	५—(१)—विकारः ६—(२)—सत्वम्	वाचिककर्म्मद्वयी-श्रमप्रधाना (वाङ्मयी-वाक्)	

रूप सौरमण्डल 'धर्म्मक्षेत्र' है, भूतक्षेत्ररूप पृथिवीमण्डल 'कुरुक्षेत्र' (कर्म्मक्षेत्र, कर्म्मभूमि) है। धर्म्मक्षेत्र रूप सौरमण्डल 'विद्याक्षेत्र' (ज्ञानक्षेत्र) है, एव कुरुक्षेत्ररूप पृथिवीमण्डल 'कर्म्मक्षेत्र' (क्रियाक्षेत्र) है। चूकि विद्यातत्व स्थिति भाव से सम्बन्ध रखता हुआ स्थिर धातु है, एव सूर्य्य में इसी की प्रधानता है, अतएव देवघन, विद्यात्मक सूर्य्य सर्वथा स्थिर है, जैसा कि, 'नैवो देता, नास्तमेता, मध्ये एकल एव स्थाता' (छा० उप०) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। कर्म्मतत्व गतिभाव से सम्बन्ध रखता हुआ चरधातु है एवं पृथिवी मे इसी की प्रधानता है, अतएव भूतघना, कर्म्मात्मिका पृथिवी परिभ्रमणशीला है। 'सूर्य्य क्यों स्थिर है ? पृथिवी क्यों चल है ?" इन वैज्ञानिक प्रश्नो की अनेक उपपत्तियो मे से एक यह भी उपपत्ति है।

जैसा कि पाचवें कर्म्मषट्क प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है, वेद-विद्या-ब्रह्म, तीनों समान भाव से युक्त है। इसी आधार पर 'विद्या' को 'वेद' कहा जा सकता है। 'सूर्य्य विद्यात्मक है', इसका तात्पर्य्य है—'सूर्य्य त्रयी वेदमूर्त्ति है'। इसी सौर वेद का (जो कि 'सौर वेद' विज्ञानपरिभाषा में 'गायत्री मात्रिक' नाम से प्रसिद्ध है) परिचय देते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—

(१)—"यदेतन्मण्डलं तपति, तन्महदुक्थं', ता ऋचः, स ऋचांलोकः।

—ऋग्वेद।

(२)—यदेतदर्चिर्दीप्यते, तन्महाव्रतं, तानि सामानि, स साम्ना लोकः।

—सामवेद।

(३)—अथ य एष एतस्मिन् मण्डलेपुरुषः, सोऽग्निः, तानि यजुंषि, सयजुषा लोकः।

—यजुर्वेद।

सैषा त्रय्येव विद्या तपति" इति।

—शत० ब्रा०।

उक्त श्रुति से वेद, तथा विद्या की समानार्थकता भली भांति स्पष्ट हो रही है। इसी सौर-'वेदत्रयी' के आधार पर सौरमण्डलस्थित, ज्योतिर्म्मय, अग्नि-वाय्वादित्यादि त्रयस्त्रिंशत् (३३) प्राणदेवताओं के यजन (सङ्गमन) रूप यज्ञकर्म्म का (नित्यआधिदैविक यज्ञ कर्म्म का)

विकास हुआ है। उस प्राकृतिक नित्य यज्ञ में अग्नि 'होता' हैं, वायु 'अध्वर्यु' हैं, आदित्य 'उद्गाता' हैं, रोदसी त्रैलोक्य 'वेदि' है, सर्वतः व्याप्त दिक्सोमतत्व 'आहुतिद्रव्य' है, सौरगायत्री मात्रिक मौलिक वेदतत्व 'वेदमन्त्र' है, स्वयं संवत्सर प्रजापति इस यज्ञ के 'यजमान' हैं, प्राणदेवता 'यजनीय' हैं। इन सब परिग्रहों के समन्वय से ही वेदमूलक उस आधिदैविक यज्ञ का वितान हुआ है, जोकि वितानयज्ञ त्रैलोक्य-प्रजा की उत्पत्ति का कारण बना हुआ प्रजापति के लिए 'इष्टकामधुक्' सिद्ध हो रहा है। वेदविद्यामूलक, अतएव 'विद्यासापेक्ष' नाम से व्यवहृत इसी यज्ञकर्म्म के प्रभाव से आज सम्पूर्ण त्रैलोक्य में, एवं त्रैलोक्य में रहने वाली प्रजापर यज्ञकर्त्ता सम्वत्सरप्रजापति यजमान का एकच्छत्र साम्राज्य प्रतिष्ठित हो रहा है। जिस साम्राज्य का मूलभाष्यान्तर्गत— 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः' (गी०) इत्यादि श्लोकभाष्य में विस्तार से स्पष्टीकरण किया जाने वाला है।

इसी यज्ञकर्म्म के प्रभाव से मर्त्य-भूलोक के मृत्युधर्म्मों से निरन्तर संयोग करते हुए भी सौर-यज्ञिय-प्राणदेवता मृत्युधर्म्मों से असंस्पृष्ट रहते हैं, अमरपद के अधीकारी बने रहते हैं। इस यज्ञातिशय से ही त्रयीमय सूर्य्य भगवान् ज्योतिर्घन बनते हुए अपनी सहस्ररश्मियों से त्रैलोक्य में लोकालोक पर्य्यन्त व्याप्त हो रहे हैं। इसी सोमाहुतिरूप यज्ञ के अनुग्रह से प्रज्वलित सौर प्राण तपश्चर्य्या का अनुगामी बनता हुआ 'तपन' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। इसी यज्ञकोश के आधिपत्य बल से सौर प्राणदेवता अपनी प्रवर्ग्य मात्राओं के प्रदान से त्रैलोक्य में रहने वाली प्रजा को ऋणी बना रहे हैं। इस प्रकार विद्यासापेक्ष (त्रयीवेद सापेक्ष) कर्म्म को क्रमशः 'यज्ञ-तप-दान' इन तीन भागों में विभक्त कर सम्वत्सर प्रजापति आज सर्वे सर्वा बन रहे हैं। यही पारलौकिक नित्य कर्म्म है, यही वेदसापेक्ष बनता हुआ, 'विद्यासापेक्ष' है। एवं यही विद्यासापेक्ष कर्म्म सम्वत्सरलक्षण देवभूमि में आक्रमण करने वाले तमोमय, बलप्रधान, आप्यप्राणमूर्ति असुरों के पराभव का कारण बन रहा है।

विद्यानिरपेक्ष पार्थिवकर्म्म—

पाञ्चभौतिक शरीर धारी सभी पार्थिव प्राणी कर्म्म कर रहे हैं। परन्तु यह प्राकृतिक कर्म्म विद्यानिरपेक्ष ही माना जायगा। विद्या का सहयोग न हो, यह बात तो नहीं है। क्योंकि 'ज्ञान जन्या भवेदिच्छा' 'इच्छाजन्यं भवेत् क्रतुः, क्रतुजन्यं भवेत् कर्म्म' इत्यादि सिद्धान्त के अनुसार बिना विद्या (ज्ञान) के सहयोग के कर्म्म प्रवृत्ति सर्वथा असम्भव है। किन्तु इन पार्थिव कर्मों की प्रवृत्ति

का प्रधानरूप से प्रज्ञानमन से ही सम्बन्ध रहता है। उधर विद्यासापेक्ष, अतएव विद्यात्मक कर्म्मों का सौर विज्ञानात्मा (बुद्धि) से प्रधान सम्बन्ध माना गया है। विज्ञान ज्ञान (बौद्धज्ञान) की प्रतिच्छाया से ज्ञानयुक्त बनता हुआ प्रज्ञानज्ञान (मानसज्ञान) हीं हम पार्थिव प्राणियों के कर्म्म की प्रतिष्ठा बनता है। प्रज्ञानमन 'अन्नमय' है, अन्न 'भूतमय' है, भूतवर्ग तमःप्रधान बनता हुआ 'आवक' है। अतएव प्रज्ञानज्ञान संयुक्त कर्म्म भूतोन्नति, भूतवृद्धि, पार्थिव सम्पत्तिवृद्धि के अतिरिक्त और कोई पुरुषार्थ नहीं कर सकते। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृद्धि भूतों की ओर (पार्थिव सम्पत्ति की ओर) ही रहती है, जिस के कई एक कारण हैं।

प्रधान कारण तो भूतप्रधान पृथिवी लोक ही है। इसी के अंश से इस के शरीर का निर्म्माण हुआ है। पार्थिवशरीर स्वभावतः पार्थिव भूतों की ओर आकर्षित रहे यह स्वाभाविक ही है। दूसरा कारण मानसज्ञान है, इसके मन का निर्म्माण पार्थिव ओषधिरूप अन्न में रहने वाले सोमतत्त्व से हुआ है। इसलिए भी इसकी स्वभावतः भूतवर्ग की ओर ही प्रवृत्ति रहती है। जिन सांसारिक कर्म्मों से इसे जन्म लेना पड़ता है, वे सब सञ्चित संस्कार भी पार्थिव बनते हुए स्वभावतः पार्थिवभूतप्रवृत्ति के ही उपोद्बलक बने हुए हैं। जिन इन्द्रियों से यह कर्म्ममार्ग में प्रवृत्ति होता है, वे सब इन्द्रीं— "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्" के अनुसार बहिर्मुख हैं, भौतिक विषयानुगत हैं। फलतः इस दृष्टि से भी इसका भूतों की ओर प्रवृत्त रहना स्वाभाविक बन जाता है। इन कई एक प्राकृतिक (सहजसिद्ध) कारणों के अतिरिक्त यदि दुर्भाग्य से इसके शिक्षा, अन्न आचार, व्यवहार, संग आदि कृतिमधर्म्म भूतप्रधान रहते हैं, तो 'गिलोय, और नीम चढ़ी' किंवदन्ती सर्वात्मना चरितार्थ हो जाती है। इन्हीं सब कृत्रिम कारण समूहों के अनुग्रह से इस का यथाजात, सहजसिद्ध, पार्थिवभूतानुगामी कर्म्म सौर विज्ञानज्ञान से वञ्चित रहता हुआ विद्यानिरपेक्ष बना रहता है। भूतानुगत प्रज्ञानज्ञान (भूतों की प्रधानता से) रहता हुआ भी न रहने के समान है। इसी आधार पर हम इन पार्थिव कर्म्मों को 'विद्यानिरपेक्ष' कह सकते हैं।

दूसरी दृष्टि से विद्या, कर्म्म स्वरूपों के तारतम्य का विचार कीजिए। जिस अव्ययात्मा के विद्या-कर्म्म, ये दो स्वाभाविक धातु माने गए हैं, वह द्विधातु मूर्ति अव्ययात्मा उपनिषदों में 'अश्वत्थ' नाम से व्यवहृत हुआ है। विद्या-कर्म्मधातुओं की प्रधानता अप्रधानता के तारतम्य से इस 'अव्ययाश्वत्थवृक्ष' के

आश्वत्थिक जीव तथा उनके कर्म्म–

'ब्रह्माश्वत्थ-कर्म्माश्वत्थ' भेद से दो रूप बन जाते हैं। उभयमूर्ति यह अश्वत्थात्मा ही-'तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे, तदुनात्येति कश्चन' के अनुसार सर्व प्रतिष्ठा बना हुआ है। 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (गी०)—इस स्मार्त्त सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण जीववर्ग ब्रह्म-(विद्या)-कर्म्ममूर्ति अश्वत्थात्मा के अंश बनते हुए ब्रह्म-कर्म्म, दोनों विभूतियों से नित्ययुक्त हैं, जैसा कि पूर्व की 'ब्रह्म-कर्म्मपरीक्षा' में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

अश्वत्थात्मा ब्रह्म-कर्म्म की प्रधानता-अप्रधानता के तारतम्य से जीवसृष्टि के भी दो विभाग हो जाते है। जिन जीवात्माओं में अश्वत्थ ब्रह्म का ब्रह्म भाग प्रधान रहता है, वे 'ब्रह्माश्वत्थिक जीव' कहलाते हैं, एवं जिन में (अस्मदादि मे) उसका कर्म्म भाग प्रधान रहता है, उन्हे— 'कर्म्माश्वत्थिक जीव' कहा गया है। पहिले अचेतनवर्ग को ही लीजिए। स्वयम्भू परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, वायु, प्राकृतिक-अग्नि, जल, आदि अचेतन जीव हैं। इन्हें 'ब्रह्माश्वत्थिक जीव' कहा जायगा। कारण यही है कि, इनमे वेदमूलक विज्ञान की ही प्रधानता है। इनका सम्पूर्ण कर्म्मकलाप विज्ञानानुमोदित बनता हुआ, सत्यात्मक अन्तर्य्यामी के सत्यात्मक नियतिसूत्र से सञ्चालित रहता हुआ, मौलिक वेदत्रयी का समर्थक बनता हुआ प्रकृतिसिद्ध है। इनकी उत्पत्ति कर्म्मभोग के लिए नहीं हुई है। अपितु किसी अधिकार विशेष को लेकर ही सृष्टिकर्म्म सञ्चालन के लिए इनका प्रादुर्भाव हुआ है। दूसरे शब्दों मे ईश्वराज्ञा से अधिकृत कर्म्मों के सञ्चालन के लिए ही ये उत्पन्न हुए हैं। जिस अचेतन जीव को जितने समय तक के लिए ईश्वर (अश्वत्थ) की ओर से इन्हे नियत कर्म्म का अधिकार मिला है, तबतक नियमशः ये अपने इन अधिकृत कर्म्मों मे निष्कामभाव से प्रवृत्त रहते हैं। अवधि समाप्त हो जाने पर—'परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति' के अनुसार स्वप्रभव, अंगीरूप उसी अव्ययाश्वत्थ मे लीन हो जाते हैं। इसी अधिकार भाव के कारण इन ब्रह्माश्वत्थिक जीवों को 'आधिकारिक जीव' कहा गया है। 'यावदधिकारमवस्थैतिराधिकारिकाणाम्' इस व्यास सिद्धान्त के अनुसार इनका जन्म सृष्टि कर्म्म के स्वरूप सम्पादन, रक्षण, तथा सञ्चालन के लिए ही हुआ है। ये कभी कर्म्मबन्धन मे लिप्त नहीं होते। इनका जन्म इनकी अपनी इच्छा से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। अपितु अव्ययेश्वर सृष्टि मे जब-जब, जिस जिस वस्तु की, जिस-जिस कमी की पूर्त्ति की आवश्यकता समझते है, तब-तब उन्हीं की इच्छा से, उन्हीं की प्रेरणा से उन-उन आवश्यक, अधिकृत कर्म्मों के लिए इनका

यथा समय आविर्भाव, तिरोभाव होता रहता है। इन अचेतन आधिकारिक जीवों के अतिरिक्त दूसरा विभाग अचेतन कर्म्म जीवों का है। सृष्टिधारा के प्रवाह में पडे हुए, कर्म्म-जाल में फंसे हुए, 'जायस्व म्रियस्व' के अनुगामी, कर्म्मभोक्ता, चेतनजीव तमोभाग की अतिशयवृद्धि के कारण मनुष्ययोनि से क्रमशः पशु-पक्षी कीट-कृमि आदि निकृष्ट चेतन जीव योनियों मे आते हुए तम की चरमावस्था पर पहुंचते हुए अन्ततोगत्वा वृक्ष-लता-गुल्म-तृण-पाषाण-लोष्ट आदि जड जीवों मे परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार अश्वत्थ के ब्रह्म-कर्म्म भाग के तारतम्य से अचेतन जीववर्ग के आधिकारिक अचेतन जीव, कर्म्मभोक्ता अचेतन जीव, भेद से दो विभाग हो जाते हैं।

इसी प्रकार चेतन जीव सृष्टि भी इन्हीं दो भागों में विभक्त है। स्वयम्भू मनु, राम, कृष्ण, परशुराम, व्यास आदि महापुरुष आधिकारिक कोटि में आते हुए 'ब्रह्माश्वत्थिकपद जीव' हैं। इनका आविर्भाव, तिरोभाव भी ईश्वरेच्छा से ही सम्बन्ध रखता है। ये कर्म्मभोग के लिए उत्पन्न नहीं होते, अपितु कर्म्माश्वत्थिक अस्मदादि असख्य सहित चेतन जीवों के प्रज्ञा-पराध से उत्पन्न होनेवाले प्राकृतिक क्षोभ की शान्ति के लिए, धर्म्मग्लानि के उपशम के लिए, तद्द्वारा सृष्टि कर्म्म का व्यवस्थित रूप से सञ्चालन करने के लिए ही ईश्वर की ओर से नियत समय तक के लिए अधिकार लेकर प्रकट होते रहते हैं, एवं कार्य्य समाप्ति पर लीलासंवरण कर जाते हैं। ऐसे आधिकारिक चेतन जीवों में ईश्वर की ईश्वरता का आवश्यकतानुसार विकास रहता है। अतएव इन्हें सामान्य जीव न कह कर 'अवतारपुरुष' कहा जाता है, जिनका सामान्य रूप से आगे आने वाले 'भक्तियोग परीक्षा' खण्ड में एवं विस्तार से—मूलभाष्य के 'यदा यदाहि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति भारत' (गी०) इत्यादि श्लोकभाष्य मे निरूपण किया जाने वाला है। अभी इनके सम्बन्ध मे हमें यही कहना है कि, इन चेतन, आधिकारिक, अवतार पुरुषों का मूल आधार वेदशास्त्र परिशीलन सिद्ध ब्रह्माश्वत्थरूप विज्ञान ही है। विज्ञान ही प्रकृति का नित्य 'नियम' है। इसी नियति सूत्र के लिए, अविद्यावश उच्छृङ्खल बने हुए, विश्वक्षोभ के प्रवर्त्तक मानव-समाज का नियतिः सूत्र से शासन करने के लिए ही इनका प्रादुर्भाव होता है। एवं जिस नियति. सूत्र से ये व्यवस्था स्थापित करते हैं, वह यही हमारी सुप्रसिद्ध मौलिक वेद विद्या, एव तदभिन्ना शब्दात्मिका वेदविद्या है। 'वेदाद्धर्म्मोहि निर्बभौ' (मनु०) के अनुसार यही वेदधर्म्म (प्राकृतिक व्यवस्था) का प्रतिष्ठापक बनता है।

दूसरा विभाग अस्मदादि कर्म्माश्वत्थिक जीवों का है। शुभाशुभ कर्म्मों के (संस्कारात्मक सञ्चित कर्म्मों के) फल भोगने के लिए 'उत्पत्ति-स्थिति-भंग' के प्रवाह में पड़े हुए जीव ही 'कर्म्माश्वत्थिक जीव' हैं। प्रज्ञानानुमोदित कर्म्म से वासना-संस्कार का उदय होता है। इसके भोग के लिए हमें जन्म लेना पड़ता है। कर्म्म में पुनः आसक्ति हो जाती है। फलतः पहिले के सञ्चित वासना-संस्कारों का भुगतान होने से पहिले ही आसक्तिवश संस्कार और जमा हो जाते हैं। फिर जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार पूर्व जन्म, तथा वर्त्तमान जन्म में होने वाले कर्म्मों की कृपा से उत्पन्न वासना-संस्कारमय उभय कर्म्मों की सन्तान परम्परा में पड़ कर, हम प्रज्ञानमूलक स्वाभिरुचि के आगे करते हुए कर्म्मजाल में फंसे रहते हैं। इस कर्म्मजाल के अनुग्रह से 'जायस्व, म्रियस्व' के द्वन्द्वगर्त्त में गिरे हुए इन्हीं जीवों को 'कर्म्माश्वत्थिक' जीव कहा गया है। इन्हीं के समुद्धार के लिए पूर्वोक्त ब्रह्माश्वत्थिक, आधिकारिक जीवों का (अवतार-पुरुष-लक्षण ईश्वरांशों का) आविर्भाव हुआ करता है।

मानववर्ग के दो कर्म—

नियतिचक्र के उक्त विद्या-कर्म्म लक्षण दो विवर्त्तों के अनुग्रह से ही मानव-समाज के कर्म्म दो भागों में विभक्त हुए हैं। कुछ एक पुरुष पुङ्गव तो महर्षियों की दिव्यदृष्टि से साक्षात् कृत, वेद विद्या सिद्ध, आधिकारिक, विज्ञानानुमोदित दिव्य (सौर) कर्म्मों का अनुगमन करते हुए कर्म्मबन्धन से मुक्त होने का प्रयास कर रहे हैं। एवं सामान्य मनुष्यवर्ग स्वाभाविक भौतिक आकर्षण के अनुग्रह से, पूर्व प्रतिपादित शिक्षा-अन्नादि आगन्तुक दोषों के समावेश से ऋषिदृष्टि सिद्ध विज्ञानानुमोदित दिव्य कर्म्मों की उपेक्षा करता हुआ, स्वाभिरुचि से सम्बन्ध रखने वाले, अतएव सर्वथा कल्पित, असत्कर्म्म लक्षण कर्म्मों का अनुगमन करता हुआ उत्तरोत्तर कर्म्मबन्धन में बंधा जा रहा है। इनमें जो कर्म्म विज्ञानानुमोदित, वेदशास्त्रसिद्ध हैं, उन्हें तो हम **'विद्यासापेक्ष'** कहेंगे, एवं स्वरुचिवश क्रियमाण, विज्ञान विरुद्ध, वेदशास्त्र विरुद्ध कर्म्मों को **'विद्यानिरपेक्ष'** कहेंगे। विद्यासापेक्ष कर्म्मों को जहां बन्धन विमोक का कारण माना जायगा, वहां विद्यानिरपेक्ष कर्म्मों को बन्धन प्रवृत्ति का मूल कहा जायगा।

विद्यासापेक्ष कर्म्मों का स्वरुचि से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये ईश्वराज्ञापत्ररूप वेदों से सिद्ध विज्ञानानुमोदित कर्म्म हैं। अपनी रुचि को एक ओर रख कर **'ममेदं कर्त्तव्यम्'** इस कर्त्तव्य बुद्धि से ही इन कर्म्मों का अनुगमन किया जाता है। हम इन कर्म्मों का कार्य्य-

कारण रहस्य समझें अथवा न समझें, समझने का प्रयास अवश्य करते रहें, किन्तु न समझे बिना प्रवृत्ति का परित्याग न करें, इस यथोद्देशपक्ष का अनुगम करते हुए, एकमात्र वेदाज्ञा पर ही दृढ़ निष्ठा रखते हुए वेदसिद्ध इन कर्म्मों में प्रवृत्त रहें, इसी से हमारा कल्याण है। वेदविहित होने से ही इन विद्यासापेक्ष कर्म्मों को 'वैदिककर्म्म' कहा जाता है। इन वैदिक कर्म्मों का मूलप्रवर्त्तक हमारा विज्ञानात्मा (बुद्धि) ही बनता है।

दूसरा विभाग लौकिक कर्म्मों का है। प्राज्ञान मन को आगे कर प्रत्यक्ष सिद्ध भौतिक फलों के प्रलोभन में पड़कर, किए जाने वाले कर्म्म हीं लौकिक कर्म्म है। इन मे अधिकार-मर्य्यादा का कोई नियन्त्रण नहीं है। लौकिक कर्म्मों में मनुष्यमात्र को समानाधिकार है। इन कर्म्मों का प्रकृति के कार्य्य-कारण भावों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अतएव इन्हें 'विद्यानिरपेक्ष' कर्म्म ही कहा जायगा। व्यक्ति ने, किंवा समाज ने जब जैसी आवश्यकता देखी, रुचि के अनुसार वैसा ही कर्म्म कर डला। वेदविद्या को मूलाधार बनाने की इन कर्म्मों में कोई अवश्यकता नहीं है। इस प्रकार अव्ययात्मा के विद्या-कर्म्म धातुओं के तारतम्य से कर्म्मप्रपञ्च 'वैदिक-लौकिक' भेद से दो भागों में विभक्त हो जाता है। दोनों में से क्रमप्राप्त पहिले विद्यासापेक्ष, अधिकार सिद्ध 'वैदिककर्म्म' की ही मीमांसा कीजिए।

विद्यासापेक्ष-वैदिककर्म्म—

प्रकरणारम्भ में बतलाया गया है कि, सम्वत्सरप्रजापति नित्य वेद के आधार पर यज्ञ-तप-दान-लक्षण विद्यासापेक्ष प्राकृतिक कर्म्मों का अनुगमन करते हुए सर्वेसर्वा बन रहे है। भारतीय वैज्ञानिकों ने प्रकृतिसिद्ध इस कर्म्मत्रयी का, एवं तन्मूलभूत मौलिक वेदविद्या का अपनी योगजदृष्टि के द्वारा अन्वेषण आरम्भ किया। उसी परीक्षा के परीणाम स्वरूप उस नित्यसिद्ध मौलिक, तत्वात्मक ऋक्-यजुः-साम-अथर्व वेद से अभिन्न ऋक्-यजुः-साम-अथर्वमन्त्रों का आविर्भाव हुआ। प्रकृति के अनुरूप ही यज्ञविद्या का आविष्कार हुआ, तदनुरूप ही तपःकर्म्म, तथा दानकर्म्म की स्वरूप निष्पत्ति हुई।

हम प्रकृति के अंश अवश्य हैं। परन्तु कुछ एक आगन्तुक प्रतिबन्धकों से हम प्रकृति-प्रदत्त उस स्वाभाविक परमैश्वर्य्य से वञ्चित हो रहे है। यदि कोई ऐसा उपाय निकल आये, जिससे हमारा आत्मा प्रतिबन्धक् निवृतिपूर्वक स्वप्रभव देवता के साथ बद्ध हो जाय, तो अवश्य ही उसका विज्ञानस्रोत हम में अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होने लगे। परिणामतः हम उस शाश्वत पद के अधिकारी बन सकें। उसी उपाय को वेदशास्त्र ने 'यज्ञ'

शब्द से व्यवहृत किया है। हमारे आध्यात्मिक प्राणाग्नि को आधिभौतिक भूताग्नि के द्वारा उस आधिदैविक दिव्याग्नि के साथ युक्त कर उस प्रभूत देवबल को आध्यात्मिक प्राणाग्नि मे प्रवाहित करती हुई, इस दैवबल प्रवाह द्वारा मन प्राणवाङ्मय आत्मा को सबल बना देने वाली एक वैज्ञानिक विशेष प्रक्रिया ही 'यज्ञ' है। इस यज्ञकर्म्म में हमारी रुचि (कल्पना) का लेश भी सम्बन्ध नहीं है। अपितु साक्षात् कृतधर्म्मा, यज्ञविद्या के आविष्कारक जिन वैज्ञानिकों ने प्राकृतिक यज्ञेतिकर्त्तव्यता के अनुसार इस वैध अनुष्ठेय यज्ञेतिकर्त्तव्यता का जैसा क्रम, जो पद्धति, जो पदार्थ, जो मन्त्र, जो ऋत्विक् सम्पत्ति व्यवस्थित कर दी है, उसके यथानुगमन से ही यज्ञकर्म्म का स्वरूप सम्पन्न होता है। मनुष्य बुद्धि के समावेश से यज्ञकर्म्म अभ्युदय के स्थान में प्रत्यवाय का कारण बन जाता है। जैसा कि 'व्यृद्धं वैतत् तद्यज्ञस्य, यन्मानुषम्' (शत०) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। 'यद्वैदेवा अकुर्वस्तत् करवाणि' 'देवाननु विधा वै मनुष्या' 'यदमुत्र तदन्विह' ही यज्ञकर्म्म की मूल प्रतिष्ठा है। एव 'यज्ञकर्म्म' का यही संक्षिप्त परिचय है।

दूसरा विद्यासापेक्ष कर्म्म 'तप' है। अपने आत्मा मे बलाधान करने की एक दूसरी वैज्ञानिकी प्रक्रिया ही 'तप' नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रक्रिया में विशेष रूप से 'प्राणदान' करना पडता है। प्रकृति का यह स्वाभाविक नियम है कि, उसके आयतन (उदर) में जो भी वस्तु डाली जाती है, वह (प्रकृति) उसे पूर्णसमृद्ध बनाकर ही वापस लौटाती है। देखिए न, कृषिकर्म्म (खेती) के लिए प्रकृतिपर्वरूपा पृथ्वी के गर्भ मे बोया हुआ बीज कालान्तर मे कितना समृद्ध बनकर गर्भ से बाहर निकलता है। एक मल्ल (पहलवान) शरीर में बलाधान करना चाहता है। इस बलप्राप्ति के लिये वह व्यायामकर्म्म (कसरत) करता है। अपने प्राण को शरीरयष्टि की विविध चेष्टाओ के द्वारा प्रकृति के गर्भ में आहुत करना ही व्यायाम कर्म्म है। इसके इस प्राणदान का परिणाम यह होता है कि, वह जितनी मात्रा में प्राणाहुति देता है, बदले मे प्रकृति उसे चतुर्गुण प्राण प्रदान करती है। इसी तरह उपवसथ (उपवास), अनशन आदि यथाविहित प्रक्रियाओं से पहिले आत्मप्राण खर्च होता है, बदले मे विशेषमात्रा से प्राणाधान होता है। बलाधान की इस से बढकर और कोई श्रेष्ठ प्रक्रिया नहीं है। यही क्यों, हमे तो यह कहने में भी कोई सकोच नहीं कि, विना तप कर्म्म (प्राणव्यय) के बलाधान कभी हो ही नहीं सकता—'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्'। तप कर्म्म के इसी तात्त्विक अर्थ को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—'एतद्वै तप इत्याहुर्यत् स्वंददाति' (तै० ब्रा०)। यदि

आप विश्वसम्पत्ति को अपने प्राण का अन्न बनाना चाहते है, तो इससे पहिले आपको अपने प्राण का बलिदान करना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में विश्वसम्पत्ति को अन्न बनाने से पहिले स्वयं आपको विश्व की आहुति बनना पड़ेगा। जो व्यक्ति अपना कुछ न देख कर विश्व को अन्न बनाने के लिए आगे बढ़ता है, वह स्वयं ही विश्व का अन्न (भोग्य, परमुखापेक्षी) बन जाता है। ठीक इसके विपरीत जो पुरुषार्थी अपने आपको विश्व का अन्न बना डालता है, विश्व उसका अन्न बन जाता है। प्रजा सेवक राजा ही प्रजा का प्रभु बन सकता है। सेवा ही स्वामीपद का अधिष्ठाता है। व्यय ही आगमन का द्वार है। फलतः तप ही बलाधान का मुख्य द्वार है।

तीसरा विद्यासापेक्ष कर्म्म **'दान'** नाम से प्रसिद्ध है। इसे ही यज्ञपरिभाषा में **'दक्षिणा'** कहा जाता है। **'हतयज्ञमदक्षिणम्'** के अनुसार बिना दक्षिणादान के यज्ञ कर्म्म का स्वरूप ही उच्छिन्न हो जाता है। यज्ञकर्म्म एक महाकर्म्म है। केवल यजमान ही उस कर्म्म का स्वरूप सम्पादन करने में असमर्थ है। इसके लिए अध्वर्यु, होता, उद्गाता, ब्रह्मा, आदि ब्राह्मण ऋत्विजों का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है। इन सबका कर्म्म ही यजमान के यज्ञकर्म्म का स्वरूप सम्पादक बनता है, जैसा कि, 'वर्णव्यवस्था विज्ञान' नामक पूर्व प्रकरण के उपक्रम में स्पष्ट किया जा चुका है। कर्म्मद्वारा ऋत्विजों का आत्माग्नि (आत्मप्राण) भी इस यज्ञाग्नि मे प्रविष्ट रहता है। ऐसी दशा में यज्ञकर्म्म से उत्पन्न होने वाला यज्ञातिशय तब तक यज्ञकर्त्ता यजमान की निजी सम्पत्ति नहीं बन सकता, जब तक कि यह उन ऋत्विजों के कर्मानुगत-अनुशय को यज्ञातिशय से बाहर नहीं निकाल देता। जिस उपाय से यजमान कर्म्मसहायक ऋत्विजों के आत्मप्राण को यज्ञातिशय से पृथक् कर यज्ञातिशय को प्रातिस्विक सम्पत्ति बनाने मे समर्थ होता है, वही उपाय **'दक्षिणा'** नाम से प्रसिद्ध है। क्षत यज्ञ का पुनः सन्धान चूंकि इसी कर्म्म से होता है, अतएव इसे 'दक्षिणा' शब्द से व्यवहृत करना अन्वर्थ बनता है।

स्मार्त्त दृष्टि से विचार कीजिए। **'स्वाध्याय कर्म्म'** एक प्रकार का यज्ञ है, यज्ञ ही नहीं महायज्ञ (महासत्र) है, जैसा कि 'संस्कार विज्ञान' प्रकरण मे स्पष्ट किया जा चुका है। इस यज्ञकर्म्म की स्वरूप निष्पत्ति आचार्य्य के द्वारा होती है। आचार्य्य ही अध्यापन-कर्म्म द्वारा शिष्य को स्वाध्याय कर्म्म मे कृतकृत्य करते है। अध्यापन-कर्म्म द्वारा आचार्य का आत्मप्राण भी शिष्य के इस स्वाध्याय यज्ञ मे प्रविष्ट रहता है। स्वाध्याय यज्ञ की समाप्ति के अनन्तर ब्रह्मचारी शिष्य समावर्त्तन संस्कारानन्तर आचार्य्य से आज्ञा लेकर गृहस्थी बनने घर

लौटता है। वहां इसे सञ्चित स्वाध्याययज्ञ (विद्याबल) के द्वारा ही जीवनपथ की, यात्रा करनी है। इस पथ में निर्द्वन्द्वता आवश्यकरूप से अपेक्षित है। यह तभी सम्भव है, जब कि यह अपने सञ्चित स्वाध्याय यज्ञ का एकाकी भोक्ता रहे। यह तब सम्भव है, जब कि इसमें से आचार्य के प्रदत्त प्राण को वापस लौटा दिया जाय। इसी सम्भावना की पुर्त्ति के लिए ब्रह्मचारी को स्वाध्याययज्ञ समाप्ति के अनन्तर गुरुदक्षिणा देनी पड़ती है।

लोकदृष्टि से विचार कीजिए। एक ब्राह्मण अपने जीवन काल में वेदविद्या, अथवा इतर शास्त्रों का स्वाध्याय करता रहता है। सतत स्वाध्यायशील इस ब्राह्मण की गृहस्थाश्रमानुबन्धिनी सभी आवश्यकताएं समाज पूरी करता रहता है। इसके अतिरिक्त पुस्तकें, लेखनी आदि स्वाध्यायानुबन्धी परिग्रह भी इसे समाज से ही प्राप्त होते हैं। इन परिग्रहों के द्वारा समाज का आत्म-प्राण ब्राह्मण के इस अध्ययन यज्ञ में प्रवृष्ट रहता है। जब तक यह ब्राह्मण देवता समाज सहयोग द्वारा प्राप्त अध्ययन यज्ञ में से समाज का आत्मप्राण समाज को वापस न लौटा देगा, तब तक इसका यह यज्ञ सर्वथा 'हृत' रहेगा। अवश्य ही इसे दक्षिणारूप से अपने यज्ञ का थोड़ा भाग (विद्या-ज्ञान) समाज में बांटना पड़ेगा। इसी विद्या-विनिमय से इसका विद्यायज्ञ पुष्पित-पल्लवित होता हुआ ससमृद्ध बनेगा।

एक धनिक समाज के अथ सहयोग से स्वबुद्धिकौशल द्वारा 'अर्थयज्ञ' का अधिष्ठाता बन जाता है। परन्तु इसे यह नहीं भुला देना चाहिए कि, यदि सामाजिक अर्थ का सहयोग प्राप्त न होता, तो इसका कोरा बुद्धिबल कभी इसे अर्थ-यज्ञ साधन में सफल न बनाता। चूंकि इसके अर्थयज्ञ में समाज के अर्थ का भी सहयोग है, अतएव इसका यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि, यह अपने इस अथयज्ञ का अंश दक्षिणारूप से समाज को वापस लौटावे, सामाजिक कार्यों में हाथ बटाना आवश्यक कत्तव्य समझे। यदि कोई धनिक मदान्ध बनकर अर्थयज्ञ का केवल स्वयं एकाकी ही भोक्ता बना रहना चाहता है, तो 'हतयज्ञमदक्षिणम्' इस वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार न तो वह इस हृत-अर्थयज्ञ से आनन्द ही उठा सकता, एवं न चिरकाल तक उसका यह अर्थयज्ञ सुरक्षित ही रह सकता।

एक मिल मालिक मजदूरों के सहयोग से कालान्तर में 'विपुलोदर-अर्थयज्ञ' का पात्र बन जाता है। इस अर्थयज्ञ में उन गरीब मजदूरों के रक्त-मांस की आहुति हुई है। अपना स्वास्थ्य आहुत करने वाले इन मजदूर ऋत्विजों ने अपने मालिक यजमान का अर्थयज्ञ पूरा किया है। यजमान के इस अर्थयज्ञ के कण-कण में ऋत्विजों (मज़दूरों) का प्राण व्याप्त हो रहा है। जबतक यजमान इनकी इस प्राणसम्पत्ति को अर्थयज्ञ से इन्हें वापस न लौटा

देगा, विश्वास कीजिए, वह कभी ऐसे रूधिर-प्रदाय भोगों से शान्ति-सुख नहीं प्राप्त कर सकता। इसे अपने अर्थयज्ञ को सुख-शान्ति का कारण बनाने से पहिले उन असमर्थ, किन्तु बलिदान मे आदर्श मजदूरों की क्षति पूरी करनी पड़ेगी। उनकी तृप्ति के लिए, उनकी स्वास्थ्य रक्षा के लिए पर्य्याप्त दक्षिणा देने के अनन्तर ही यह इस अर्थयज्ञ का अन्यतम भोक्ता बन सकेगा।

बिना दक्षिणा के यज्ञ कैसे नष्ट हो जाता है, यह दिखलाने के लिए कुछ एक लोक दृष्टान्त उपस्थित किए गए। अब पुनः प्रकृत विषय की ओर चलिए। यज्ञ 'दक्षिणा' से वेदसिद्ध यज्ञानुबन्धी दक्षिणा ही अभिप्रेत है। वेदविद्वान् ऋत्विजों ने जितना श्रम किया है, बदले मे शास्त्रविहित 'गौ-वास-हिरण्य-रजत' आदि दक्षिणा देने से उनका सत्व इस यज्ञातिशय से हट जाता है। यज्ञातिशय यजमान की प्रातिस्विक सम्पत्ति बन जाता है। 'दक्षिणादान' एक शास्त्रीय कर्म्म है, अतएव अधिकारी भेद से ही पात्रों की व्यवस्था हुई है। हीनाङ्ग, अतिरिक्ताङ्ग (अधिकाङ्ग) रोगार्त्त, वामन, षण्ढ, मूर्ख आदि दक्षिणा के पात्र नहीं है। यदि एक ब्राह्मण पूर्ण सम्पन्न भी है, उधर एक व्यक्ति महादरिद्री भी है, तो दोनों मे सम्पन्न, किन्तु विद्वान् ब्राह्मण ही दक्षिणा का पात्र माना जायगा, एवं दरिद्री किन्तु मूर्ख अनधिकारी माना जायगा। 'माप्रयच्छेश्वरे धनम्' (गी०) आदेश का दक्षिणा के सम्बन्ध में अपवाद ही माना जायगा। निष्कर्ष यह हुआ कि, दानपात्र ही दान (दक्षिणा) का अधिकारी माना जायगा, फिर वह सम्पन्न हो, अथवा दरिद्री। कारण इसका यही है कि, दान का अतीन्द्रिय (अदृष्ट) फल से सम्बन्ध है। इसका लौकिक फल नहीं है। अतएव दक्षिणा द्रव्यो मे यज्ञकर्म्म के अधिष्ठाता प्राणदेवताओं के भेद के अनुसार दक्षिणाद्रव्यों मे भेद व्यवस्था रहती है। यज्ञ कराने वाले ऋत्विजों की आवश्यकता के अनुसार दक्षिणाद्रव्यों की कल्पना नहीं की जाती। अपितु यज्ञद्वारा अभिपूजित प्राणदेवताओं के स्वरूप के अनुरूप ही दक्षिणाद्रव्यों का अनुगमन करना पडता है। अतएव दक्षिणादान कर्म्म मे स्वरुचि की प्रधानता का आत्यन्तिक अभाव है।

तप कर्म्म आत्मादान (प्राणदान) बनता हुआ 'अन्तर्दान' दान था, दक्षिणा कर्म्म 'द्रव्यदान' बनता हुआ 'बहिर्दान' है। जिन द्रव्यों पर हमारा अधिकार रहता है, जो हमारी प्रातिस्विक सम्पत्ति बने हुए हैं, उनमे हमारा उक्थ आत्मा अर्कसम्बन्ध (रश्मिसम्बन्ध) से प्रतिष्ठित रहता है। इसी लिए स्वसम्पत्ति मे 'ममेदम्' रूप से ममत्व रहता है। इसी आधार पर वित्तपर्य्यन्त आत्मा की व्याप्ति मानी गई है, जैसा कि- 'यावद्वित्तं तावदात्मा'

(तै०) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। वित्तपर्य्यन्त आत्मरश्मियाँ व्याप्त रहती है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, सम्पत्तिक्षय मे उसी प्रकार आत्मा क्षुब्ध हो पडता है, जैसे कि क्षौरकर्म्म में नापित द्वारा आत्मवित्त बने हुए कच्चे नखों के कृन्तन से आत्मा क्षुब्ध हो जाता है। दक्षिणाद्रव्य मे दक्षिणादाता यजमान का आत्मा रश्मिरूप से प्रतिष्ठित रहता है। दक्षिणाद्रव्य के सम्बन्ध से वह आत्मा दानगृहीता के आत्मधरातल से युक्त होकर विकासभाव को प्राप्त हो जाता है, भूमाभाव में परिणत हो जाता है। कैसे ? उत्तर सूर्य्य से मिलेगा।

सूर्य्यकेन्द्र से निकलनें वालीं रश्मियां चारों ओर फैल रहीं हैं। यदि दर्पण, पानी, स्फटिक माणि आदि रश्मिग्राहक वीध्रपदार्थों के साथ इन रश्मियों का सम्बन्ध हो जाता है, तो वहां एक स्वतन्त्रसूर्य्य (प्रतिबिम्बितसूर्य्य) उत्पन्न हो जाता है। जहा-जहा रश्मि प्रतिबिम्बित होगी, नया सूर्य्य बन जायगा, एव वहा-वहां से नवीन स्वतन्त्र रश्मियों का प्रसार होने लगेगा। फलत: इस प्रतिबिम्ब भाव से रश्मियां भूमाभाव को प्राप्त हो जायगीं। सूर्य्य आज त्रैलोक्य में प्रकाश रूप से व्याप्त हो रहा है। इसी दक्षिणा दान से, इसी प्रतिबिम्बभाव से। स्वयं सूर्य्य का प्रत्यक्ष ही इस दक्षिणादान से हो रहा है। यदि सूर्य्यरश्मि हमारी आखों में प्रतिबिम्बरूप से प्रतिफलित न होती, तो सुर्य्य का दर्शन असम्भव था। बस ठीक यही स्थिति, यही भूमाभाव दक्षिणा-कर्म्म मे समझिए।

दक्षिणादान मे स्वसत्व की तो निवृत्ति होती है, एवं इसमें परसत्व का स्थापन भी होता है। देने वाले का सत्व दत्तद्रव्य से हट जाता है, लेने वाले का सत्व प्रतिष्ठित हो जाता है। दक्षिणा लेने वाले का प्रज्ञानमन सोममय बनता हुआ वीध्र है, रश्मिग्राहक है, चिद्ग्राहक है। दानद्रव्य मे प्रतिष्ठित दाता यजमान की आत्मरश्मियाँ गृहीता के चिद्ग्राहक, वीध्र, प्रज्ञान मन पर प्रतिबिम्बित होतीं हुईं सूर्य्यरश्मिवत् अवश्य ही भूमाभाव मे परिणत हो जातीं हैं। दाम्पत्ययज्ञ-कर्म्म मे शुक्र-शोणित की दक्षिणा है। इस दान से दानदाता (माता-पिता) प्रजा-सन्तति-लक्षण भूमाभाव मे परिणत हो जाते हैं। कन्यादान से दाता एक अन्य वंश की भूमाभाव का कारण बनने के साथ-साथ स्वयं भी परम्परया भूमा का अधिकारी बन जाता है।

चूंकि दानद्रव्य के द्वारा दाता का आत्मा गृहीता मे प्रवेश करता है, अतएव दानदाता के गुण-दोष भी गृहीता मे प्रविष्ट हो जाते हैं। इसी लिए धर्म्मशास्त्र ने असत्प्रतिग्रह को सर्वथा हेय माना है। इसके अतिरिक्त जिसे दान दिया जाता है, उसके गुण-दोष से यह दाता भी अपने आपको नहीं बचा सकता। अतएव दाता के लिए भी यह आदेश हुआ है कि

अनुरूप, सत्पात्र में ही दान करे। कुपात्र ने दान देने से भी अनिष्ट है, कुपात्र का दान लेने से भी अनिष्ट है। प्रतिग्रह को आत्मसात् करने के लिए (पचा जाने के लिए) गृहीता के आत्मा में पर्य्याप्त बल होना चाहिए। यदि इसमें इस बल का अभाव हुआ, तो इसका स्वाभाविक ब्रह्मवीर्य्य उच्छिन्न हो जायगा। अष्टदान, तुलादान, शनैश्चरदान, आदि कतिपय परिग्रह महाभयङ्कर हैं। इन्हें आत्मसात् करते हुए आत्मस्वरूप को सुरक्षित रख लेना साधारण काम नहीं है। ऐसी प्रतिगृहीताओं का वंशोच्छेद होता देखा गया है। कहना न होगा कि, आज ऐसे परिग्रहों का, एव असत् परिग्रहों का अनुगमन करता हुआ भारतीय ब्राह्मण समाज अपने ब्रह्मवीर्य्य से हाथ धो बैठा है। ब्राह्मणवर्ण के पतन के जहा और-और कई एक कारण है, वहा असतपरिग्रह ग्रहण एक सर्वमूर्द्धन्य कारण बन रहा है। अस्तु प्रकृत में इस 'दानमीमासा' से यही बतलाना है कि, दानकर्म्म यज्ञ तप की भाति एक शास्त्रीयकर्म्म है, विद्यासापेक्षकर्म्म है। यज्ञादि की तरह इसका भी एक नियत व्यवस्था है, जिसमें मानवीय कल्पना को प्रवेश करने का अणुमात्र भी अधिकार नहीं है।

'यज्ञ-तप-दान' तीनों कर्म्म वेदविज्ञान सापेक्ष बनते हुए 'विद्यासापेक्ष' हैं। इन तीनों का ही उदर्क (फल) परोक्ष है। इनका परिज्ञान सामान्य, विशेपभाव से दो भागों में विभक्त है। शास्त्रों मे इन कर्म्मों की जो पद्धति बतलाई है, केवल उसे जानकर कर्म्म कर लेना सामान्य ज्ञानमूलक परिज्ञान है। एवं श्रद्धा-विद्या-उपनिषत् के सम्यक् अवबोध से किया हुआ वही कर्म्म विशेप अतिशय का कारण बनता हुआ विशेपज्ञान मूलक परिज्ञान है। वस्तुतस्तु श्रद्धा-विद्या-उपनिषत्-सम्पत्तियों से वञ्चित कर्म्म कभी-कभी इष्ट के स्थान मे अनिष्ट का भी कारण बन जाता है। क्योंकि इन तीनों के परिज्ञान के बिना कर्म्मेतिकर्त्तव्यताओं पर पूरा-पूरा विश्वास नहीं होता। एवं विश्वास के बिना कर्म्म प्रवृत्तिबल का शिथिल बन जाना स्वाभाविक ही है। 'इदमित्थमेव कर्त्तव्यं, नान्यथा' यह अभिनिवेश नहीं रहता। फलतः कृतकर्म्म अंशतः उपेक्षा धर्म्म से युक्त होता हुआ अनिष्ट का कारण बन जाता है।

श्रद्धा, विद्या, तथा उपनिषदों के परिज्ञान के अभाव से ही आज हमारा द्विजाति वर्ग इन वैदिक यज्ञकर्म्मों को एक प्रदर्शन की वस्तु मान रहा है। इसी अविद्या के कारण कितने ही पुरुषार्थियों ने यज्ञ कर्म्म की नवीन पद्धतियां बनाने का दुःस्साहस कर डाला है। इस उच्छृङ्खलता का एक मात्र कारण उपपत्ति ज्ञान का अभाव ही है। इस उपपत्ति ज्ञान के अभाव से कृतकर्म्म आज अतिशय उत्पन्न करने मे असमर्थ हो रहे हैं। विकृत कर्म्म इष्ट के

स्थान में अनिष्ट के जनक बन रहे हैं। परिणामतः भारतीय आर्ष-प्रजा इन वैदिक कर्म्मों की ओर से दिन-दिन विमुख होती जा रही है।

"अमुक कर्म्म ऐसे ही क्यों किया जाता है" ? एवं "अमुक कर्म्म का उदर्क क्या है" ? कर्म्म के इस कार्य्य-कारण रहस्य का ही नाम 'विद्या' है। "कार्य्य को फल के साथ क्या सम्बन्ध है" ?, "कर्म्म की मूल प्रतिष्ठा क्या है" ? इस प्रश्न का समाधान ही 'उपनिषत्' है। इसी फल-सम्बन्धाभिज्ञान से कर्म्म मे विश्वास उत्पन्न होता है। उपनिषत्-सम्मतकर्म्म के साथ आत्मा का सम्बन्ध हो जाना ही 'श्रद्धा' है। श्रद्धा ही मध्यस्थ बन कर आत्मा का कर्म्म के साथ ग्रन्थिबन्धन करती है। बिना श्रद्धा के किया हुआ कर्म्म व्यर्थ चला जाता है। इन तीनों के समन्वय से जो कर्म्म किया जाता है, वह वीर्य्यवत्तर बनता हुआ अवश्य ही सफल बनता है। जैसा कि निम्न लिखित श्रुति से स्पष्ट है—

> "यदेव विद्यया करोति, श्रद्धया, उपनिषदा, तदेव—
> वीर्य्यवत्तरं भवति" —छान्दोग्य उप०। इति।

१—कार्य्यकारणरहस्यपरिज्ञानं— 'विद्या'
२—कार्य्येणफलाभिसम्बन्धपरिज्ञान— 'उपनिषत्'
३—आत्मन कार्य्येण सम्बन्ध.— 'श्रद्धा'

विद्यासापेक्ष कर्म्म, और आर्षधर्म्म—

हमारे मेधावी पाठकों को स्मरण होगा कि, पूर्व के 'वैदिककर्म्मयोग' नाम के प्रकरण में प्रसङ्गत हमने 'आर्षधर्म्म एवं सन्तमत' नाम से आर्षधर्म्म तथा सन्तमत की तुलना की थी—(देखिए, कर्म्मयोगपरीक्षा, योगसङ्गति-प्रकरण, पृ० सं० २७६–२८०)। चूकि यहां भी वैदिककर्म्मों का ही प्रसङ्ग चल रहा है, अत उस पूर्व कथन का सिंहावलोकन दृष्टि से पुन. दर्शन कर लेना प्रासङ्गिक होगा। वेदशास्त्र आप्तऋषियों की 'दृष्टि' है। अतएव वेदसिद्ध वैदिक कर्म्मों को हम (ऋषिदृष्टि के सम्बन्ध से) अवश्य ही आर्षधर्म्म' कह सकते हैं। आर्षधर्म्म सन्तमत का विरोधी हो, किंवा सन्तमत आर्षधर्म्म का विरोधी हो, यह बात तो नहीं है। आर्षधर्म्म भी लोक-कल्याण के लिए ही प्रवृत्त हुआ है, एवं सन्तमत का लक्ष्य भी लोक कल्याण ही है। दोनों मे अन्तर केवल यही है कि, आर्षधर्म्म 'शाश्वत-धर्म्म' है, तथा सन्तमत 'सामयिक-

मत' है। शाश्वतधर्म्म-लक्षण आर्षधर्म्म जहां आप्रलयान्त समानरूप से प्रवाहित रहता है, वहां सामयिकमत लक्षण सन्तमत तत्तत् समय विशेषों में हीं उपकारक बनता है। आर्षधर्म्म जहां प्राकृतिक धर्म्म है, प्रकृति का नित्य नियति सूत्र है, वहां सन्तमत सामयिक श्रेष्ठ पुरुषों के देश-काल-पात्र द्रव्य-श्रद्धानुगता योग्यता से सम्बन्ध रखने वाले सामयिक, किन्तु उपकारक, तथ्यपूर्ण आदेशों का संग्रह है। आर्षधर्म्म अविच्छिन्न धरातल है, सन्तमत इस धरातल पर प्रतिष्ठित रहते हुए खण्ड खण्डात्मक सामयिक भव्य प्रासाद है। समय परिवर्त्तन के साथ-साथ सन्तमतों में उच्चावच भावों का समावेश होता रहता है, आर्षधर्म्म सदा एक रूप से प्रतिष्ठित रहता है जो सन्तमत आर्षधर्म्म को मूल प्रतिष्ठा बना कर आर्षप्रजा के सम्मुख उपस्थित होता है, आर्षप्रजा उसका ग्रहण कर लेती है। भारतवर्ष में तत्तत् समय विशेषों में उत्पन्न होने वाली वे समस्त सम्प्रदाए, जिन्होंने आर्षधर्म्म को अपनी मूलप्रतिष्ठा बनाया, आदर सत्कार की पात्र मान लीं गईं। परन्तु जिन सम्प्रदायों ने, जिन सन्तमतों ने आर्षधर्म्म की उपेक्षा करते हुए, केवल अपनी कल्पना को प्रधान रक्खा, आर्षप्रजा ने आर्षधर्म्म विरोधी (प्राकृतिक धर्म्म-विरोधी) उन सन्तमतों का एकान्ततः परित्याग कर दिया।

तात्पर्य्य निवेदन करने का यही है कि, यदि कोई सन्तमत, कोई सम्प्रदाय अपने वैय्यक्तिक सिद्धान्तों को अक्षुण्ण रखने के साथ-साथ आर्ष-धर्म्म को अपना प्रधान लक्ष्य बनाती है, तब तो वह सम्प्रदाय, वह सन्तमत आर्षधर्म्म परिग्रहानुग्रह से अवश्य ही आर्षप्रजा का उपकारक बन जाता है। यदि सन्तमत आर्षधर्म्म की उपेक्षा कर देता है, जनता के सामने केवल सामयिक अपने मत का ही आदर्श सामने रखता है, तो अवश्यमेव आर्षधर्म्म परिग्रह वञ्चित ऐसा सन्तमत आर्ष-प्रजा की मौलिकता का विघातक बन जाता है। बड़े ही शोक के साथ आज हमें यह कहना पड रहा है कि, हमारे वे सन्तमत, जिनका प्रादुर्भाव आर्ष-धर्म्म को मूल बना कर हुआ था सामयिक वातावरण की शान्ति के साथ-साथ आर्ष-धर्म्म रक्षा भी जिन सन्तमतों का प्रधान लक्ष्य था, उन सन्तमतों नें कुछ एक शताब्दियों से आर्ष धर्म्म की एकान्ततः उपेक्षा कर डाली है। आर्षधर्म्म की उपेक्षा के क्या-क्या भीषण परिणाम हुए, इसकी मीमांसा का न तो प्रकृत में कोई अवसर ही है एवं न कोई लाभ ही। हां, 'इस सम्बन्ध में यह कटुसत्य कहने में हमें अणुमात्र भी संकोच नहीं होता कि, जबतक आर्षप्रजा आर्षधर्म्म का अनुगमन न करेगी, तब तक इसका अभ्युदय न होगा।

आर्षधर्म्म नें हीं सब से पहिले ईश्वरसत्ता, ईश्वरोपासना, देवोपासना, यज्ञ, तप, दान आदि आत्मोपकारक, आत्मविकासक सिद्धान्तों का आविष्कार किया। परन्तु किस दृष्टि

कोण से ? यही एक ऐसा प्रश्न है, जो आर्प-धर्म्म, तथा सन्तमत की तुलना करते हुए हृच्छूलोत्पत्ति का कारण बन रहा है। 'भरद्वाज, वसिष्ठ, भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, मरीचि, कश्यप, जमदग्नि, विश्वामित्र,' इत्यादि 'ऋपिप्राण'; 'अग्निष्वात्ता, सोमसत्, वर्हिपत्, आज्यपा, सोमपा, हविर्भुक्, सुकाली' इत्यादि 'पितरप्राण'; 'अग्नि, वायु, आदित्य, इन्द्र, वरुण, रुद्र, यम, निऋ ति, पूपा, मातरिश्वा, सविता, पवमान, पावक, शुचि, धाता, भग, अर्य्यमा, वसु,' इत्यादि 'देवप्राण'; 'वृत्र, नमुचि, बल, जम्भ, किलात, आकुली'; इत्यादि 'असुरप्राण'; 'हाहा, हूहू, हंस, गोमायु, नन्दी' आदिआठ क्षुद्रगन्धर्व; 'सिद्ध, पूर्ण, वर्हीं, पूर्णायु, ब्रह्मचारी, रतिगुण' आदि दस प्राधेयगन्धर्व; 'भीम, भीमसेन, उग्रसेन, कलि, पर्जन्य, गोपति, प्रयुत, सूर्य्यवर्चा, सुपर्ण, अर्कपर्ण, नारद, चित्ररथ, शालिशिरा' आदि सोलह मौनेयगन्धर्व; 'अङ्गारि, अम्भारि, अभ्राज, मूर्ध्न्वान् कृधु, कृशानु, स्वाश्वी' आदि ग्यारह दिव्यगन्धर्व; इत्यादि रूप से अनेक श्रेणियों में विभक्त 'गन्धर्वप्राण'; 'पुरुप-अश्व-गौ-अवि-अज' नामक पांच 'पशुप्राण' इत्यादि—इत्यादि प्राणों के समन्वय-तारतम्य से ही प्रजापति विश्वरचना में समर्थ रहे हैं। प्राणगर्भित भूतात्मिका इस प्राजापत्य सृष्टि का एक निश्चित क्रम है, निश्चित संस्थान है। जब-जब इन प्राजापत्य प्राणों के प्राकृतिक यज्ञ में विपमता उपस्थित होती है, तब-तब ही प्राणकृतमूर्ति प्रजावर्ग के स्वरूपों में विपमता आ जाती है। इस विपमता को दूर करने के लिए प्राकृतिक यज्ञिय प्राण-देवताओं की विपमता दूर करना आवश्यक है। एवं जिस वैज्ञानिकी प्रक्रिया से, तत्तत्प्राण-देवता गर्भित तत्तत् भौतिक पदार्थों के संयोग से कृतरूप जिस यजन प्रक्रिया से देवक्षोभ शान्ति पूर्वक प्रकृति का अनुग्रह प्राप्त किया जाता है, वही प्रक्रियाविशेप 'यज्ञकर्म्म' है। अकाल, दुष्काल, महामारी आदि दैवी आपत्तियों का, रोग-शोक-भय-दारिद्र्य आदि शारीरिक आपत्तियों की चिकित्सा प्रजा-लोक-वित्त-साम्राज्य आदि लोक वैभवों की रक्षा, तथा विकास, सब कुछ इस यज्ञकर्म्म से सिद्ध हैं। सन्तमत की तरह आर्प-धर्म्म का अनुयाई अपने उपास्य देवता के सामने कातर भाव से खड़ा होकर दया की भीख नहीं मांगता। वह अपने आपको पापात्मा, पापकर्म्मा, पापसम्भव कह कर आत्मवीर्य्य को नहीं गिराता, अपितु वह अपने उपास्य देवता का यज्ञकर्म्म द्वारा आह्वान कर उसे स्वोद्दश्य सिद्धि के

लिए विवश कर देता है। ठीक-ठीक विधि से किया हुआ यज्ञकर्म्म कभी व्यर्थ नहीं जाता। यज्ञसूत्र से आकर्षित देवता को विवश होकर फलप्रदान करना पड़ता है। यज्ञकर्म्म के द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर आधिपत्य जमाया जा सकता है, पूर्वजों ने जमाया था। परन्तु आज उसी यज्ञकर्म्म का, विद्यासापेक्ष वैदिक आर्षधर्म्म का परित्याग कर आर्षधर्म्म की प्रतिष्ठा से वञ्चित विशुद्ध सन्तमत को अपना कर हम अपना सर्वस्व खो बैठे हैं। सब कुछ साधन हमें भगवान की ओर से ऋषियों के द्वारा मिले हुए हैं। फिर भी अज्ञानतावश इस अमूल्य देन को भुलाते हुए हम पदे पदे भीख मांगा करते हैं। आक्रमण करने वाले आततायियों से बचने के लिए अश्रुपूर्णकुलेक्षण बनते हुए कायरता प्रकट किया करते हैं। इन सब विडम्बनाओं को क्यों अवसर मिला ? वैदिक कर्म्मों के परित्याग से, आर्षधर्म्म की उपेक्षा से, वैदिक कर्म्मों के अन्यथा आचरण से, आर्षधर्म्म का व्याज से आचरण करने से। क्या कभी हमारा भ्रान्त समाज फिर भी अपने उस आर्षधर्म्म, वैदिक-धर्म्म, सनातनधर्म्म का तात्विक स्वरूप समझता हुआ अपनी विनाशमूला भ्रान्ति को दूर करने का कोई प्रयास करेगा ? इसका समाधान तो नियतिचक्र के अनुग्रह पर ही निर्भर है। अथवा निर्भर है उन पुरुष-पुङ्गवों की सद्बुद्धि पर, जो धर्म्म, मत, देश, जाति, राष्ट्र के कर्णधार बने हुए हैं।

विद्यासापेक्ष वैदिक कर्म्मों का दिग्दर्शन कराते हुए तत् सम्बद्ध आर्षधर्म्म की महत्ता दो शब्दों में बतलाई गई। अब क्रमप्राप्त 'विद्यानिरपेक्ष लौकिक कर्म्म' की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। भूत प्रधान लौकिक कर्म्मों को 'रमणीय कर्म्म'-'कपूयकर्म्म' भेद से दो भागों में बाँटा जा सकता है। जिन लौकिक कर्म्मों का उदर्क शुभ है, वे रमणीय कर्म्म कहलाएंगे, एवं जिनका उदर्क अशुभ है, उन्हें कपूय कर्म्म कहा जायगा। अशुभोदर्क लक्षण इन कपूय कर्म्मों के भी आगे जाकर दो विभाग हो जाते हैं। कुछ एक ऐसे कपूयकर्म्म, जिनका मूल अविद्या है, अविद्यामूलक कहलाएंगे, कुछ एक ऐसे कपूयकर्म्म जो अविद्या उत्पन्न करते हैं, अविद्याजनक कहलाएंगे। मद्यपान, मिथ्याभाषण, अगम्यागमन, हिंसा, स्तेय, आदि जिन कर्म्मों का शास्त्र ने निषेध किया है, वे सब शास्त्रनिषिद्ध कर्म्म 'अविद्याजनक' कहलाए हैं। जिस प्रकार लौहादि मलिन धातुओं से किट्टादि (जंग) निकल कर लौहादि को आवृत किया करते हैं, एवमेव इन मलिन कर्म्मों से उत्पन्न पाप्मारूप (अविद्यारूप) किट्ट आत्मज्योति को मलिन कर डालता है, आवृत कर लेता है। किट्ट रूप अविद्या उत्पन्न करने के कारण ही इन निषिद्ध कर्म्मों को 'अविद्याजनक' कहा गया है।

विद्यानिरपेक्ष लौकिक कर्म्म-

जिन कर्म्मों का, न तो शास्त्र में विधान ही है, एवं निषेध ही, अतएव जो कर्म्म विहिताप्रतिषिद्ध' नाम से प्रसिद्ध हैं, वे सब कर्म्म 'अविद्यामूलक' माने जायेंगे। जिनका आत्मा पूर्वजन्मकृत अविद्याजनक कर्म्मों के अविद्यारूप मलिन संस्कारों से युक्त है, जो ने वर्त्तमान जन्म में भी शास्त्रनिषिद्ध अविद्याजनक कपूय कर्म्मों के अनुगामी रहते हुए द्या संस्कार के पात्र बन गए हैं, ऐसे मलिन-संस्कारी व्यक्ति ही 'अपितापतिषिद्ध' निरर्थक र्मों मे प्रवृत्त होते हैं। उद्देश्य-रहित, अविहिताप्रतिषिद्ध, निरर्थक यद्वयातद्वत् कर्म्म चूंकि द्या संस्कार की कृपा से प्रवृत्त होते हैं, अतएव इन्हें अविद्यामूलक किंवा अविद्याजनित ा सर्वथा अन्वर्थ बनता है। ठाले बैठे रहना, बिना प्रयोजन इतस्तत चक्कर लगाते ा, घर आने पर जाग्रदवस्था मे तो कुटुम्बियों से लड़ते-झगड़ते रहना, थक गए, तो जाना, भंग गाजा-चरस आदि मलिनी करण पदार्थों को विनोद सामग्री समझना, स्त्री-दुष्ट मनुष्य आदि मे बैठ कर अट्टाट्टहास करना, एवं अस्तव्यस्त प्रलाप करते रहना, ये अविद्यामूलक कर्म्म हैं। अविद्याक्रान्त मनुष्य ही ऐसे कपूयकर्म्मों मे प्रवृत्त रहते हैं। द्ध कर्म्म जहा अविद्या उत्पन्न करते हैं, वहा अविहिता प्रतिषिद्ध कर्म्म अविद्या से उत्पन्न हैं। निषिद्ध कर्म्म कपूयकर्म्मों की प्रथमावस्था है, अविहिता प्रतिषिद्ध कर्म्म कपूयकर्म्मों त्तरावस्था है। अविद्याजनक (निषिद्ध) कर्म्म ही अविद्यामूलक कर्म्मों के जनक बनते ऐसी दशा मे इन अविद्यामूलक कर्म्मों की प्रवृत्ति रोकने का एक मात्र उपाय है, अविद्या-क (शास्त्रनिषिद्ध) कर्म्मों का तो परित्याग एव शास्त्रसिद्ध कर्म्मों का अनुगमन। जब हम शास्त्र निषिद्ध कर्म्मों का अनुगमन, एव शास्त्रविहित कर्म्मों की उपेक्षा करते रहेंगे, क निषिद्धकर्म्मों के अनुग्रह से अविद्या संस्कार उत्पन्न होते रहेंगे, सञ्चित अविद्या-ारों का स्तम्भ कभी समाप्त न होगा, एव शास्त्रविहित कर्म्मों की उपेक्षा से अविद्या ारों के स्तम्भ को निर्बल बनाने वाले शुभ संस्कारों का स्तम्भ निर्बल रहेगा।

अविद्याजनक, निषिद्ध, कपूय कर्म्म शास्त्र विरुद्ध होने से 'विकर्म्म' नाम से प्रसिद्ध । अविद्यामूलक किंवा अविद्याजनित, कपूय कर्म्म, अविहिताप्रतिषिद्ध होने से निरर्थक बनते हुए 'अकर्म्म' नाम से प्रसिद्ध हैं। वैदिक दृष्टि से तो ये दोनों कपूयकर्म्म बुरे साथ ही लौकिक दृष्टि से भी दोनों -वैय्यक्तिक, तथा सामाजिक जीवन विकास क तक बनते हुए सर्वथा निन्द्य, अतएव हेय कोटि मे ही प्रविष्ट हैं। उक्त कर्म्म-भेद दिग्दर्शन ष्कर्ष यह निकला कि, कर्म्म के वैदिक, लौकिक भेद से दो मुख्य भेद है। लौकिक के रमणीय, कपूय, दो भेद है। एवं कपूय कर्म्म के अविद्याजनक, अविद्यामूलक दो

भेद हैं। इस प्रकार १—विद्यासापेक्ष वैदिककर्म्म, २—विद्यानिरपेक्ष अविद्याप्रधान कर्म्म, १—विद्यानिरपेक्ष, किन्तु अविद्यारहित कर्म्म, भेद से कर्म्म के चार विभाग हो जाते हैं। संसार में अच्छे-बुरे, लौकिक, पारलौकिक, वैय्यक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, जितने भी कर्म्म हैं, उन सब कर्म्मों का इन्हीं चार कर्म्म जातियों में अन्तर्भाव है। इन चारों श्रेणियों से बाहिर कोई कर्म्म नहीं बचता।

विद्यासापेक्ष वैदिक कर्म्म सत्कर्म्म हैं, विद्यानिरपेक्ष, किन्तु अविद्यारहित लौकिक रमणीय-कर्म्म शुभ कर्म्म हैं। दोनों 'कर्म्म' मर्य्यादा से युक्त रहते हुए 'ग्राह्य' हैं। एवं इसी कर्म्म-मर्य्यादा की दृष्टि से इन दोनों को (सत्कर्म्म, तथा शुभकर्म्म को) हम 'कर्म्म' कहने के लिए तय्यार हैं। विद्यानिरपेक्ष, अविद्याजनक कपूय कर्म्म, एवं विद्यानिरपेक्ष, अविद्यामूलक कपूय कर्म्म, दोनों अशुभ कर्म्म हैं। पहिला शास्त्र निषिद्ध बनता हुआ 'विकर्म्म' है, दूसरा निरर्थक बनता हुआ 'अकर्म्म' है। इस दृष्टि से उक्त चार विभागों के 'कर्म्म-विकर्म्म-अकर्म्म' भेद से तीन विभाग भी किए जा सकते हैं। एवं सर्व संग्राहक भगवान् ने गीताशास्त्र मे इन्हीं तीन विभागों का उल्लेख किया है, जैसा कि निम्न लिखित भगद्वचन से स्पष्ट है—

> कर्म्मणो ह्यपि बोद्धव्यं; बोद्धव्यं च विकर्म्मणः।
> अकर्म्मणश्च बोद्धव्यं, गहना कर्म्मणो गतिः॥
>
> —गीता ४।१७।

१-वैदिककर्म्म—(१) १—विद्यासापेक्ष वैदिककर्म्म (शास्त्रसिद्ध सत्कर्म्म)
(१) २—विद्यानिरपेक्ष रमणीयकर्म्म (शास्त्रानुमोदित-शुभकर्म्म) } "कर्म्म" (१)

२-लौकिककर्म्म—(१) ३—अविद्याजनक कपूयकर्म्म (शास्त्रनिषिद्ध-अशुभकर्म्म) } "विकर्म्म"(२)
(२) ४—अविद्यामूलककपूयकर्म्म (शास्त्रोपेक्षित-अशुभकर्म्म) } "अकर्म्म" (३)

विद्यानिरपेक्षरमणीयकर्म्म—

पूर्वपरिच्छेद-प्रतिपादित चारों कर्म्म विभागों में से विद्यासापेक्ष वैदिककर्म्म के अवान्तर 'यज्ञ-तप-दान' लक्षण तीनों सत्कर्म्मों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। अब लौकिक विभागत्रयी शेष रहती है। इन लौकिक तीनों कर्म्मों में से अविद्याजनक विकर्म्मों, तथा अविद्यामूलक अकर्म्मों का, दोनों का उपबृंहण

करने की आवश्यकता इसलिए नहीं है कि, दोनों की ही सजीव प्रतिमाएं (मनुष्य) वर्त्तमान युग में बहुसंख्या में उपलब्ध हैं। ऐसी दशा में विद्यानिरपेक्ष रमणीय कर्म्मों का स्पष्टीकरण ही शेष रह जाता है। इसी का संक्षिप्त स्वरूप पाठकों के सम्मुख रक्खा जाता है।

जैसा कि, प्रकरणारम्भ में स्पष्ट किया जा चुका है, विद्या, तथा कर्म्म शब्दों से प्रकृत में सौरतत्व, एवं पार्थिवतत्व ही अभिप्रेत है। सौरतत्व विदेव प्रधान बनता हुआ विद्याप्रधान है, पार्थिवतत्व भूतप्रधान बनता हुआ कर्म्म प्रधान है। इसी आधार पर सौरविद्या (वेद) मूलक कर्म्म 'विद्यासापेक्ष' कहलाया है, एवं पार्थिवकर्म्म (भूत) मूलक कर्म्म विद्यानिरपेक्ष कहलाया है। वेदानुगत, विज्ञान (बुद्धि) सहकृत, आधिकारिक कर्म्म विद्यासापेक्ष माना जायगा, एवं भूतानुगत, प्रज्ञान (मनः) सहकृत, यथारुचि, कर्म्म विद्यानिरपेक्ष कहा जायगा। विद्यानिरपेक्ष इन लौकिक कर्म्मों के सम्बन्ध में प्रकृतिसिद्ध वेदविद्या का कोई नियन्त्रण नहीं है। लोकरुचि ही इनकी मूल प्रतिष्ठा है। यही कारण है कि, विद्यासापेक्ष यज्ञ, तप, दान, इन तीनों वैदिक कर्म्मों का प्रादुर्भाव, विकास, प्रचार, प्रसार वर्ण सम्पत्ति से युक्त केवल भारतीय द्विजाति वर्ग से ही सम्बन्ध रखता है। अन्यत्र इन तीनों वैदिक कर्म्मों का आत्यन्तिक अभाव है। वर्णभाव मूला, अनधिकारानुबन्धिनी, अयोग्यता ही इस अन्यत्राभाव का मूल-कारण है, जैसा कि वर्णव्यवस्था विज्ञान में स्पष्ट हो चुका है। विद्यानिरपेक्ष लौकिक कर्म्म में मनुष्यमात्र का समानाधिकार है। यही कारण है कि, लौकिक रमणीय कर्म्म किसी न किसी रूप से सभी देशों के सभ्य समाजों में अविकृत-विकृतरूप से उपलब्ध होते हैं। सभी देश इनकी आवश्यकता समझते हुए तारतम्य से इनका यथाशक्ति अनुगमन कर रहे हैं। विज्ञान से वञ्चित रहते हुए भी, विद्या से असम्बद्ध रहते हुए भी चूंकि ये लौकिक रमणीय कर्म्म व्यक्ति, तथा समाज की लौकिक आवश्यकताएं पूरी करते हैं, अतएव इन्हें (लोकदृष्टि से) शुभकर्म्म मान लेने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। स्वयं स्मृतिशास्त्र ने भी इन्हें शुभोदर्क मानते हुए इनकी उपयोगिता स्वीकार की है।

विद्यानिरपेक्ष इन लौकिक रमणीय कर्म्मों को प्रधानपरू से 'इष्टकर्म्म-आपूर्त्तकर्म्म-दत्तकर्म्म' भेद से तीन श्रेणीयों में बांटा जा सकता है। अर्थसाधक कर्म्म ही लौकिक कर्म्म है, यह कहा गया है। मनोवृत्तियों के भेद से यह अर्थतन्त्र 'स्वार्थ-परार्थ-परमार्थ' भेद से तीन भागों में विभक्त हैं। कितने एक लौकिक कर्म्म केवल कर्म्मकर्त्ता के वैय्यक्तिक स्वार्थ से सम्बन्ध रखते हैं। इन स्वार्थमूलक लौकिक कर्म्मों को ही 'इष्टकर्म्म' कहा गया है। कितने

एक लौकिक कर्म्मों से कर्म्मकर्त्ता दूसरे कतिपय परिगणित व्यक्तियों को लाभ पहुंचाता है। इन परार्थ कर्म्मों को ही 'दत्तकर्म्म' कहा गया है। कितने एक लौकिक कर्म्म कर्म्मकर्त्ता के द्वारा अगणित, व्यक्तियों के (समाज के) हित साधन करते हैं। इन परमार्थ कर्म्मों को ही 'आपूर्त्तकर्म्म' कहा गया है। इस प्रकार व्यक्तिगत स्वार्थ के साधक, दूसरे कतिपय परिगणित व्यक्तियों के उपकारक, एवं समाज के उपकारक, ये तीन हीं लौकिककर्म्म हो सकते हैं। इनके अतिरिक्त कितने एक लौकिक कर्म्म ऐसे भी हैं, जिन के अनुगमन से स्वार्थ सिद्धि के साथ-साथ यथासम्भव परार्थ, तथा परमार्थ बन जाता है। चिकित्सा-कर्म्म ऐसा ही है। वैद्य को द्रव्य मिलता है, यही स्वार्थ सिद्धि है। रोगी उपकृत होते हैं, यही परार्थ-साधन है। राजनीति से सम्बन्ध रखने वाले कर्म्मों से राजा उपकृत होता है, यही स्वार्थ है। राजनीतिसूत्र सञ्चालन से प्रजा उपकृत होती है, यही परमार्थ है। वस्तुतस्तु विशुद्ध परार्थ, तथा विशुद्ध परमार्थ (परोपकार, तथा परमोपकार) नाम का कोई भी कर्म्म नहीं हैं। सब के मूल में स्वार्थ प्रतिष्ठित है। 'हम अपने लिए कुछ नहीं करते' यह परार्थ-परमार्थ वृत्ति भी आत्मशान्ति का कारण बनती हुई स्वार्थ-सिद्धि का द्वार बन रही है।

अपने इष्ट देवता की (लौकिक) उपासना, आगत अतिथि का सत्कार, तप (श्रम लक्षण प्रह्म कर्म्म), सत्यभाषण, अस्तेय, अहिंसा, इत्यादि जिन कर्म्मों से आत्मतुष्टि होती है, आत्मा का हित साधन होता है, वे सब काम 'इष्ट' कर्म्म हैं। भारतीय आर्यप्रजा, यवन, म्लेच्छ, जैन, बौद्ध, आदि सभी वर्ग स्व-स्व अभिमत लौकिक उपासना के अनुगामी हैं। अतिथिसत्कारादि सामान्य धर्म्म सभी वर्गों में परिगृहीत हैं।

हां, इस सम्बन्ध में यह अवश्य ही स्पष्ट कर लेना चाहिए कि, भारतीय ॠषियों की विज्ञानानुमोदित शास्त्रीय प्रतिभा ने इन लौकिक इष्टकर्म्मों मे भी पारलौकिक कर्म्मों का समावेश कर डाला है। न केवल इष्ट कर्म्मों में हीं, अपितु आपूर्त्त, दत्त नामक इतर दोनों कर्म्मों में भी शास्त्र निष्ठा प्रविष्ट हो गई है और यही हमारे पूर्वजों की शास्त्रैकशरणमूला शास्त्रानन्यनिष्ठा है। इन की आध्यात्मिक उपासना प्रकृति भेद पर प्रतिष्ठित है, जैसा कि 'भक्तियोग परिक्षा' मे विस्तार से निरूपित है। इनका अतिथि-सत्कार कर्म्म भी एक परिष्कृत पद्धति से अनुगृहीत बनता हुआ सर्वोत्कृष्ट है। इनका सत्यभाषण, इनका अहिंसा कर्म्म, ओर-ओर सभी इष्ट कर्म्म प्रवृत्तिसूत्र से बद्ध रहते हुए लोकभक्ति के साथ-साथ पराभक्ति के भी अनुगामी बन रहे हैं। तत्त्वतः जन्मक्षण से आरम्भ कर निधनक्षण पर्य्यन्त इन शास्त्रनिष्ठों के वैदिक-लौकिक, सभी कर्म्म शास्त्रादेश को मूलप्रतिष्ठा बनाए हुए हैं। यही इन के शास्त्रों का,

इन का, इन के धर्म्म का, इन के कर्म्म का सनातनत्त्व है। यही इन की अमृतोपासना है, इसी अमृतोपासना के बल पर ये 'अमृतपुत्र' कहलाए हैं—'अमृतस्य पुत्रा अभूम'। मर्त्य से मर्त्य पदार्थों में भी ये मर्त्यव्याज से अमृत का ही अन्वेषण करते हैं। लोक विभूतियों में भी ये अमृत की ही खोज करते हैं। इसी अमृतान्वेषण के बल पर अपने अन्वेषण कर्म्म में सफल बनते हुए ये—"भूतेषु-भूतेषु निचित्य धीराः, प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति" के अधिकारी बन जाते हैं, जिस सौभाग्य से केवल मृत्यु धर्म्मों के अनुयायी अन्य लौकिक पुरुष एकान्ततः वञ्चित है। पारलौकिक, अमृत विभूतियों की प्रतिच्छाया से युक्त, भारतीयों के इसी 'इष्ट' कर्म्म का दिग्दर्शन कराते हुए वैज्ञानिक कहते हैं—

"इष्टकर्म्म" * १—अध्यात्म देवता पुष्ट्यै यत् कर्म्म विधिवत् कृतम्।
वाचा-प्राणेन-मनसा तदिष्ट मभिधीयते ॥
२—अग्निहोत्रं, तपः, सत्यं, देवानाञ्चानुपालनम्।
आतिथ्यं, वैश्वदेवञ्च 'इष्ट' मित्यभिधीयते ॥

---

* स्मृतिकारों नें 'इष्ट-आपूर्त्त-दत्त' कर्म्मों के अनेक लक्षण किए हैं। जैसा कि प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है, आर्ष धर्म्मानुयायिनी प्रजा के ये तीनों लौकिक कर्म्म भी प्रकृतिसिद्ध नित्यविज्ञान की प्रतिच्छाया से युक्त होते हुए शास्त्रीय कर्म्म ही बन गए हैं। इसी लिए कितनें एक (नारदादि) स्मृतिकारों नें इन लौकिक कर्म्मों में भी वर्णनियन्त्रण लगा दिया है। इस के अतिरिक्त यज्ञिय दान के अतिरिक्त होने वाले उपवास-सूर्य्य-संक्रमण-द्वादशी आदि में होने वाले तिथिदान, आदि को पूर्त्त (आपूर्त्त) मान लिया है। शास्त्रीय पद्धति से बद्ध ये सभी स्मार्त्त सिद्धान्त शास्त्रनिष्ठा के लिए सर्वथा मान्य हैं। निम्न लिखित कतिपय वचन इन लौकिक कर्म्मों की इसी अलौकिकता का स्पष्टी करण कर रहे हैं—

१—इष्टापूर्त्तौ स्मृतौ धर्म्मौ श्रुतौ तौ शिष्टसम्मतौ।
प्रतिष्ठाद्यन्तयोः पूर्त्तमिष्टं यज्ञादिलक्षणम् ॥
भुक्ति-मुक्ति प्रदं पूर्त्तमिष्टं भोगार्थसाधनम्। —कालिकापुराण
२—एकाग्नि कर्म्म हवनं त्रेतायां पच्च ह्रयते।
अन्तर्वेद्याञ्च यद्दानमिष्टन्तदभिधीयते ॥

'इष्ट' नामक स्वार्थ कर्म्म के अतिरिक्त 'दत्त' नाम का दूसरा 'परार्थ' कर्म्म है। 'दत्त' लक्षण यह 'दान' विद्यासापेक्ष, दक्षिणा लक्षण, शास्त्रीय दान कर्म्म का सर्वथा प्रतिद्वन्द्वी है। हीनाङ्ग, असमर्थ, दरिद्री, बुभुक्षु, आदि को यथाशक्य अन्न-पात्र देना 'दत्त' कर्म्म है। इस कर्म्म में 'दत्त' गृहीता से दाता कोई प्रत्युपकार नहीं चाहता। उधर दक्षिणा लक्षण दान कर्म्म में प्रत्युपकार रहता है। यदि दक्षिणा न दी जायगी, तो इसका यज्ञकर्म्म ही नष्ट हो जायगा। दक्षिणा देना उपकार नहीं, अपितु स्वरूप रक्षा के लिए एक आवश्यक कर्म्म है। यदि दक्षिणा देते समय दाता के मन में क्षणमात्र के लिए भी—'देखो, मैं इतना दे रहा हूं', यह भाव उत्पन्न हो गया, तो समझ लीजिए उसका यह दानकर्म्म व्यर्थ चला गया। आदर के साथ, श्रद्धा, विनय के साथ, 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द। तुभ्यमेव समर्पये' को लक्ष्य बताते हुए उसी प्रकार दक्षिणादान होता है, जैसे शिष्य गुरू को दक्षिणा देता है। किंवा जैसे—देव कर्म्म मे 'पूंगीफल-दक्षिणां समर्पयामि' यह आत्मार्पणभाव रहता है। दक्षिणादान में दान लेने वाले का आसन ऊंचा रहता है, देने वाले का आसन नीचा रहता है। लेने वाले का हाथ ऊपर है, देने वाले का हाथ नीचा है।

इधर 'दत्त' लक्षण दान मे ठीक दक्षिणादान से विपरीत भाव है। लेने वाले का आसन नीचा है, देने वाले का आसन ऊंचा है। देने वाले का हाथ ऊपर है, लेने वाले का हाथ नीचा है। दे तो भला है, न दे तो भला है। एक प्रकार का काम्य (ऐच्छिक) कर्म्म है। ऐसे दत्तलक्षण परिग्रह से ब्राह्मण के लिये मृत्यु[1] ही भली है। ब्राह्मण केवल दक्षिणालक्षण दान

वापि कूप तड़ागानि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामः पूर्त्तं मर्त्याः प्रचक्षते ॥—महाभारत।

२—आतिथ्यं वैश्वदेवञ्च इष्टमित्यभिधीयते।
महोपवासे यद्दानं सूर्य्यसंक्रमणे तथा ॥
द्वादश्यादौ च यद्दानं तत पूर्त्तं मिहोच्यते।
इष्टापूर्त्तं द्विजातिनां धर्म्मः सामान्य उच्यते ॥
अधिकारी भवेच्छूद्रः पूर्त्ते धर्म्मेण वैदिके।—नारदः।

१—तुलसी कर पर कर करो, कर तर कर न करो।
जा दिन कर तर कर करो, ता दिन मरण करो ॥

परिग्रह का अधिकारी है, वह भी उस दशा में, जब कि वह इस अल्पपरिग्रह की तुलना में यज्ञ सिद्धि, विद्यादानादि के द्वारा अधिक देने की शक्ति रक्खे। जिस ब्राह्मण में यह शक्ति नहीं, वह तो दक्षिणा-दान लेने का अधिकारी नहीं। दक्षिणालक्षण दान जहां 'अन्तर्वेदिलक्षण' था, वहां यह दत्तलक्षण दान 'बहिर्वेदिलक्षण' दान है। इसी के लिए— 'दरिद्रान्भर कौन्तेय!' यह आदेश हुआ है। इसी परार्थलक्षण दत्तकर्म्म का दिग्दर्शन कराते हुए वैज्ञानिक कहते हैं –

"*दत्तकर्म्म*" १—बहिर्वेदितु यद्दानं तद्दत्तमभिधीयते।
शरणागतसन्त्राणं भूतानां चाप्यहिंसनम्॥
२—ससाधनं सोपभोगं स्वमर्थं यः समर्पयेत्।
परस्मै तद्दरिद्राय तद्दत्तमिति कथ्यते॥
३—भूमिं, सुवर्णं, गां वस्त्र, मुत्थानं, पुस्तकं, गृहम्।
औपधं, भाजनं दद्यात् तद्दत्तमिति कथ्यते॥

तीसरा लौकिक कर्म्म आपूर्त्त है। इष्ट, तथा दत्तकर्म्म, दोनों स्वल्पद्रव्य सापेक्ष बनते हुए सर्वजनीत हैं। साधारण गृहस्थी भी इनका अनुगमन करने में समर्थ है। परन्तु परमार्थ (समुदायार्थ) साधक आपूर्त्त कर्म्म बहुद्रव्य सापेक्ष बनता हुआ समाज के धनिकवर्ग पर ही विशेषरूप से अवलम्बित है। वापी (बावड़ी), कूप, तलाव, घाट, सदावर्त्त, उद्यान, अजायबघर, पाठशाला, देवमन्दिर, धर्म्मशाला, औषधालय, पुस्तकालय, नौका, आदि आदि बहुजनोपकारक, अतएव परमार्थसाधक सब कर्म्म 'आपूर्त्त' नाम से प्रसिद्ध हैं। जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है—

"*आपूर्त्तकर्म्म*"-१—सर्वसाधारणार्थाय प्रवर्त्तयति यश्चिरम्।
बहुद्रव्यव्ययापेक्षं कर्म्म तत् पूर्त्तमुच्यते॥
२—वापी-कूप-तड़ागादि, देवतायतनानि च।
अन्नप्रदान, मारामः, पूर्त्तमित्यभिधीयते॥

३—पाठशालां, वाटशालां. मठं, शीतेऽनलं, प्रपाम्।
वाटं, वाटी, मन्नसत्रं, कुल्यां, वाटद्रुमांस्तथा ॥
४—पण्यशालां च, भैषज्यशालां, पुस्तक शालिकाम् ।
नौकां, सेतुं, घट्टबन्धं, कुर्य्यात, पूर्त्तवदन्तितत्॥

इस प्रकार 'यज्ञ, तप, दान,' भेद से तीन भागों मे विभक्त 'विद्यासापेक्ष वैदिकसत्कर्म्म,' एवं— 'इष्ट-आपूर्त्त-दत्त' भेद से तीन ही भागों में विभक्त 'विद्यानिरपेक्षलौकिक रमणीय-कर्म्म' सम्भूय वैदिक लौकिक कर्म्मों के अवान्तर ६ विभाग हो जाते हैं। इन ६ ओं मे से प्रथम त्रिक का तो केवल भारतीय द्विजातिवर्ग के साथ ही सम्बन्ध है, शेष दूसरा त्रिक यत्र-तत्र-सर्वत्र विकृत, अविकृत रूप से प्रचलित है।

वैदिक-लौकिक कर्म्मों का वर्गीकरण—

वैदिक कर्म्म हों, अथवा लौकिक, कर्म्मतन्त्र का तात्त्विक अन्वेषण करने वाले महर्षि सभी कर्म्मों में अधिकारी की अधिकार योग्यता को मुख्य स्थान देते हैं। यही कारण है कि, लोक-सामान्य में प्रचलित इष्टादि लौकिक कर्म्मों का भी भारतीय प्रजावर्ग में वर्णभेद के अनुसार ही वर्गीकरण उपलब्ध होता है। पहिले वैदिक कर्म्मों को ही लीजिए। यज्ञानुष्ठान, तपश्चर्य्या दक्षिणादान, तीनों वैदिक कर्म्मों मे यद्यपि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तीनों ही वर्ण (संस्कारप्रदत्त अधिकार की योग्यता से) अधिकृत हैं। तथापि यज्ञकर्म्म प्रधानरूप से ब्राह्मणवर्ण मे, तप.कर्म्म प्रधानरूप से क्षत्रियवर्ण में, एवं दानकर्म्म प्रधानरूप से वैश्यवर्ण मे ही प्रतिष्ठित है।

कारण स्पष्ट है। यज्ञ-तप-दान, तीनों ही विद्यासापेक्ष कर्म्म हैं। इन तीनों वैदिक कर्म्मों की मूलप्रतिष्ठा मन.प्राणवाङ्मय कर्म्मात्मा (कर्म्माव्यय) है। कर्म्मात्मा का मनोभाग ज्ञान प्रधान है. इसका यज्ञ से सम्बन्ध है। उधर वर्णों मे ब्राह्मण भी ज्ञानशक्तिप्रधान हीं माना गया है। आत्मा का प्राणभाग क्रिया प्रधान है, इसका प्राणमय तप से सम्बन्ध है। उधर क्षत्रिय को भी क्रियाप्रधान हीं माना गया है। आत्मा का वाग्भाग अर्थप्रधान है, इसका अर्थप्रधान दान से सम्बन्ध है। उधर वैश्य भी वर्णों मे अर्थप्रधान ही माना गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तीनों वर्णों का समुचितरूप ही समाजलक्षण शरीर का कर्म्मात्मा है। समाज का मनोमय आत्मा ब्राह्मण है, प्राणभाग क्षत्रिय है, वाग्भाग वैश्य है। अतएव ब्राह्मणवर्ण यज्ञकर्म्म में जितना निष्णात हो सकता है, इतरवर्ण नहीं। एक क्षत्रिय प्राणव्या-

लौकिक कर्म्मत्रयी—

(४)—१—इष्टकर्म्म—स्वार्थप्रधानं वा, आत्मप्रधानम्—ब्राह्मणानाम् (५)—२—पूर्त्तकम्म—परमार्थप्रधानं वा, समुदायप्रधानम्—क्षत्रियाणाम् (६)—३—दत्तकर्म्म—परार्थप्रधानं वा, व्यक्तिप्रधानम्—वैश्यानाम्	लौकिकानि रमणीयानि

१	(१) १—यज्ञः—वैदिकयज्ञः (२) २—इष्टकर्म्म—लौकिकयज्ञः	'यज्ञः' (मनोयज्ञः)	
२	(३) १—तपः—वैदिकं तपः (४) २—पूर्त्तकर्म्म—लौकिकं तपः	तपः' (प्राणयज्ञः)	"यज्ञ एवैतत सर्वम्" "यज्ञो वै श्रेष्ठतमंकर्म्म" "यज्ञेनयज्ञमयजन्तदेवाः"
३	(५) १—दानम्—वैदिकंदानम् (६) २—दत्तकर्म्म—लौकिकंदानम	'दानम्' (वाग्यज्ञः)	

अब संक्षेप से यह भी विचार कर लेना चाहिए कि, इन वैदिक, लौकिक कर्म्मों के फल क्या-क्या हैं?। भारतीय दृष्टि से फलपदार्थ 'ऐहलौकिक सुख, पारलौकिक स्वर्गसुख, मुक्तिलक्षण समवलयभाव' इन तीन भागों में विभक्त है। इन सब फलों का विशद वैज्ञानिक विवेचन तो मूलभाष्यान्तर्गत 'आत्मगत्युपनिषत्' नामक प्रकरण के 'अर्चिशुफल०' इत्यादि श्लोक भाष्य में ही देखना चाहिए। यहां प्रकरण सङ्गति के लिए दो शब्दों में इनका दिग्दर्शनमात्र करा दिया जाता है। पहिले वैदिक कर्म्मों को ही लीजिए। प्रवृत्ति, निवृत्त के भेद से इन वैदिक कर्म्मों के—'विद्यासापेक्ष प्रवृत्तकर्म्म'—'विद्यासापेक्ष-निवृत्ति कर्म्म' ये दो भेद हो जाते हैं। फलकामना, फलासक्ति ही प्रवृत्ति है। यदि इस आसक्ति भाव को लेकर वैदिक कर्म्मों का अनुष्ठान किया जाता है, तो ऐहलौकिक सुख के साथ-साथ शरीरविच्युति के अनन्तर यज्ञियसंस्काराकर्षण से कर्म्मकर्त्ता का आत्मा देवयानपथ का अनुगमन करता हुआ, यज्ञसंस्कार तारतम्य से अपोदकादि सात देवस्वर्गों में से किसी एक देवस्वर्ग में पहुंचता है। जब तक यज्ञसंस्कार बना रहता है, तबतक यह प्रेतात्मा स्वर्गसुख भोगता है, संस्कारलक्षण पुण्यातिशय के क्षीण होते ही, पुनः इसे मृत्युलोक में आना पड़ता है, जैसा कि निम्न लिखित गीता सिद्धान्त से स्पष्ट है—

फलाफल विचार—

१—त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा, यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक, मश्नन्तिदिव्यान् दिवि देवभोगान्॥
२—ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके वसन्ति।
एवंत्रयी धर्म्म मनुप्रयन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥
—गीता ६।२०-२१।

'ममेदं कर्त्तव्यम्' इस कर्त्तव्य भावना से, लोकसंग्रह (लोककल्याण) दृष्टि से, निष्कामभाव से यदि यज्ञादि वैदिक कर्म्मों का अनुष्ठान किया जाता है, तो निष्कामभाव के प्रभाव से इन यज्ञादि कर्म्मों से उत्पन्न होनेवाले सस्कारों का आत्मा के साथ ग्रन्थिबन्धन नहीं होता। परिणाम यह होता है कि, ऐसा निष्काम कर्म्मठ असङ्गभाव से कर्म्मानुष्ठान मे प्रवृत्त रहता हुआ लोक अभ्युदयसुख से भी वञ्चित नहीं रहता, एवं अपर्मारलक्षण अपरामुक्ति का भी अधिकारी बन जाता है, जैसा कि—'असक्तोह्याचरन् कर्म्म परमाप्नोति पूरुषम्' इत्यादि गीताराद्धान्त से स्पष्ट है।

विद्यानिरपेक्ष लौकिक रमणीय कर्म्मों के भी प्रवृत्ति, निवृत्ति, भेद से दो विभाग हो जाते हैं। विद्यानिरपेक्ष लौकिक प्रवृत्ति प्रधान रमणीय कर्म्मों से ऐहलौकिक सुख के साथ साथ शरीरविच्युति के अन्तर 'पितृयाण' द्वारा पितृ-स्वर्ग-सुख मिलता है। संस्कारातिशय क्षीण हो जाने पर पुनः इसी मृत्युलोक मे आना पडता है। एवं 'विद्यानिरपेक्ष लौकिक निवृत्ति प्रधान रमणीय कर्म्मों' से ऐहलौकिक सुखपूर्वक अपरामुक्ति का अधिकार मिलता है।

अविद्याजनक, शास्त्र निषिद्ध 'विकर्म्म' नाम से प्रसिद्ध लौकिक कपूय कर्म्मों के अनुगमन से ऐहलौकिक सुखोपभोग मे भी शान्ति नहीं रहती, एवं परलोक मे भी सद्गति नहीं मिलती। अपितु इस जीवन मे राग-द्वेष-क्रोध-मोह लोभ-ईर्ष्या आदि के सन्तापो से जलता हुआ यह विकर्म्मी शरीरविच्युति के अनन्तर कृष्णमार्ग द्वारा शनिकक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले ८४ नरकों मे से किसी एक नरक का सत्पात्र बनता है। एवमेव अविद्यामूलक, अविहिता-प्रतिषिद्ध, अतएव 'अकर्म्म' नाम से प्रसिद्ध लौकिक कर्म्मों के अनुगमन का भी यही फल है। अन्तर दोनों के फलों में यही है कि, अविद्याजनक कर्म्म साक्षात्रूप से असद्गति के कारण बनते हैं, एवं अविद्यामूलक कर्म्मों से कालान्तर मे अविद्यासस्कार उपथरूप मे परिणत होता है, उपथरूप अविद्या सस्कार से अविद्याजनक निषिद्ध कर्म्मों की ओर प्रवृत्ति होती है, इनसे

उत्पन्न होनेवाले मलिन संस्कार असद्गति के कारण बनते हैं। इस प्रकार अविद्यामूलक कर्म्म परम्परया असद्गति के प्रवर्त्तक बनते हैं।

(१)-१-विद्यासापेक्षनिवृत्तीकर्म्म— बुद्धियोगात्मकवैदिककर्म्म— योगः— मुक्तिः, सर्ववैभवप्राप्तिश्च।
(२)-२-विद्यासापेक्षप्रवृत्तिकर्म्म— कर्म्मयोगात्मकवैदिककर्म्म— सत्कर्म्म— देवस्वर्गः, सर्ववैभवप्राप्तिश्च।
(३)-१-विद्यानिरपेक्षनिवृत्तिकर्म्म—बुद्धियोगात्मकलौकिककर्म्म—योगः— मुक्तिः, वैभवप्राप्तिश्च।
(४)-२-विद्यानिरपेक्षप्रवृत्तिकर्म्म— कर्म्मयोगात्मकलौकिककर्म्म—रमणीयकर्म्म—पितृस्वर्गः, वैभवप्राप्तिश्च।
(५)-१-अविद्याजनकविकर्म्मकर्म्म- बुद्धिवर्धितलौकिककर्म्म— कपूयकर्म्म— नरकः, सन्तापश्च।
(६)-२-अविद्यामूलकअकर्म्मकर्म्म- कर्म्मवर्धितलौकिककर्म्म— कपूयकर्म्म नरकः, सन्तापश्च।

इति—लोकवेदनिबन्धन षट्कर्म्माणि।

* *

*

६—वैदिक-लौकिक, एवं गीताशास्त्र

गिता का कर्म्मयोग, और हमारी भ्रान्ति—

'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' इस किंवदन्ती के अनुसार प्रतिज्ञा हुई थी 'कर्म्मयोगपरीक्षा' की हो रहा है कुछ और ही। संस्कार निबन्धन, उदर्क निबन्धन, आत्मनिबन्धन, वेद-लोकनिबन्धन-कर्म्मपट्कों का यशोगान करने में ही गीताभक्तों का अमूल्य समय ले लिया, और ऐसा करते हुए हम एक बहुत बड़े अपराध के भागी बन गए। गीताशास्त्र को निष्काम कर्म्मयोग का उपोद्बलक मानने वाले गीताभक्तों के सामने शास्त्रों की 'आंय-बांय चर्चा' करना क्या अपराध नहीं है ?, है, और अवश्य है। परन्तु इसके लिए हम अपने आपको सर्वथा विवश पाते हैं।

इस विवशता का कारण यही है कि, गीताशास्त्र में प्रतिपादित कर्म्मयोग का जब विचार आरम्भ किया जाता है, तो वहां 'वर्ण-आश्रम-शास्त्र-शास्त्रोपदेष्टा तत्वदर्शी विद्वान्"—आदि शास्त्रनिष्ठाओं के अतिरिक्त कर्म्मयोग के सम्बन्ध में और कोई नवीन विचार उपलब्ध नहीं होते। शास्त्रसिद्ध, वर्ण-आश्रम-संस्कार-कर्म्मों की दृढतम श्रृङ्खला से बद्ध कर्म्मयोग ही जब गीता का कर्म्मयोग है, तो हम गीतोक्त कर्म्मयोग के सम्बन्ध में उन कर्म्मों की मीमांसा के अतिरिक्त और किस कर्म्मयोग का विचार करें।

गीता निष्काम कर्म्मयोग का, साम्यवादलक्षण समत्वयोग का प्रतिपादन करती है, यह ठीक है। परन्तु कैसे निष्काम कर्म्मयोग का, कैसे समत्वयोग का ? इन प्रश्नों का उत्तर स्वयं गीताशास्त्र ने ही दिया है। शास्त्रीय कर्म्मों का अनुष्ठान कामना का परित्याग करते हुए किया जाय, यही 'निष्कामकर्म्मयोग' है। एवं सर्वत्र समदर्शन (न कि समवर्त्तन) करते हुए आत्मैक्य भावना रक्खी जाय, यही समत्वयोग, किंवा साम्यवाद है। मनमाने अशास्त्रीय कर्म्म करना, शूद्र-म्लेच्छ-यवनादि के साथ खान-पान करना, वर्णाश्रम मर्य्यादाओं का उपहास करते रहना, एवं ऐसे पातक कर्म्मों को निष्काम कर्म्मयोग के नाम से, तथा समत्वयोग के नाम से कलङ्कित करना, सर्वोपरि गीता जैसे पवित्र शास्त्र को इस कलङ्क का निमित्त बनाना विशुद्ध गीताभक्तों की विशुद्ध भ्रान्ति नहीं, तो और क्या है। हमने भी बहुत प्रयास किया कि गीताशास्त्र में कहीं ऐसे निष्काम कर्म्मयोग का पता लग जाय, जिसका संस्कार-आत्म-उदर्क-वेद-लोक निबन्धन कर्म्मों से कोई सम्पर्क न हो।

परन्तु उन गीताभक्तों को दुःख के साथ हमें यह कहना ही पड़ता है कि, जब-जब हम इस प्रयास के लिए गीताशास्त्र की शरण में पहुँचे, तब-तब ही उसने वेद-लोक निबन्धनकर्म्मों का वही पुराना जञ्जाल, वही पुरानी अप्रिय आँय-वाँय चर्चा हमारे सामने रक्खी। भगवान् ही जाने, हमारे गीताभक्तों को वह कौनसी दिव्यदृष्टि प्राप्त है, जिसके बल पर वे गीताशास्त्र-मे श्रुति-स्मृति-दर्शन-पुराण-इतिहासादि इतर शास्त्रों से सर्वथा नवीन, ऐसे कर्म्मयोग के दर्शन करने में समर्थ हो जाते है, जो कर्म्म, न वर्णधर्म्म से कोई सम्बन्ध रखता, न आश्रमम-र्य्यादा का आदर करता, न शास्त्रनिष्ठा का ही अनुगमन करता। और फिर भी वह व्यक्ति, समाज, राष्ट्रोन्नति का कारण बन जाता है। अस्तु अपने अपराध को सुरक्षित रखते हुए, साथ ही गीताशक्ति-प्रवेशद्वारा उसे पुष्ट करने के लिए पुनः पाठकों का ध्यान उसी कर्म्मजाल की ओर आकर्षित किया जाता है।

कर्म्मयोग के सम्बन्ध में भगवान् ने जो भी संशोधन किए हैं, उनका विशद विवेचन तो आगे आनेवाले 'सर्वान्तरतमपरीक्षात्म' खण्ड के 'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक प्रकरण में हीं होगा। यहां कर्म्मयोग के सम्बन्ध में गीता की दृष्टि से विचार करते हुए हमें इसी निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है कि, भगवान् ने कर्म्मयोग के नाते गीताशास्त्र में विद्यासापेक्ष, यज्ञ-तप-दान-लक्षण वैदिककर्म्मों के अनुगमन में हीं अपनी दृढ निष्ठा प्रकट की है। यही नहीं, इन वैदिक कर्म्मों के सम्बन्ध में भगवान् अपना ऐसा अभिनिवेश प्रकट करते हैं, जिसे देख-कर प्रतीत होता है कि, जो महानुभाव इन कर्म्मों की उपेक्षा करते हैं, वे भगवान् के घोर विरोधी बन रहे हैं। भागवान् का निश्चित, एवं उत्तम मत यही है कि, यज्ञ-तप-दान का कभी परित्याग नहीं करना चाहिए। अन्तर्जगत् को पवित्र बनाने वाले ये कर्म्म आसक्ति, तथा फलाकांक्षा छोड़ते हुए, कर्त्तव्य बुद्धि से अवश्यमेव करने चाहिए। देखिए!

१—यज्ञो, दानं, तपःकर्म्म, न त्याज्यं कार्य्यमवेतत्।
यज्ञो-दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
२—एतान्यपितु कर्म्माणि, सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ! "निश्चितं मतमुत्तमम्"॥
—गीता० ।

यज्ञ-तप-दान, तीनों हीं प्राकृतिक नित्यकर्म्म हैं। इनमें से अपनी रुचि, कल्पना से न कुछ घटाया जा सकता, न कुछ बढ़ाया जा सकता। यदि कोई व्यक्ति मूर्खतावश ऐसी धृष्टता कर बैठता है, तो वह यज्ञकर्म्म उसी प्रकार उसके अभ्युदय-नाश का कारण बन जाता है, जैसे कि विद्युत-यन्त्र के सञ्चालन में यथोक्त नियमों से (अज्ञानतावश) विपरीत जानेवाला अपना नाश करा बैठाता है। स्वयं ब्राह्मणग्रन्थों में एक ऐतिहासिक घटना द्वारा इसी स्थिति का स्पष्टी करण हुआ है-(देखिए, शत० ब्रा० १।२।३।)।

कर्म्म की मूलप्रतिष्ठा—

यही कारण है कि, तीनों वैदिक कर्म्मों में प्रयोग से पहिले तीनों का मूलाधार ब्रह्मलक्षण विद्या तत्त्व माना गया है। उदाहरण के लिए 'यज्ञकर्म्म' को ही लीजिए। ऋत्विक्, वेदमन्त्र, यज्ञसामग्री, तीनों के साथ ब्रह्म (विद्या) का सम्बन्ध है। यज्ञकर्म्म के सहायक होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा, ये चार 'ऋत्विक्' हैं। इन चारों ऋत्विजों के हौत्र आध्वर्यव, औद्गात्र, ब्रह्मत्त्व, इन चार कर्म्मों के सञ्चालक क्रमशः ऋङ्मन्त्र, यजुर्म्मन्त्र, साममन्त्र, अथर्व 'मन्त्र' हैं। व्रीहि, यव, पात्र, वेदि, कुण्ड, जुहू, 'उपभृत' आदि यज्ञोपस्कर 'यज्ञियद्रव्य' हैं। इन तीनों यज्ञसाधनों के मूल में "ओं-तत्-सत्" लक्षण ब्रह्म (विद्या) प्रतिष्ठित हैं। इस ब्रह्मनिर्देश को मूल में प्रतिष्ठित कर के ही ब्रह्मवादियों के 'यज्ञ-तप-दान' तीनों कर्म्म सम्पन्न होते हैं। इसी प्रतिष्ठा ब्रह्म का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

"ओं-तत्-सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मण, स्तेन वेदाश्च, यज्ञाश्च, विहिता पुरा ॥ १ ॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञ-दान-तपः क्रियाः।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २ ॥
तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञ-तपः क्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ ३ ॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येत् प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्म्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ उच्यते ॥ ४ ॥

तज्ञे-तपसि-दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ ५ ॥
अश्रद्धया हुतं, दत्तं, तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ ! न च तत् प्रेत्य, नो इह ॥" ६ ॥

—गी० १७।२३-२८ ।

जिस ब्रह्म के भगवान् ने 'ओं-तत्-सत्' ये तीन निर्देश बतलाए हैं, पहिले उस ब्रह्म पदार्थ की ही मीमांसा कीजिए। सर्वोपाधिप्रवर्त्तक, किन्तु स्वयं सर्वोपाधिविनिर्मुक्त 'ब्रह्म' 'ज्ञान' ही है, जैसाकि—"तजज्ञानंब्रह्मसंज्ञितम्" इत्यादिरूप से 'ब्रह्म-कर्म्मपरीक्षा' में अनेकधास्पष्ट किया जा चुका है। उपाधि संसर्ग से यही ब्रह्मलक्षण निरूपाधिक ज्ञान आगे जाकर पञ्चविवर्त्त भावों में परिणत हो जाता है। वे ही पांचों ब्रह्मविवर्त्त, किंवा ज्ञानविवर्त्त क्रमशः इन नामों से प्रसिद्ध हैं—१—सत्यज्ञान, २—योगजज्ञान, ३—विज्ञानज्ञान, ४—प्रज्ञानज्ञान, ५—ऐन्द्रियकज्ञान ।

पञ्चज्ञानविवर्त्त—

१—सत्यज्ञान—

विषयों से एकान्ततः विनिर्मुक्त, अतएव 'निर्विकल्पक' नाम से प्रसिद्ध, सम्पूर्णविश्व में एकरूप (अखण्डरूप) से व्याप्त, सर्वथा अनिर्वचनीय, अनुभवमर्य्यादा से सर्वथा बहिर्भूत, ईश्वरस्वरूपात्मक, ज्योतिर्घन, सर्वलम्बन, निरालम्ब, सर्वाधार, निराधार, ज्ञान ही पहिला 'सत्यज्ञान' है। इसी के अंस-प्रत्यंशों को लेकर सम्पूर्णविश्व, विश्व के अवयवरूप सूर्य्य, चन्द्र, विद्युत, तारक, अग्नि आदि अचेतन आधिकारिक जीव, अवतारपुरुषलक्षण राम-कृष्णादि चेतन आधिकारिक जीव, कर्म्मफलभोक्ता कर्म्माश्वत्थिक चेतनजीव, कर्म्मफलभोक्ता कर्म्माश्वत्थिक अचेतन जीव, सब कुछ प्रकाशित हैं, स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित हैं *। सविकल्पक,

*—न तत्र सूर्य्यो भाति, न चन्द्र-तारकं, नेमा विद्युतो भान्ति, कुतोऽयमग्निः ।
तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्यभासा सर्वमिदं विभाति ॥

सोपाधिक, जितनी भी खण्ड-खण्डात्मिका ज्ञानज्योतियाँ, तथा भूतज्योतियाँ हैं उन-सब का मूलस्रोत यही सत्यज्ञान है—"तस्यैवमात्रामुपादाय सर्वाण्युपजीवन्ति"

अतएव इस 'सत्यज्ञानज्योति' को 'ज्योतिषां-ज्योतिः' कहा गया है। आप अपने ज्ञानीय धरातल से यच्चयावत् सांस्कारिक विषयों को निकाल दीजिए। विषयों के आत्यन्तिक निरसन से वह ज्ञान निर्विषयक बनता हुआ, अपने स्वाभाविक व्यापक स्वरूप में परिणत होता हुआ आपकी अनुभव मर्य्यादा से बाहिर निकल जायगा। परिच्छिन्न (सीमित) पाञ्चभौतिक स्थूलविषयों के, एवं अन्तर्जगत् में प्रतिष्ठित मात्रारूप सूक्ष्म भौतिक विषयों के सम्बन्ध से ही वह व्यापक ज्ञान अंशरूप से किंवा प्रत्यंशरूप से सोपाधिक, सीमित बनता हुआ— 'अहंजानामि'–'मया ज्ञायते' 'न विजानामि यदि वदेमस्मि' 'न तं विदाथ, य इमा जजान' इत्याकारक सविकल्पक भावों में परिणत होता है। किसी न किसी विषय को लेकर ही आपका ज्ञान उक्त अभिनयों में समर्थ होता है। विषयनिवृत्ति पर आपका ज्ञान अभिनय मर्य्यादा से बाहिर है। यही आध्यात्मिक, किन्तु सर्वव्यापक, अतएव ईश्वरीयज्ञान सत्यज्ञान है। यही सत्यज्ञान 'निर्विकल्पक समाधि' की मूल प्रतिष्ठा है।

२—*योगजज्ञान*—

जीवात्मा सत्यज्ञानघन उसी ईश्वराव्यय का अंश है—"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"। अविद्यादि दोषों के द्वारा यह जीवाव्यय अपने उस स्वाभाविक, स्वप्रभव, ईश्वराव्ययज्ञानानुग्रह से वञ्चित रहता हुआ विकास से पृथक् रहता है। बुद्धियोगादि प्रक्रियाओं के द्वारा जब अविद्यावरण एकान्ततः निकल जाता है, तो 'मेघापाये सूर्य्यवत्' जीवाव्यय-ज्ञान स्वतः प्रकट हो जाता है। उस दशा में यह कर्म्मात्मा (जीवात्मा) इस योगज (योगसाधनद्वारा प्रादुर्भूत) ज्ञान के प्रभाव से ईश्वरवत् 'अतीतानागतज्ञ' (भूत-भविष्यत-वर्त्तमानवेत्ता) बन जाता है। यदि योगशास्त्रोक्त उपाय विशेषों से इस योगज-ज्ञान का उदय होता है, तब तो इसे 'योगी' कहा जाता है। यदि जन्म से ही इस ज्ञान का पूर्ण विकास है, तो वह महापुरुष 'ईश्वरावतार' किंवा 'ईश्वर' नाम से पूजित होता है। यही ज्ञान का दूसरा विवर्त्त है।

३—*विज्ञानज्ञान*—

"अमुक पदार्थ सत् है, अमुक पदार्थ असत् है अमुक कार्य्य शुभ है, अमुक कार्य्य अशुभ है, यह अच्छा है, उपादेय है, श्रेयोरूप है, यह बुरा है, हेय है, प्रेयोरूप है" इत्यादिरूप से सदसद्विवेक करने वाला, अच्छे-बुरे की पहिचान कर अच्छे को लेनेवाला, तथा बुरे का परित्याग करने वाला, सूर्य्यद्वारा प्राप्त बौद्धज्ञान ही 'विज्ञानज्ञान' नाम से प्रसिद्ध है। यही विज्ञानज्ञान हमारे सुप्रसिद्ध 'बुद्धियोग' की प्रतिष्ठाभूमि बनता है। नवीन ग्रन्थरचना, नवीन आविष्कार, नवीनवैभव-प्राप्ति, ये सब विज्ञान की ही महिमा हैं। जिन में इस विज्ञानज्ञान का विकास रहता है, वे ही मनुष्यसमाज में श्रेष्ठ, आदरणीय, विशेष, माने जाते हैं। विद्वान-मूर्ख, राजा-प्रजा, स्वामी-सेवक, इत्यादि विशेषताएँ विशेपता सम्पादक इसी विज्ञानज्ञान पर निर्भर हैं। सम्पूर्ण मनुष्यों के मनुष्यत्वेन समान होने पर भी विज्ञान ज्ञान के तारतम्य से ही उच्च-नीचादि श्रेणि-विभाग हो रहा है। जिस में विज्ञान-ज्ञान का विकास नहीं, उसमें और पशु में आकार के अतिरिक्त और कोई अन्तर नहीं।

४—*प्रज्ञानज्ञान*—

जिस ज्ञान से इन्द्रियों का सञ्चालन होता है, जिस ज्ञान के सहयोग से वञ्चित रहकर इन्द्रियाँ "मैंने नहीं देखा, मैंने नहीं सुना, मेरा मन दूसरी ओर चला गया था, फिर से कहिए, फिर से सुनाइए" यह व्यवहार करती हैं, वह मानस ज्ञान ही 'प्रज्ञानज्ञान' नाम से प्रसिद्ध है। इन्द्रियपाश से बद्ध हठात्, विना विवेक का आश्रय लिए इतस्ततः प्रवृत्त हो जाना, अशुभकर्म्मों मे अभिरुचि प्रकट करना, बने ग्रन्थों की नकल करना, दूसरे के आविष्कारों की प्रतिकृति, (नकल) करना, दूसरे के वैभव से लाभ उठाने की घृणित वृत्ति रखना, पदे-पदे परमुखापेक्षी बने रहना, ये सब प्रज्ञानज्ञान की ही महिमा हैं। सब इन्द्रियों का सञ्चालक, अनुग्राहक बनता हुआ यह प्रज्ञानज्ञान अन्नद्वारा चान्द्रसोम से ही सम्पन्न हुआ है। विज्ञानज्ञान की विकासभूमि सूर्य्य है, तो प्रज्ञानज्ञान की विकासभूमि चन्द्रमा है।

५—*ऐन्द्रियकज्ञान*—

ऐन्द्रियकज्ञान सुप्रसिद्ध है। तत्तदिन्द्रियों से रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दादिरूप विषयों का जो बाह्यज्ञान होता है, जिसे कि 'प्रत्यक्षज्ञान' कहा जाता है, जो कि प्रत्यक्षज्ञान—'प्रत्यक्षमेवैति चार्वाकाः' के अनुसार चार्वाकों का (नास्तिकों का) मुख्य, तथा अन्यतम

प्रमाण वन रहा है, वही 'ऐन्द्रियकज्ञान' है। 'वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र-मन-(इन्द्रियमन)' इन पांच इन्द्रियों के भेद से यह ऐन्द्रियक ज्ञान पाच भागो मे विभक्त है। महर्षि कौषीतकि ने इन पाचों के अवान्तर विवर्त्तों का संग्रह करते हुए ऐन्द्रियक ज्ञान को दस विभागों मे विभक्त माना है—(देखिए—कौ० उप०)। इन पाचों ऐन्द्रियक ज्ञानों की मूलप्रतिष्ठा (प्रभव) क्रमशः 'अग्नि, वायु, आदित्य, दिक्सोम, भास्वरसोम' नामक पाच प्राण देवता हैं। जिनका 'उपनयन-संस्कार' प्रकरण मे दिग्दर्शन कराया जा चुका है।

इन पाचों ज्ञानों मे पूर्व-पूर्व ज्ञान उत्तर-उत्तर ज्ञान का अनुग्राहक है, एवं उत्तर-उत्तर ज्ञान पूर्व-पूर्व ज्ञान से अनुग्राह्य है। ऐन्द्रियकज्ञान की प्रतिष्ठा मानसज्ञान लक्षण प्रज्ञानज्ञान है। प्रज्ञानज्ञान उक्थ है, ऐन्द्रियकज्ञान इसी उक्थ के अर्क (रश्मियां) है। प्रज्ञानज्ञान की प्रतिष्ठा बौद्धज्ञान लक्षण विज्ञानज्ञान है। विज्ञानज्ञान उक्थ है, प्रज्ञानज्ञान इसी उक्थ के अर्क हैं। विज्ञानज्ञान की प्रतिष्ठा जीवात्मलक्षण योगजज्ञान है। योगजज्ञान उक्थ है, विज्ञानज्ञान इसी उक्थ के अर्क हैं। योगजज्ञान की प्रतिष्ठा किंवा इतर सब ज्ञानों की प्रतिष्ठा ईश्वरात्मय-लक्षण सत्यज्ञान है। सत्यज्ञान उक्थ है, योगजज्ञान इसी उक्थ के अर्क हैं।

अनुग्राह्य-अनुग्राहकलक्षण इस उक्थार्क सम्बन्ध से यह भी सिद्ध हो जाता है कि, ऐन्द्रियकज्ञान की अपेक्षा-प्रज्ञानज्ञान प्रबल है। अतः जहा इन दोनों ज्ञानों की परीक्षा का अवसर आवेगा, वहा इन्द्रियज्ञान की उपेक्षा कर दी जायगी, एवं प्रज्ञानज्ञान सहकृत निर्णय ही प्रामाणिक माना जायगा। प्रज्ञानज्ञान की अपेक्षा विज्ञानज्ञान प्रबल है। अत. प्रज्ञानज्ञान, तथा विज्ञानज्ञान की प्रतिस्पर्द्धा मे विज्ञानज्ञान का निर्णय ही प्रामाणिक माना जायगा। एवमेव विज्ञानज्ञान की अपेक्षा योगजज्ञान मूर्द्धन्य है। अतः इन दोनों की प्रतिद्वन्द्विता मे योगज-ज्ञानानुगत निर्णय ही मूर्द्धन्य माना जायगा। महामहर्षियों की योगज-दृष्टि के सामने, योगजज्ञानसहकृत निर्णय की तुलना मे विज्ञानज्ञान (बुद्धिवाद), प्रज्ञानज्ञान ('स्वस्य च प्रियमात्मन' लक्षण रुचिभाव), एवं ऐन्द्रियकज्ञान (प्रत्यक्षनिर्णय) सर्वथा निर्बल, अतएव एकान्तत उपेक्षणीय हैं। उन योगी-महर्षियों की दृष्टिरूपा श्रुति (वेद) ही हमारे लिए प्रमाण मूर्द्धन्य है।

पाचवां सत्यज्ञान सर्वापेक्षया प्रबल अवश्य है, परन्तु अपनी व्यापकता से वह व्यवहार-काण्ड से सर्वथा बहिर्भूत है। हमारे लिए तो योगजज्ञान ही ईश्वरज्ञान है, योगजज्ञानशिक्षक शब्दादेश ही ईश्वर का आदेश है। इसीलिए तो भारतीय प्रजा की दृष्टि मे योगजदृष्टि

प्रधान वेद, तथा ईश्वर में कोई भेद नहीं है। इसीलिए तो ईश्वराज्ञापत्र (इलहाम) रूप वेद को वह 'अपौरुषेय' मानती है। इसी आधार पर तो वेद 'स्वतःप्रमाण' शास्त्र माना गया है। ऐन्द्रियक-मानस-बौद्धज्ञान सापेक्ष इतर शास्त्र योगजज्ञान की अपेक्षा रखते हुए 'परतः प्रमाण' हैं,। परन्तु योगजज्ञान की प्रतिकृतिरूप वेदशास्त्र निरपेक्ष 'स्व' बनता हुआ स्वतः-प्रमाण है— "निरपेक्षो स्वःश्रुतिः" यह जो कुछ कहता है, साक्षात् ईश्वर का आदेश है। जो व्यक्ति योगजज्ञान के इस तात्त्विक स्वरूप को न समझते हुए, भ्रान्तिवश बुद्धिवाद के गर्व में पड़कर वेदाज्ञा का विरोध करते हैं, वे घोर-घोरतम नास्तिक हैं, पतित हैं, सर्वधर्म्मबहिष्कृत हैं— "विद्धिनष्टानचेतसः"।

ज्ञानघन ब्रह्म के पाच विवर्त्तों का दिग्दर्शन कराया गया। ब्रह्म 'अव्ययपुरुष' है एवं— "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि" (गी०) के अनुसार पुरुष सदा प्रकृति को साथ लिए रहता है। प्रकृतिदेवी 'सत्व-रज-तम'-नामक तीन गुणों से नित्ययुक्त रहती है। आगे जाकर 'शुद्धसत्त्व, मलिनसत्त्व, रज, तम' भेद से तीन के चार भेद हो जाते हैं। इस दृष्टि से त्रिगुण प्रकृति गुणचतुष्टयी रूप में परिणत हो जाती है। इसी गुणमयी दुरत्यया प्रकृति के नित्य सहयोग से उस निर्विकल्पक, निर्गुण, सत्यब्रह्म को भी सगुणभाव में परिणत होना पड़ता है। विश्वातीत परात्पर को जाने दीजिए। वह तो 'पुरुष' मर्य्यादा से बाहिर रहता हुआ प्रकृति सम्बन्ध से भी बहिर्भूत है। परन्तु मायावच्छिन्न पुरुष को तो आरम्भ में निर्गुण रहते हुए भी प्रकृति के अनुग्रह से सगुणरूप का बाना पहिनना ही पड़ता है। इसी सगुणता से इस मायावच्छिन्न निष्फल को भी चतुष्फल बनना पड़ता है। चूंकि इस के पाँच विवर्त्त हैं, विवर्त्त भेद से प्रकृति भी पञ्चधा दी विभक्त है, प्रकृति सम्बन्ध से प्रत्येक की गुणात्मिका चार-चार कलाएं है, फलतः पाच ज्ञान विवर्त्तों की सम्भूय २० कला हो जाती हैं।

इन २० ज्ञानकलाओं में से ४ विज्ञानकला, ४ प्रज्ञानकला, एव ४ ऐन्द्रियक ज्ञानकला, ये १२ कला तो प्रकृति सिद्ध हैं। प्रत्येक मनुष्य मे जन्म से ही मात्रातारतम्य से १२ कला रहा करतीं हैं। आबालवृद्ध, आमूर्खविद्वान्, सब में तीनों अवश्य विद्यमान हैं। शेष ४ योग-जज्ञानकला, एवं ४ सत्यज्ञान कला प्रयत्नविशेष से प्राप्त होती हैं। प्राप्त तो आज भी हैं, केवल आवरण का साम्राज्य हो रहा है। इस आवरण को हटाने का अन्यतम, सर्वश्रेष्ठ उपाय गीतोक्त 'बुद्धियोग' ही है। किसी-किसी जीव श्रेष्ठ में संस्कारातिशय के अनुग्रह से प्राप्त बुद्धियोग के सम्बन्ध से ये कलाएं देखी जाती है। साथ ही दोषसंसर्ग से इनका तिरोभाव भी यत्र-तत्र उपलब्ध होता है।

सत्यज्ञान, एवं योगजज्ञान, दोनों को 'नित्यज्ञान' कहा जायगा। यद्यपि कहना तो चाहिए था इन्हें 'नित्यज्ञान' हीं, परन्तु यह ज्ञान विविध ५ रूपों में परिणत हो जाता है अतएव इस उभयविध नित्यज्ञान को 'नित्यविज्ञान' शब्द से व्यवहृत ही किया जाता है। जैसा कि 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों से प्रमाणित है। तीसरा ज्ञान विज्ञानज्ञान है। इसके क्षणिक, तथा नित्यरूप से आगे जाकर दो विवर्त्त हो जाते हैं। यदि हमारा विज्ञानज्ञान (बुद्धि) बुद्धियोग के अनुग्रह से योगजज्ञान द्वारा सत्यज्ञान का अनुगामी बना रहता है, तब तो उन नित्यधर्म्मों के अनुग्रह से यह भी नित्यभाव में परिणत हो जाता है। यदि—नित्यज्ञानों की (ईश्वरीय ज्ञानलक्षणा ईश्वर सत्ता की, योगजज्ञानलक्षण वेदशास्त्र सम्मत ज्ञानसहकृत कर्म्ममार्ग की) उपेक्षा करता हुआ प्रज्ञान-ऐन्द्रियक ज्ञानों के वश में आकर मृत्युलक्षण, अतएव क्षणिक भूतवादों की समृद्धि की ओर झुक जाता है तो, विज्ञानज्ञान क्षणिक विज्ञानज्ञान बनकर मृत्युबन्धन (सर्वनाश) का कारण बन जाता है। सत्यज्ञान ईश्वरभाव से प्रधान सम्बन्ध रखता हुआ 'आधिदैविक' ज्ञान है, योगजज्ञान जीवभाव से प्रधान सम्बन्ध रखता हुआ 'आध्यात्मिक' ज्ञान है। विज्ञानज्ञान इस ओर रहता हुआ आध्यात्मिक ज्ञान है, उस ओर जाता हुआ आधिभौतिक ज्ञान है। प्रज्ञानज्ञान, तथा ऐन्द्रियक ज्ञान, दोनों विशुद्ध आधिभौतिक ज्ञान हैं। इस दृष्टि से पांच के ६ विवर्त्त हो जाते हैं। इन ६ ओं में तीन वैदिकज्ञान कहलाएंगे, एवं तीन लौकिकज्ञान कहलाए गे, जैसा कि तालिका से स्पष्ट है—

ज्ञानविवर्त्तपरिलेखः—

(१)–१–सत्यज्ञानम्	(ईश्वराव्ययात्मकम्)	—आधिदैविकम्	वैदिकज्ञानत्रयी
(२)–२–योगजज्ञानम्	(जीवाव्ययात्मकम्)	—आध्यात्मिकम्	
(३)–३–नित्यविज्ञानज्ञानम्	(बुद्धियोगात्मकम्)	—आध्यात्मिकम	
(४)–१–क्षणिकविज्ञानज्ञानम्	(बुद्धिरूपम्)	—आधिभौतिकम्	लौकिकज्ञानत्रयी
(५)–२–प्रज्ञानज्ञानम्	(मनोमयम्)	—आधिभौतिकम्	
(६)–३–ऐन्द्रियकज्ञानम्	(विषयात्मकम्)	—आधिभौतिकम्	

'वैदिकज्ञानत्रयी' वैदिक यज्ञ-तप-दान कर्म्मों की प्रतिष्ठा है, एवं 'लौकिकज्ञानत्रयी' लौकिक इष्ट आपूर्त्त-दत्तकर्म्मों की मूल प्रतिष्ठा मानी गई है। दोनों ही सत्कर्म्म हैं, शुभोदर्क है। चूंकि वैदिक कर्म्मों का मूलाधार वैदिकज्ञान है, अतः वैदिक कर्म्मों के आरम्भ में उसे प्रतिष्ठित करना आवश्यक हो जाता है। यह ज्ञानलक्षण ब्रह्म (वैदिकज्ञान) किस प्रक्रिया से वैदिक कर्म्मों का आलम्बन बनेगा? इस प्रश्न का समाधान 'शब्दब्रह्म' से ही पूंछना चाहिए। ज्ञानलक्षणब्रह्म 'परब्रह्म' है, शब्दब्रह्म इस की प्रतिकृति है, प्रतिमा है। इस शब्दब्रह्म के द्वारा ही परब्रह्म को मूलाधार बनाया जा सकता है। कैसे? सुनिए।

ब्रह्म का त्रिविधनिर्देश—

नित्यविज्ञानघन (सत्यविज्ञानघन) ब्रह्म सर्वव्यापक है, यह कहा गया है। इस पूर्णेश्वर के 'विश्वात्मा, विश्वातीत' भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। अपने विद्याभाग से वही विश्वातीत है, एवं कर्म्मभाग से वही विश्वात्मा बना हुआ है। यह स्मरण रखने की बात है कि, पूर्व में सत्यज्ञान का दिग्दर्शन कराते हुए मायाविरहित, परात्परलक्षण जिस ब्रह्म को 'विश्वातीत' कहा था, वह एक स्वतन्त्र ब्रह्म है, एवं यहा जिसे विश्वातीत कहा जा रहा है, वह उस विश्वातीत से भिन्न है। वह (मायाविरहित) विश्वातीत विश्व के बाहर भी है भीतर भी है। यह विश्वातीत मायोपाधिक बनता हुआ, अतएव विश्वसीमा के भीतर रहता हुआ, किन्तु विश्वप्रपञ्च से पृथक् रहने वाला है। मायोपाधिक अव्ययेश्वर के ही सगुण-निर्गुण भेद से दो रूप हैं। वह विश्वातीत परात्पर नित्य निर्गुण है, यह विश्वातीत अव्ययलक्षण ब्रह्म सगुण-निर्गुण, दोनों है। अव्ययब्रह्म का निर्गुणरूप[1] ही प्रवृत्त में विश्वातीत है, एवं सगुणरूप[2] ही 'विश्वात्मा' है।

मायोपाधिक, सत्यज्ञानघन, अव्ययलक्षण ब्रह्म अपने विद्याभाग से विश्वकर्म्म प्रपञ्च से पृथक् रहता हुआ, विश्व में रहता हुआ भी विश्वातीत है, एवं कर्म्मभाग से विश्वकर्म्म का प्रवर्त्तक बनता हुआ वही विश्वात्मा बन रहा है। आनन्दविज्ञान मनोमय, विद्यामूर्त्ति वही पूर्ण-

---

१ अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय! न करोति न लिप्यते ॥—गी०

२ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥—गी०

श्वर विश्वातीत है, मनःप्राणवाङ्मय, मूर्त्ति वही पूर्णेश्वर विश्वातीत है। विश्वातीतब्रह्म मुक्ति का आलम्बन है, विश्वात्माब्रह्म सृष्टि का आलम्बन है। वह ज्ञानाध्यक्ष है, यह कर्म्माध्यक्ष है, वह शान्तानन्द है, यह समृद्धानन्द है। चूंकि विद्यासापेक्ष यज्ञ-तप-दान कर्म्म है, अतएव इनके सम्बन्ध में मनःप्राणवाङ्मय विश्वात्मा (कर्म्मात्मा) को ही प्रधान आलम्बन माना जायगा। ज्ञानात्मगर्भित (आनन्द-विज्ञान-मनोमय विश्वातीतब्रह्म गर्भित) इस कर्म्मात्मा का (मनःप्राणवाङ्मय विश्वात्मा का) वाचक है—'प्रणव' नाम से प्रसिद्ध 'ओंकार'—'तस्य वाचकः प्रणवः'।

जैसा स्वरूप, जो अवयवविभाग उस विश्वेश्वर का है, ठीक वैसा ही स्वरूप, वही अवयवविभाग शब्दब्रह्म प्रपञ्च में 'ओंकार' का है। इसी लिए महर्षि पतञ्जलि ने ओंकार को उसका वाचक मान लिया है। 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्'—'ओमित्येतत्'—'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म'—'एतद्वै सत्यकाम ! परं चापरं च ब्रह्म, यदोङ्कारः' इत्यादि श्रुति स्मृतियाँ भी ओंकार को ही उसका वाचक मान रहीं हैं। वाच्य-वाचक का समतुलन कीजिए।

परब्रह्मलक्षण वाच्य आत्मा में आनन्द-विज्ञान-मनोमय, विद्यारूप, विश्वातीत ब्रह्म का एक स्वतन्त्र विभाग है। मनःप्राणवाङ्मय, कर्म्मरूप, विश्वात्मब्रह्म का एक स्वतन्त्र विभाग है। इसी तरह शब्दब्रह्मलक्षण वाचक ओंकार में अर्द्धमात्रा का एक स्वतन्त्र विभाग है, तीनमात्राओं का (अकार, उकार, मकार का) एक स्वतन्त्र विभाग है। अर्द्धमात्रा से 'स्फोट' नामक अनिर्वचनीय, अमात्र, प्रपञ्चोपशम, अद्वय, तुरीय तत्व ही अभिप्रेत है। उसी अर्द्धमात्रिक, किंवा अमात्रिक स्फोटरूप अखण्ड धरातल के आधार पर 'अकार-उकार-मकार' (अ-उ-म्) ये तीन मृत्युलक्षण मात्राएं प्रतिष्ठित हैं। ठीक यही स्थिति परब्रह्म की समझिए। अर्द्धमात्रस्थानीय, अतएव अनिर्वचनीय विश्वातीत के आधार पर निर्वचनीय मनःप्राण-वाङ्मय विश्वात्मा प्रतिष्ठित है। मन 'सुसूक्ष्म' है, मध्यस्थप्राण मन की अपेक्षा स्थूल, तथा वाक् की अपेक्षा सूक्ष्म बनता हुआ 'स्थूलसूक्ष्म' है, एवं वाक् स्थूल है। इधर वर्णप्रपञ्च में भी असंस्पृष्ट अकार सुसूक्ष्म है, अतएव इसे सुसूक्ष्म मन का वाचक माना जा सकता है। उकार का उच्चारण करते समय मुख संकुचित तो हो जाता है, परन्तु ओष्ठ-स्पर्श नहीं होता। अतएव स्थूल-सूक्ष्म बने हुए उकार को तत्सम प्राण का वाचक माना जा सकता है। मकारोच्चारण में स्थान-करण का आत्यन्तिक स्पर्श है, ओष्ठ मिल जाते हैं। अतएव सर्वथा स्थूल बने हुए इस मकार को तत्सम वाक् का वाचक माना जा सकता है। इसी अनुरूपता के आधार पर ओंकार को उसका वाचक मान लिया गया है।

१—*आनन्दविज्ञानमनोमयो विश्वातीतः शान्तात्मा*—ततसमा-अर्द्धमात्रा } —ब्रह्म-ओङ्कारः

विश्वात्मा सप्तदशात्मा, मनःप्राणवाङ्मयो,
- १—मनः—सुसूक्ष्मम् —तत्समः—'अकारः'
- २—प्राणः—स्थूलसूक्ष्मः —तत्समः—'उकारः'
- ३—वाक्—स्थूला —ततसमः—'मकारः'

} —तिस्रोमात्राः

प्रणवमूर्त्ति पूर्णेश्वर का ही दूसरा नाम सच्चिदानन्द, है। महर्षि पतञ्जलि ने जहां केवल प्रणव को इसका वाचक माना है, वहां गीताचार्य ने 'तत्-सत्' को भी इसके वाचक मान लिए है। ऐसी स्थिति में उसके सम्बन्ध में—'तस्य वाचकः प्रणवः' तस्यवाचकस्तच्छब्दः' तस्य वाचकः सच्छब्दः' ये तीन वाक्य हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। तीनों में से प्रथम वाक्य का निर्वचन कर दिया गया। अब क्रमप्राप्त दूसरे 'तत्' शब्दसम्बन्धी वाक्य का विचार कीजिए।

प्रणवमूर्त्ति उसी पूर्णेश्वर से (ईश्वराव्यय से) प्रत्यक्षदृष्ट इस विश्व का वितान हुआ है। विश्व उसी का 'आतानयज्ञ' किंवा 'सर्वहुतयज्ञ' है। अपनी अक्षर-क्षर प्रकृति को आगे कर वही विश्वरूप में परिणत हुआ है। 'जन्माद्यस्ययतः' इस वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार वही विश्व के जन्म-स्थिति-भङ्ग' (उत्पत्ति-स्थिति-लय) का कारण है। 'पुरुषएवेदं सर्वम्'-'एवं वा इदं वि बभूव सर्वम्'—'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'—'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं, यदिदं किञ्च'—'प्रजायते ! न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिता बभूव'—'ईशावास्यमिदं सर्वम्' इत्यादि मन्त्र ब्राह्मण-उपनिषत्-श्रुतियाँ सम्पूर्ण विश्व को उसीका वितानरूप मान रहीं है। इसी सम्बन्ध मे भगवान् की भी सम्मति देखिए—

> १—"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां, येन सर्वमिदं 'ततम्'।
> स्वकर्म्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥—गी०।
> २—मया 'तत' मिदं सर्वं जगदव्यक्त मूर्तिना ॥—गी०।
> ३—अविनाशितु तद्विद्धि येन सर्वमिदं 'ततम्'।"—गी०।

इसी तनन (फैलाव) भाव की अपेक्षा से प्रणवमूर्ति उस ब्रह्म को हम 'तत्' शब्द से भी व्यवहृत कर सकते हैं। 'ओङ्कार' वत् 'तत्' भी उसका वाचक माना जा सकता है। तनन-भाव के कारण जहां उसे 'तत' कहना अन्वर्थ बनता है, वहां अनुरिक्तभाव की दृष्टि से भी 'तत्' शब्द का समन्वय किया जा सकता है। 'तत्' का अर्थ है—'वह'। 'वह' शब्द अनिरुक्त-भाव का वाचक है। विश्व उसका निरुक्त, मूर्त्त, स्थूल रूप है, वह स्वयं अनिरुक्त, अमूर्त्त, सूक्ष्म है। इस अनिरुक्तभाव को सूचित करने के लिए भी 'तत्' इस अनिरुक्त व्याहृति को उसका वाचक मान लेना समीचीन होता है।

तीसरा क्रम प्राप्त 'सत्' शब्द है। इसके सम्बन्ध में तो कुछ वक्तव्य ही नहीं है। सच्चिदानन्द लक्षण ब्रह्म के 'सत्-चित्-आनन्द', ये तीन पर्व हैं। 'सत्' शब्द 'सत्ताभाव' का वाचक है, 'चित्' शब्द 'विज्ञानाभाव' का द्योतक है, एवं 'आनन्द' शब्द 'शान्तिभाव' का सूचक है। मनःप्राणवाक् की उन्मुग्धावस्था (नाम-रूप-कर्म्मात्मक विश्व की प्रागवस्था) ही सत् , किंवा सत्ता है, एवं इसी त्रिमूर्त्ति ब्रह्म को पूर्व में हमने 'विश्वात्मा' कहा है। चिदंश 'विज्ञान' है, आनन्द 'रस' है। आनन्द-विज्ञान-मन (अन्तर्म्मन), तीनों विश्वातीत है, मनः (बहिर्म्मन)-प्राण-वाङ्मयी 'सत्ता' विश्वात्मा है। वह अपने इस सद्रूप से ही असल्लक्षण (चललक्षण) विश्व का कारण बना हुआ है। विश्व में उसका 'अस्ति' लक्षण सत्तारूप ही प्रधान रूप से विकसित है, जैसा कि— 'अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कुतस्तदुपलभ्यते, 'अस्तीत्येवोलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति' इत्यादि उपनिषच्छ्रुतियों से स्पष्ट है। सर्वोपाधिविनिर्मुक्ता, सामान्य सत्ता ही साक्षात् ब्रह्म है, जैसा कि आचार्य कहते हैं –

> प्रत्यस्ताशेषभेदं यत् सत्तामात्र मगोचरम् ।
> वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञान ब्रह्मसंज्ञितम् ।।

'सदेवेदं सोम्येऽग्र आसीत्' यह श्रुति भी सद्वाद का ही समर्थन कर रही है। विश्वात्मा के इसी सद्रूप (सत्तारूप) की अपेक्षा से हम 'सत्' शब्द को भी उसका वाचक मान सकते है। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व में एक रूप से व्याप्त, सत्यज्ञानघन, विद्याकर्म्ममय, मुक्ति-सृष्टिसाक्षी, ज्योतिषां ज्योतिः, उस ब्रह्म का 'ओम्-तत्-सत्' इन तीन शब्दों से निर्देश हो सकता है। इसी निर्देश के कारण तद्वाचक तीनों शब्द आर्षप्रणाली में महामाङ्गलिक माने गए हैं। अतएव ग्रन्थारम्भ में इन माङ्गलिक निर्देशों का संस्मरण आवश्यक

माना गया है। एव इसी निर्देश-रहस्य को लक्ष्य में रख कर भगवान् ने कहा है—
'ओं-तत्-सत्, इति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः'।

यद्यपि तीनों वाचक शब्द एक ही ब्रह्म के वाचक बनते हुए पर्य्याय सम्बन्धी माने जा सकते हैं। तीनों से एक ही अद्वितीय, अखण्ड, परिपूर्ण ब्रह्म का अभिनय हो रहा है। तथापि लोकव्यवहार-मर्य्यादा मे वह एक ही विज्ञानमूर्त्तिब्रह्म क्रमशः तीन स्थानों मे विभक्त होता हुआ उक्त तीनों वाचकों से प्रथक्-प्रथक् रूप से ही सम्बोधित हुआ है।

वेद-ब्राह्मण-यज्ञ-सम्पत्ति—

शब्द सुनने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, शब्दश्रवण के अव्यवहितोत्तरकाल में जिस विज्ञान ब्रह्म का आविर्भाव होता है, उस विज्ञानपर्व को 'वेद' कहा जाता है। वही विज्ञान ब्रह्म शब्दावच्छिन्न बनता हुआ 'वेद' कहलाने लगता है, जैसाकि 'धर्म्मशास्त्रनिबन्धन-षट्कर्म्म' प्रकरण में स्पष्ट होने वाला है। शब्द सुना, सामान्य ज्ञान हुआ, एवं यही वेद कहलाया। आगे जाकर इस शास्त्रज्ञानात्मक वेद के आधार पर वेदार्थ का परिशीलन आरम्भ किया। इस चिरकालिक परिशीलन से वही शास्त्रज्ञान संस्काररूप से आत्मा मे दृढमूल बन गया। यही संस्कारावच्छिन्नज्ञान 'विद्या' है। यही विद्यातत्त्व ब्राह्मणवर्ण का प्रातिस्विक धन है—
'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजमाम्'

विद्या, तथा ब्राह्मण, दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध है। अतएव आत्मस्थिता, विज्ञान-रूपा, सस्कारात्मिका इस विद्या को हम अवश्य ही 'ब्राह्मणशब्द' से व्यवहृत कर सकते हैं। ब्राह्मण ने इस विद्यात्मक सम्कार से पुरुषार्थ क्या किया ? इस प्रश्न का उत्तर है—'यज्ञविद्या'। इस संस्कृत ज्ञान के आधार पर उसने यज्ञसाधक प्राकृतिक पदार्थों का अन्वेषण किया, यज्ञानुकूल सामग्री इकट्ठी कर प्रक्रिया विशेष का अनुगमन करते हुए यज्ञविज्ञान का आविष्कार किया। वही यज्ञप्रक्रिया-विषय यज्ञ-स्वरूप समर्पक बनता हुआ आगे जाकर 'वैध—यज्ञ' नाम से प्रसिद्ध हुआ। तत्वत ब्राह्मण द्वारा गृहीत विषयज्ञान ही 'यज्ञ' कहलाया। जो कि विषयज्ञान अगले प्रकरण में ब्रह्म' नाम से पाठकों के सम्मुख उपस्थित होने वाला है।

इस प्रकार 'शब्द-संस्कार-विषय', इन तीन उपाधियों के भेद से वह एक ही विज्ञानघन ब्रह्म 'वेद-विद्या ब्रह्म' रूप में परिणत होता हुआ 'मन्त्र-ब्राह्मण (ऋत्विक)- यज्ञ (यज्ञोपकरण)' इन तीन भागों मे विभक्त हो गया। इन्हीं तीनों के समन्वय से वैदिक यज्ञकर्म्म

का स्वरूप सम्पन्न हुआ। फलतः वेद, ऋत्विक्, यज्ञ, तीनों के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध भलीभांति सिद्ध हो जाता है. और यह भी सिद्ध हो जाता है कि, ब्रह्म के आधार पर, ब्रह्म की मात्रा से ही सर्वारम्भ में वेद-ब्राह्मण-यज्ञ, इन तीनों यज्ञकर्म्मपर्वों की प्रवृत्ति हुई है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर भगवान् ने कहा है

'ब्राह्मणा-स्तेन वेदाश्च-यज्ञाश्च विहिताः पुरा'—गी०।

१—शब्दस्थानंविज्ञानम् (शब्दावच्छिन्नं, तदेवविज्ञानं 'वेदः')—वेदाः।

२—आत्मस्थानंविज्ञानम् (संस्कारावच्छिन्नं,तदेवविज्ञानं 'विद्या')-ब्राह्मणाः।

३—प्रक्रियाविषयंविज्ञानम् (विषयावच्छिन्नं,'तदेवविज्ञानं'ब्रह्म')—यज्ञाः।

वेदात्मक विज्ञानायतन, ब्राह्मणात्मक विज्ञानायतन, यज्ञात्मक विज्ञानायतन लक्षणशब्द संस्कार, विषय, इन तीनों के समन्वय से विद्यासापेक्ष यज्ञकर्म्म का स्वरूप निष्पन्न होता है, यह कहा जा चुका है। यज्ञ का स्वरूप सम्पादन करने वाले ऋत्विक् ब्राह्मण ही मन्त्र-प्रयोग करते हैं, वे ही आत्मस्थसंस्कार ज्ञान द्वारा कर्म्मेतिकर्त्तव्यता का सञ्चालन करते है, एवं वे ही यज्ञपात्र, हविर्द्रव्यादि यज्ञोपकरणों से काम लेते हैं। मनुष्य स्वभाव से ही अनृतसंहित है। अपने इसी स्वाभाविक दोष के कारण बहुत सावधानी रखने पर भी अज्ञानतावश इससे कभी-कभी भूल हो जाया करती है।

कर्म्मत्रुटिसन्धान—

लौकिक कर्म्मों की भूल का तो विशेष (चिरस्थायी) प्रभाव नहीं होता। परन्तु वैज्ञानिक प्रक्रिया से सम्बन्ध रखने वाले यज्ञकर्म्म से होने वाली भूल यज्ञस्वरूप को उच्छिन्न करती हुई यज्ञकर्त्ता यजमान का अभ्युदय के स्थान में नाश कर बैठती है जैसा कि-'यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्' इत्यादि गाथामन्त्रों से प्रकट है। अवश्य ही इस अनिष्टभाव की चिकित्सा के लिए यज्ञकर्म्म में किसी उपाय का अनुगमन करना आवश्यक हो जाता है। वही आवश्यक उपाय है— 'ओङ्कारस्मरणपूर्वक यज्ञारम्भ'। पूर्वोक्त तीनों ही विज्ञानायतनों की मूल प्रतिष्ठा प्रणवमूर्त्ति ब्रह्म ही है। उसी के अखण्डधरातल पर मन्त्र, ब्राह्मणकर्म्म, एवं यज्ञोपकरण, तीनों प्रतिष्ठित हैं। तद्वाचक प्रणवस्मरण द्वारा उस पूर्णेश्वर के साथ जब हमारे आत्मा का योग हो जाता है, तो अज्ञानजनित उस अज्ञात त्रुटि की उस महाविज्ञान के आलम्बन से स्वतःएव पूर्त्ति हो जाती है। इसी अभिप्राय से 'स्वकर्म्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं

विन्दति मानवः' यह कहा गया है। कर्म्म से सिद्धि मिलती है। परन्तु त्रुटिजनित अनिष्ट-भाव सिद्धि का विघातक बन जाता है। इस घात से बचने के लिए कर्म्मारम्भ में उसका अर्चन (संस्मरणलक्षण उपासना) आवश्यक है। तभी वह कर्म्म निर्विघ्न पूर्ण हो सकता है। उस 'सर्वघाता' का स्मरण ही, संस्मरणलक्षणा अर्चा ही, तद्द्वारा उसकी प्राप्ति ही कर्म्म-सिद्धि का अन्यतम द्वार है, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है—

> कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
> सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपं स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१॥
> अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
> तस्याहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ २ ॥

स्वयं श्रुति ने भी 'प्रजापतिरूनातिरिक्तयोः प्रतिष्ठा' कहते हुए प्रजापति को त्रुटि संधानकर्त्ता बतलाया है। तत्स्मरण से हमारे कर्म्म से हमारा प्रभुत्व हट जाता है, जो कि स्मरणकर्म्म गीतासिद्धान्त के अनुसार 'आत्मसमर्पण योग' [1] नाम से प्रसिद्ध है। हम उसी को अपने यज्ञकर्म्म का सञ्चालक बना देते हुए सारा भार उसी पर डाल देते हैं। इस आत्म-प्रपत्ति के अनन्तर यदि अज्ञानवश हमसे कुछ कमी, अथवा कुछ अधिक हो जाता है, तो स्वयं प्रजापति उसे संभाल लेते हैं, हम उस दोष के भागी नहीं रहते। इसी प्रतिष्ठाप्राप्ति के लिए विज्ञानायतन रूप, वेद-ऋत्विक्-यज्ञोपकरण सम्पत्तियों के आलम्बनभूत ब्रह्म को ही कर्म्मारम्भ में प्रतिष्ठित करना होगा, एवं इस प्रतिष्ठा प्राप्ति का एकमात्र उपाय होगा ओंकार-स्मरण पूर्वक यज्ञादि कर्म्मों का वितान। इसी प्रतिष्ठाप्राप्ति का उपाय बतलाते हुए भगवान् ने कहा है—

> 'तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञ-दान-तपः क्रियाः ।
> प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्' ॥

---

१ यत् करोषि, यदश्नासि, यज्जुहोषि, ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय ! तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥—गी० ।

पूर्वप्रतिपादित ब्रह्म के 'ओं-तत् सन्' इन तीन निर्देशों के आधार पर गीतादृष्टि से हमें वैदिक, लौकिक कर्म्मों का तीन तरह से वर्गीकरण करना है। यह वर्गीकरण चूंकि ब्रह्मनिर्देश-स्वरूप-परिचय के बिना अपूर्ण रह जाता, अतएव प्रकरण सङ्गति की दृष्टि से हमें ब्रह्मनिर्देश, तत्सम्बन्धी ज्ञानपर्व, तत् सम्बन्धी त्रुटि-सन्धान, आदि अवान्तर विषयों का दिग्दर्शन कराना पड़ा। अब पुनः 'कर्म्म के वर्गीकरण की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति—

पूर्व प्रकरण में विद्यासापेक्ष कर्म्मों के 'प्रवृत्त-निवृत्त' दो भेद बतलाते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि, प्रवृत्तिमूलक यज्ञ-तप-दान, तीनों अभ्युदयलक्षण देवस्वर्गप्राप्ति के कारण बनते हैं, एवं निवृत्ति मूलक ये ही तीनों कर्म्म निःश्रेयस लक्षणा मुक्ति के साधक बन जाते हैं। इन्हीं दोनों का स्पष्टीकरण करते हुए मनु भगवान् कहते हैं—

सुखाभ्युदयिकं चैव, नैःश्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तं च, निवृत्तं च, द्विविधं कर्म्म वैदिकम् ॥ १ ॥
इह, चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म्म कीर्त्यते।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥ २ ॥
प्रवृत्तं कर्म्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम्।
निवृत्तं सेव्यमानस्तु भूतान्यत्येतिपञ्च वै ॥ ३ ॥

—मनु १२।८८, ८९, ९०।

प्रवृत्तकर्म्म, एवं निवृत्तकर्म्म, इन दोनों कर्म्मों की मूलप्रतिष्ठा क्रमशः 'देवसत्य' एवं 'ब्रह्मसत्य' है। पाठकों को स्मरण होगा कि, 'संस्कार विज्ञान' प्रकण मे अध्यात्म संस्था के 'ब्रह्म' (कारणशरीररूपआत्मा), 'देवता' (सूक्ष्मशरीररूपसत्त्व), 'भूत' (स्थूलभूतात्मकपाञ्च-भौतिकशरीर), ये तीन विवर्त्त बतलाए गए थे। वहीं यह भी स्पष्ट किया गया था कि २१ ब्राह्मसंस्कारों से अध्यात्मसंस्था का 'ब्रह्म' भाग संस्कृत बनता है, एवं २१ दैवसंस्कारों से देवभाग उपकृत होता है।

प्रवृत्तकर्म्म, तथा निवृत्तकर्म्म, इन दोनों की प्रतिष्ठा ये ही ब्रह्म-देवविवर्त हैं। ब्रह्मभाग ब्रह्मसत्य है, देवभाग देवसत्य है, जैसा कि—'यदस्य च त्वं (ब्रह्म) यदस्य च देवेषु' (केनोपनिषत्) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से स्पष्ट है।

ब्रह्मसत्य, देवसत्य विवर्त –

हमारे ब्रह्मसत्य का ईश्वरीय ब्रह्मसत्य के साथ, एवं देवसत्य का ईश्वरीय देवसत्य के साथ सम्बन्ध है। ब्रह्मसत्य की प्रतिष्ठा ब्रह्माश्वत्थ है, देवसत्य की प्रतिष्ठा कर्म्माश्वत्थ है। ब्रह्माश्वत्थ आत्मवैभव लक्षण निःश्रेयस भाव की प्रतिष्ठा है, कर्म्माश्वत्थ विश्ववैभवलक्षण अभ्युदयभाव की प्रतिष्ठा है। निःश्रेयसभाव शाश्वत धर्म्म से युक्त रहता हुआ अमृतलक्षण है, अभ्युदय भाव (स्वर्गादि) क्षणिक संस्कारानुग्रह से मृत्युलक्षण है। सूर्य्यांश भूत मध्यस्थ विज्ञानात्मा (बुद्धि) उसी प्रकार इन दोनों का विभाजक, व्यवस्थापक बन रहा है, जैसे कि अमृतलक्षण ईश्वरीय ब्रह्मसत्य (स्वयम्भू, परमेष्ठी), एवं मृत्युलक्षण देवसत्य (चन्द्रमा पृथ्वी), इन दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित सूर्य्यदेवता दोनों के विभाजक, व्यवस्थापक बन रहे हैं- 'निवेशायन्नमृतं मर्त्यं च' (यजुः सं०)।

वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ, से युक्त प्रज्ञानात्मा ही कर्म्मात्मा है,। यही कर्म्मकर्त्ता यजमान है। इस यजमान (कर्म्मात्मा) के इस ओर (अन्तर्मुख) प्रज्ञानसम्परिष्वक्त विज्ञान (बुद्धि) प्रतिष्ठित है. उस ओर (वहिर्मुख) ऐन्द्रियक, काममय विषय प्रतिष्ठित है। दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित कर्म्मात्मा 'कर्म्माश्वत्थ' है। अभी-अभी हमने विज्ञानात्मा को मध्यस्थ कहा है, एवं यहां कर्म्मात्मा को मध्यस्थ बतलाया जा रहा है। इससे पूर्वापर विरोध प्रतीत होता है। परन्तु नित्य, (स्वाभाविक) स्थिति के अनुसार विज्ञान इस ओर रहता हुआ मध्यस्थ भी मान लिया जाता है। अनित्य स्थिति से इन्द्रियानुगामी बनता हुआ यह कर्म्मात्मा की मध्यस्थता का भी कारण बन जाता है। फलतः पूर्वापर विरोध को अवसर नहीं मिलता।

यदि विज्ञानात्मा प्रज्ञानमन का अनुचर बन जाता है, तो यह उस ब्रह्माश्वत्थोपयिक जीवाव्ययज्ञान (योगजज्ञान) से वञ्चित हो जाता है। एवं उस दशा में प्रज्ञान की प्रभुता से देवसत्यलक्षण कर्म्मात्मा इन्द्रियाराम बनता हुआ कामना के अनुग्रह से विश्वसम्पत्ति की ओर झुक जाता है। इस कामनामयी कर्म्मप्रवृत्ति से (जिस में कि विज्ञान निर्बल, एवं प्रज्ञान प्रबल है), कर्म्मात्मा यथा काम देवसत्यलक्षणा विश्वसम्पत्ति का (स्वर्गादिसुखों का) अधिकारी बन जाता है। वे यज्ञादिकर्म्म, जो कामनामय बनते हुए देवसत्य विजय के कारण हैं, ऐहलौकिकसुख, तथा पारलौकिक, किन्तु अनित्य देवस्वर्गादि सुखों के कारण बनते हैं,

'प्रवृत्तिकर्म्म' कहलाए हैं। इन कामनामय वैदिक कर्म्मों में त्रिगुणभाव का समावेश रहता है। अतएव ये शाश्वत आनन्द प्राप्ति के कारण नहीं बन सकते। अतएव च कामना-प्रधान इन वैदिक प्रवृत्तकर्म्मों को 'अवरकर्म्म' (निम्न श्रेणि के कर्म्म) कहा गया है, जैसा कि-'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म्म' (मुण्डकोपनिषत्) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। स्वयं भगवान् ने भी कामनामय, अतएव त्रिगुणभावापन्न ऐसे प्रवृत्त वैदिक कर्म्मों को बुद्धियोग निष्ठा का विरोधी मानते हुए—'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' कहने में कोई आपत्ति नहीं समझी है। यही नहीं, उसी प्रकरण में भगवान् ने स्पष्टशब्दों में इन कामनामय कर्म्मों का विरोध भी कर डाला है। देखिए !

१—यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥
२—कामात्मनः स्वर्गपरा जन्मकर्म्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेष बहुलां भोगैश्वर्य्यगतिं प्रति ॥
३—भोगैश्वर्य्य प्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

वेदवादरति—

कितने एक ज्ञानानुयायी उक्त गीतावचनों के आधार पर जो वैदिक कर्म्मकाण्ड का खण्डन करने का साहस करते हैं, उनके इस दुःसाहस का कोई महत्व नहीं है, जैसा कि मूलभाष्य के उसी प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। भगवान् 'वेदवादरताः' के अवश्य ही विरोधी हैं। क्योंकि रति (आशक्ति) बन्धन का कारण है। वेद तो भगवान् का प्रातिस्विक स्वरूप है। ऐसी दशा में वेदसिद्ध कर्म्मवाद का वे विरोध करेंगे, यह कब, और कैसे सम्भव है। भगवान् तो केवल काम-फल-मयी प्रवृत्ति के विरोधी हैं। यदि वेदसिद्ध यज्ञादि कर्म्मों के साथ ही भगवान् का विरोध होता, तो वे कभी यह आदेश न देते कि, "यज्ञ, तप, दान, इन तीनों कर्म्मों का कभी परित्याग नहीं करना चाहिए, इनका अवश्यमेव अनुगमन करना चाहिए"। अस्तु, यहां हमें केवल यही बतलाना है कि, कामना के समावेश से प्रज्ञानबल प्रबल बनता हुआ कर्म्मात्मा देवसत्य (विश्व-

सम्पत्) का अनुगामी बना देता है। एवं तद्विजयोपयिक कामनामय वैदिक यज्ञ-तप-दान कर्म्म हीं प्रवृत्तकर्म्म कहलाए है।

यदि कामना का परित्याग कर दिया जाता है, तो प्रज्ञानमन विज्ञान का अनुचर बन जाता है, विज्ञानबल स्वस्वरूप से विकसित हो जाता है। एवं उस परिस्थिति मे त्रिगुणजनित अविद्यावरण की एकान्ततः निवृत्ति हो जाती है। इस सत्वात्मक, सत्वप्रधान विज्ञान के अनुग्रह से देवसत्यलक्षण कर्म्मात्मा गुणपाश से मुक्त होता हुआ ब्रह्मसत्यलक्षण, योगजज्ञानघन जीवाव्यय के साथ युक्त हो जाता है। इसी योग के द्वारा ब्रह्माश्वत्थ विजय का अधिकारी बन जाता है। ऐसे निष्काम कर्म्म हीं, (जिन से कर्म्मात्मा कर्म्म करता हुआ भी, सर्वविध फल भोक्ता बनता हुआ भी सस्कारलेपबन्धन से विनिर्मुक्त रहता हुआ निश्रेयसलक्षण मुक्ति का सत्पात्र बन जाता है) 'वैदिकनिवृत्तकर्म्म' कहलाए है।

इस प्रकार ब्रह्माश्वत्थ-कर्म्माश्वत्थमूलक ब्रह्मसत्य (देहस्थित परमात्मा) देवसत्य (देहाभिमानी जीवात्मा) के तारतम्य से विद्यासमुचित वैदिक कर्म्मों के प्रवृत्त, निवृत्त भेद से दो विभाग हो जाते है। इन दोनों वैदिक कर्म्मों से अतिरिक्त विद्यानिरपेक्ष लौकिक कर्म्म और बच जाते है। अध्यात्मसस्था के ब्रह्मभाग के जहा विद्यासापेक्ष निवृत्त कर्म्मों का, देवभाग के साथ विद्यासापेक्ष प्रवृत्त कर्म्मों का सम्बन्ध है, वहा भौतिक शरीर के साथ विद्यानिरपेक्ष लौकिक प्रवृत्त कर्म्मों का सम्बन्ध माना गया है। इन कर्म्मों के साथ विज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं है। यहा केवल प्रज्ञान (मानसरुचि) की ही प्रधानता है। अतएव ये केवल ऐहलौकिक सुख के ही साधक बनते है। योगजज्ञानानुग्रहीत (आत्मानुगृहीत), विज्ञानमय, निष्काम यज्ञ-तप-दान, तीनों कर्म्म ब्रह्माश्वत्थ के उपकारक हैं। योगजज्ञानानुगत (आत्मज्ञानानुगत) विज्ञानसहकृत (सौरविज्ञान सहकृत), सकाम यज्ञ-तप-दान, तीनों कर्म्माश्वत्थ के उपकारक हैं। एव विज्ञानवञ्चित, प्रज्ञानानुगत सकाम इष्ट, आपूर्त्त, दत्त नामक तीनों कर्म्म लोकवैभव के सम्पादक हैं। इस प्रकार एक ही विज्ञान के तारतम्य से आरम्भ मे दो भागों में विभक्त होते हुए वैदिक-लौकिक कर्म्म आगे जाकर तीन श्रेणियों मे विभक्त हो जाते हैं।

कर्म्मों के उदर्क—

इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि, वैदिक प्रवृत्त कर्म्म केवल स्वर्गादि पारलौकिक सुख के ही, वैदिक निवृत्त कर्म्म केवल मुक्ति के ही कारण हैं। लौकिक-सुख तो एकमात्र लौकिक-कर्म्मों से ही प्राप्त हो सकता है। यदि ऐसी स्थिति होती, तब तो लोकसुखानुयायी कोई भी व्यक्ति उन वैदिक कर्म्मों की ओर प्रवृत्त न

होता। और साथ ही लोकसंग्रहदृष्टि भी तो इस वैदिक-कर्म्म-प्रवृत्ति की विरोधिनी बन जाती। परिणाम में शास्त्रोपदेश एकान्ततः व्यर्थ ही सिद्ध होता। वस्तुस्थिति वास्तव में यह है कि, लौकिक कर्म्मों से केवल लौकिक सुख ही मिलता है। इनसे आत्मा, तथा देवता का कोई उपकार नहीं होता। केवल स्थूलशरीर का भरण-पोषण सुविधापूर्वक होता रहता है, जो सुविधा उदरपरायण, विषयानुगत पशुसुख से अधिक कोई महत्व नहीं रखती।

वैदिक प्रवृत्त कर्म्मों से ऐहलौकिक वैभव तो मिलता ही है, इसके अतिरिक्त देवभागोपकारक स्वर्गसुख और प्राप्त होता है। प्रवृत्तकर्म्म स्थूल शरीर के साथ-साथ सूक्ष्मशरीर-लक्षण देवभाग के भी उपकारक बनते हैं। निवृत्ति-मूलक वे ही वैदिक कर्म्म ऐहलौकिक सुख के साथ-साथ पारलौकिक मात्रा सुखापेक्षया कहीं श्रेष्ठ, निःश्रेयसलक्षण शाश्वत आनन्द के प्रवर्त्तक बनते हुए सर्वोपकारक बन रहे हैं।

(क)—

१— { (१) १-निवृत्तिमूलं वैदिकं कर्म्म—आत्मज्ञानसहकृतं, विज्ञानानुगतम्—सर्वसिद्धिः, कृतकृत्यता।
(२) २-प्रवृत्तिमूल वैदिक कर्म्म—प्रज्ञानाज्ञानसहकृत, विज्ञानानुगतम्—लौकिक-पारलौकिक सुखप्राप्तिः

२— { (१) ३-प्रवृत्तिमूलं लौकिकंकर्म्म—ऐन्द्रियकज्ञानसहकृतं, प्रज्ञानानुगतम्—लोकमेव फलम्।

(ख)—

१—ब्रह्मसत्यात्मा (आत्मा—ब्रह्म—ब्रह्माश्वत्थमूर्त्तिः)—हृदयस्थ.परमात्मा।
२—देवसत्यात्मा (सत्वं —देवः—कर्म्माश्वत्थमूर्त्तिः)—देहाभिमानी जीवः।
३—भूतात्मा (शरीरं—भूतम्—अश्वत्थपतितम्)—देहः।

(ग)—

१—निवृत्तंवैदिकंकर्म्म—ब्रह्माश्वत्थविजयसाधकत्वात्, सर्वसाधकम्।
२—प्रवृत्तं वैदिकंकर्म्म—देवसत्यविजयसाधकत्वात्, लोक-स्वर्गसुखसाधकम्।
३—प्रवृत्तं लौकिककर्म्म— भूतसत्यविजयसाधकत्वात् विषयसुखसाधकं, पितृ-स्वर्गसाधकञ्च।

महर्षियों का आदेश है कि, त्रुटि-सन्धान के लिए उक्त तीनों हीं कर्म्मों के आरम्भ में 'ओं-तत्-सत्' इस ब्रह्मनिर्देश का स्मरण करना चाहिए। यद्यपि तीनों कर्म्मों की (प्रत्येक

'स्थितितत्व' है, कर्म्म 'गतितत्व' है। स्थिति 'ज्ञान' है, गति 'क्रिया' है। स्थिति 'ब्रह्म' है, गति 'कर्म्म' है। प्रतिक्षणविलक्षणा कुर्वल्लक्षणा गति 'असत्' है, सर्वदा अक्षणा प्रतिष्ठालक्षणा स्थिति 'सत्' है। सत् ही असत् की प्रतिष्ठा है, असत् ही सत् का विकासक है, दोनों के समन्वितरूप का ही नाम 'विश्व' है, जैसा कि 'ब्रह्म-कर्म्मपरीक्षा' प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

वेद-विद्या-ब्रह्म-निरुक्ति—

सत्तार्थक 'विद्' धातु से विद्याशब्द सम्पन्न हुआ है, करणार्थक 'कृञ्' धातु से कर्म्म-शब्द निष्पन्न हुआ है। **'विद्यते, सा विद्या, तद्ब्रह्म, तज्ज्ञानम्'**-**'क्रियते, सा क्रिया. तत्कर्म्म'** ही विद्या-कर्म्म शब्दों के निर्वचन हैं। 'विद्यते' का अर्थ है— 'अस्ति'। यह 'अस्ति' भाव ही प्रतिष्ठा है, प्रतिष्ठा ही ब्रह्म है, जैसा कि— **'ब्रह्मवै सर्वस्यप्रतिष्ठा'** इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। प्रतिष्ठालक्षण ज्ञान ही 'शब्द-विषय-संस्कार' इन तीन उपाधियों के भेद से 'वेद-ब्रह्म-विद्या' इन तीन स्वरूपों में परिणत हो रहा है।

शब्द सुनने से जो ज्ञान होता है, वही 'वेद' है। विषयदर्शन (प्रत्यक्ष) से जो ज्ञान होता है, वही 'ब्रह्म' है। शब्दश्रवणजनितज्ञान, तथा विषयप्रत्यक्षतजनित ज्ञान, दोनों आगे जाकर बुद्धिसहकृत मनोयोग से संस्काररूप में परिणत हो जाते हैं। शब्द सुना, ज्ञान हुआ, आगे जाकर संस्काररूप में परिणत होता हुआ यह ज्ञान अन्तःकरण में प्रतिष्ठित हो गया। इसी प्रकार विषय देखा, ज्ञान हुआ, यह भी शब्दज्ञानवत् कालान्तर में संस्काररूप से प्रतिष्ठित हो गया। शब्दश्रवण, तथा विषयदर्शन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही संस्काररूप में परिणत होता हुआ आगे जाकर उक्थभाव में आ जाता है। सञ्चित संस्कार ही 'उक्थ संस्कार' है। इसी उक्थ ज्ञान से लौकिक-पारलौकिक व्यवहारों का सञ्चालन होता है। व्यवहारसञ्चालक, संस्कारात्मक, उक्थावस्थापन्न यही ज्ञान 'विद्या' है। जो व्यक्ति सुन लेता है, देख लेता है, परन्तु मननादिसाधनों के द्वारा इन श्रुत-दृष्ट प्रत्ययों (ज्ञानों) को संस्काररूप से दृढ़मूल नहीं बनाता, वह विद्याशून्य है। ऐसे संस्कारशून्यव्यक्ति के सम्बन्ध में ही लोक में कहा जाता है कि. इसने केवल देखा-सुना है, मनन नहीं किया, पोथी पढ़ी है, विद्या नहीं पढ़ी— 'नामैवतत्'।

वक्तव्यांश यही है कि, एक ही ज्ञान उपाधि भेद से 'विद्या-वेद-ब्रह्म' रूप में परिणत हो जाता है। इसी एकत्वभावना के आधार पर—'त्रयीविद्या, त्रयोवेदाः, त्रयं ब्रह्म' ये व्यवहार प्रतिष्ठित हैं। जिस प्रकार ज्ञानप्रपञ्च उक्तरूप से शब्द-संस्कार-विषयद्वारा तीन भागों में विभक्त है, एवमेव कर्म्म भी शब्द-संस्कार-विषय के अनुग्रह से तीन ही भागों में विभक्त हैं। नामात्मककर्म्म 'शब्दकर्म्म' है, कर्म्मात्मक कर्म्म 'विषयकर्म्म' है, एवं रूपात्मक कर्म्म 'संस्कारकर्म्म' है। शब्दावच्छिन्न वही कर्म्म 'नाम' है, विषयावच्छिन्न वही कर्म्म 'कर्म्म' है, एवं संस्कारावच्छिन्न वही कर्म्म 'रूप' है। विद्या-ब्रह्म-वेद, तीनों की समष्टि ज्ञानत्रयी है, यही आत्मा है, यही स्थिति है, यही ब्रह्म है। नाम-रूप-कर्म्म, तीनों की समष्टि ही कर्म्म-त्रयी है, यही विश्व है, यही गति है, यही कर्म्म है।

ज्ञानलक्षण आत्मा के 'मन-प्राण-वाक्' ये तीन पर्व बतलाए गए हैं। मन.पर्व के आधार पर रूपात्मक 'संस्कार लक्षण कर्म्म' प्रतिष्ठित हैं, प्राणपर्व के आधार पर कर्म्मात्मक 'विषय-लक्षण कर्म्म' प्रतिष्ठित है, एवं वाक्पर्व के आधार पर नामात्मक 'शब्दलक्षण कर्म्म' प्रतिष्ठित हैं। नाम-रूप-कर्म्म की समष्टि 'असत् कर्म्म' है, मनःप्राण-वाक् की समष्टि 'सत्-ज्ञान' है। मन.प्राण-वाक् का समुच्चय 'अस्ति' है, यही ब्रह्म है, यही वेद है, यही विद्या है। नामरूप कर्म्म का समुच्चय 'नास्ति' है, यही कर्म्म है, यही क्रिया है, यही अविद्या है। 'विद्यां चावि-द्यांच यस्तद्वेदोभयंसह' के अनुसार दोनों का सहावस्थान है। स्थितिलक्षणा विद्या ही गतिलक्षण कर्म्म की प्रतिष्ठा है—'सर्वं कर्म्माखिलं पार्थ ! ज्ञानेपरिसमाप्यते'।

गति 'गति' है। अपने इसी गतिभाव की अपेक्षा से स्वसंचार के लिए इसे अवश्य ही किसी स्थिर धरातल की आवश्यकता है। निष्क्रियतत्त्व को आलम्बन बनाए बिना क्रियामय कर्म्म कभी स्वरूपरक्षा नहीं कर सकता। स्थिति-गतिलक्षण विद्याकर्म्म का यही तादात्म्य सम्बन्ध है, एवं यही इस तादात्म्यसम्बन्ध की उपपत्ति है। आगे के परिलेखों से इस तादात्म्यभाव का भलीभांति स्पष्टीकरण हो जाता है—

तज् ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्

मनः	प्राणः	वाक्
रूपम्	कर्म्म	नाम
संस्कारः	विषयः	शब्दः

संस्कारावच्छिन्नं ज्ञान– 'विद्या' "त्रयीविद्या"	विषयावच्छिन्न- ज्ञान– 'ब्रह्म' "त्रयब्रह्म"	शब्दावच्छिन्न- ज्ञान– 'वेद.' "त्रयोवेदाः"

सर्वं 'कर्म्म'—'ज्ञाने' परिसमाप्यते

१—त्रयीविद्या-ज्ञानम् (मनः)—१—संस्कारात्मकं कर्म्म-रूपप्रधानम् (मनोमयम्)
२—त्रयं ब्रह्म ज्ञानम् (प्राणः)—२—विषयात्मकंकर्म्म- कर्म्मप्रधानम् (प्राणमयम्)
३—त्रयोवेदाः-ज्ञानम् (वाक्)—३—शब्दात्मकंकर्म्म- नामप्रधानम् (वाङ्मयम्)

अस्तिलक्षण–'ब्रह्म'	'सतोबन्धुमसति निरविन्दन्'	नास्तिलक्षण–'कर्म्म'
सा–प्रतिष्ठा		सा–क्रिया
तत्–सत्		तत्–असत्
तत्–ज्ञानम्		तत्–कर्म्म
सैव–स्थिति		सैव–गतिः
तदिदममृतविवर्त्तम्		तदिदंमृत्युविवर्त्तम्

"अमृतं चैव मृत्युश्च, सदसच्चाहमर्जुन"

उक्त 'विद्या-कर्म्म-निर्वचन' से प्रकृत में हमें यही सिद्ध करना था कि, कर्म्म का मौलिक स्वरूप 'गतितत्व' ही है, एवं यह गतितत्व स्थितिलक्षण ज्ञान के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। 'गति' ही विसर्गभाव है, इसी आधार पर गीता ने कर्म्म का—'विसर्गः कर्म्म संज्ञितः' यही लक्षण किया है। विसर्ग-शब्द नित्यसापेक्ष है। आदानभाव के आधार पर ही विसर्गभाव उपपन्न है। विसग के गर्भ में आदान प्रतिष्ठित है। ऐसी दशा में गीतोक्त 'विसर्ग' शब्द को हम आदान का भी संग्राहक मानने के लिए तय्यार हैं।

गति और कर्म्म—

विसर्ग गतिभाव है, गतिभाव 'पराग्-गति, अर्वाक्-गति' भेद से दो भावों में विभक्त है। उस ओर जाना परागृगति है, यही गति 'गतिलक्षणागति' है। इस ओर आना अर्वाक्-गति है, यही गति 'आगतिलक्षणागति' है। गतिलक्षणागति ही 'विसर्ग' है, एवं आगति-लक्षणागति ही 'आदान' है। फलतः आदान, विसर्ग, दोनों का गतिभाव पर भी अवसान सिद्ध हो जाता है। गतिलक्षण कर्म्म के ये ही दो मौलिकरूप हैं। आप किसी भी कर्म्म पर दृष्टि डालिए, सर्वत्र आदान, विसर्ग ये दो भाव ही उपलब्ध होंगे।

कर्म्म किया जाता है, किसी वस्तु के आदान के लिए। परन्तु पहिले अपनी प्राणशक्ति का, भूतबल का, सम्पत्ति का विसर्ग किया जाता है। विसर्ग के आदान कर्म्म मे कभी सफलता नहीं मिल सकती। जो देना जानता है, दे सकता है, देता है, वही लेने की प्रक्रिया से परिचित है, वही ले सकता है, वही लेता है। जो विसर्ग में कृपण है, वह आदान धर्म्मों से एकान्ततः वञ्चित है। -आगत वस्तु की प्रतिष्ठा के लिए पहिले अपने आयतन में स्थान-रिक्त करना पड़ेगा, इसके लिए सञ्चित प्राणादि वस्तुओं को पहिले निकालना पड़ेगा। इस विसर्ग से जब आयतन में स्थान हो जायगा, तभी आगत वस्तु स्थिर रूप से प्रतिष्ठित हो सकेगी। त्याग ही वैभव प्राप्ति का अन्यतम द्वार है। आप जितना अधिक त्याग करेंगे, विश्वास कीजिए प्रत्युपकार में प्रकृति देवी त्यागमात्रा से कई गुना वैभव आपको प्रदान करेगी। यदि विना त्याग के घुणाक्षरन्याय से, किंवा मिथ्या-जालसाजी-विडम्बना आदि आसुरभावों के अनुगमन से सम्पत्ति आ भी जायगी, तो उसका आप उपभोग न कर सकेंगे। नाम मात्र के लिए उपभोग कर भी लिया, तो शान्तिलक्षण आनन्द तो कभी प्राप्त न हो सकेगा। त्यागानुबन्धी वैभव ही ससमृद्धि, सुखशान्ति का अन्यतम-द्वार है।

शरीर, आत्मा का कुछ नहीं विगड़ता, परन्तु सत्व (मन) उत्तेजित हो जाता है। मिथ्याभापण से शरीर का भी कुछ अनिष्ट नहीं होता, आरम्भ में सत्त्व पर भी विशेष असर नहीं होता, किन्तु आत्मविकास ततक्षण अभिभूत हो जाता है।

यह कहा जा चुका है कि, शरीरानुबन्धी कर्म्मों का प्रतिपादक 'आयुर्वेदशास्त्र' है, सत्वानुबन्धी कर्म्मों का प्रतिपादक 'धर्म्मशास्त्र' है, एवं आत्मानुबन्धी कर्म्मों का प्रतिपादक 'दर्शन-शास्त्र' है। प्रत्येकशास्त्र नित्य-नैमित्तिकादि कर्म्मषट्कों से युक्त है। इन ६ कर्म्मों में 'नित्य, नैमित्तिक, काम्य' ये तीन ही कर्म्म प्रधान मानें गए हैं। उत्तर के तीनों कर्म्म इन्हीं के संयोग से निष्पन्न हुए हैं, अतएव इन सांयौगिक तीनों उत्तर कर्म्मों का पूर्वकर्म्मों में हीं अन्तर्भाव हो जाता है। 'नित्यनैमित्तिक' कर्म्मों का 'नित्यकर्म्मों' में, 'नित्यकाम्य कर्म्मों' का 'नैमित्तिक कर्म्मों' में, एवं 'नैमित्तिककाम्य' कर्म्मों का 'काम्य' कर्म्मों में अन्तर्भाव हो रहा है—

१—नित्यकर्म्माणि— १-४—नित्यनैमित्तिककर्म्माणि
२—नैमित्तिककर्म्माणि-२-५—नित्यकाम्यकर्म्माणि
३—काम्यकर्म्माणि— ३-६—नैमित्तिककाम्यकर्म्माणि
} 'षट्कर्म्माणि-इतीति'

नित्य, नैमित्तिक, ये दोकर्म्म 'यज्ञार्थकर्म्म' मानें गए हैं। इन से पुरुषसंस्था स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। न तो इन से पाप (ह्रास) होता, एवं न पुण्य (वृद्धि) होता। यही समत्वयोग है, समता ही शांति है, शान्ति ही आनन्द है। समत्व मूलक ये यज्ञार्थकर्म्म (आत्मार्थकर्म्म) सर्वथा अवन्धन हैं, जैसा कि 'यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयंकर्म्मवन्धनः' इत्यादि श्लोकभाष्य में विस्तार से वतलाया जाने वाला है। तीसरा काम्यकर्म्म ही भगवान् की दृष्टि में बंधन का मूल है। ह्रासवत् वृद्धि भी विषमता की जननी है। इस से आत्मसमता का उच्छेद हो जाता है। अतएव ये काम्यकर्म्म समत्वयोग लक्षण 'बुद्धियोग' के महाप्रतिवन्धक मानें गए हैं। इसी आधार पर सन्यास का 'काम्यानां कर्म्मणान्यासं संन्यासं कवयो विदुः' यह लक्षण हुआ है। इसके साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि, भगवान् काम्यकर्म्मों के शत्रु नहीं हैं, अपितु केवल कामना ('वस्त्याप्याकांक्षा' नाम से प्रसिद्ध प्रज्ञानानुगामिनी आसक्ति) के विरोधी हैं। यही कामना

यज्ञार्थकर्म्म—

आगे जाकर आसक्ति की जननी बन जाती है। एवं आसक्ति ही बंधन का अन्यतम कारण है। कामनाशून्य काम्य कर्म्म वैय्यक्तिक स्वार्थमर्य्यादा से बाहिर निकलते हुए, लोकसंग्राहक बन कर नित्य-नैमित्तिक कर्म्मों की तरह यज्ञार्थ ही बन जाते हैं। ठीक इसके विपरीत कामनापरिग्रह से नित्य-नैमित्तिक कर्म्म भी काम्यकर्म्म बनते हुए यज्ञार्थसम्पत्ति से वञ्चित रह जाते हैं।

चूंकि आत्मा, सत्व, शरीर, तीनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतएव तत्कर्म्मषट्क प्रतिपादक आयुर्वेद-धर्म्मशास्त्र-दर्शनशास्त्र, तीनों शास्त्रों को तीनों पर्वों की रक्षा का पूरा-पूरा ध्यान रखना पड़ता है। आयुर्वेदशास्त्र वर्णमर्य्यादा के अनुसार ही औषधिसेवन का विधान करेगा। शरीर की शक्ति का समतुलन करते हुए ही धर्म्मशास्त्र प्रायश्चित्तादि कर्म्मों का आदेश देगा। एवं सत्त्व-शरीर की शक्ति के अनुरूप ही दर्शनशास्त्र योगाभ्यासादि का नियम करेगा।

कहना न होगा कि, कुछ शताब्दियों से विशुद्ध भूतवादी बनते हुए हम भारतीयों ने आत्मा, सत्व, पर्वों की उपेक्षा करते हुए केवल स्थूल शरीर को ही प्रधान मान लिया है। "स्थूल शरीर से सम्बन्ध रखने वाले खान-पान, आचार-व्यवहार आदि का सत्त्व, तथा आत्मा पर भी शुभाशुभ प्रभाव पड़ता है" यह सिद्धान्त आज हमारी दृष्टि में परिहास की वस्तु बन रहा है। ब्राण्डीसेवन शिराओं को बल प्रदान करता है, कतिपय (न्यूमोनिया आदि) रोगों में ब्राण्डी गर्मी पहुँचाती है, शरीर को आराम मिलता है, प्याज-लहसुन आदि से शरीर में बलाधान होता है, सान्तपन (लू) अग्नि से त्राण मिलता है, यहां तक तो सब ठीक-ठीक है। परन्तु इस 'ठीक' के अनुयायियों को सम्भवतः यह विदित नहीं है कि, ये सब तामस पदार्थ सत्व, तथा आत्मा के वीर्य्यों का सर्वनाश कर डालते हैं। इसी लिए आयुर्वेद ने द्विजाति के लिए मद्यौषधियों का दृढ़ नियन्त्रण लगाया है। सोडा, लेमन, बिस्कूट, आइस्क्रीम, लाइमजूस, आदि स्वर्गीय पदार्थों से सम्भव है, शरीर का कुछ उपकार होता हो, स्वास्थ्यलाभ होता हो, परन्तु जिस पद्धति से इनका निर्माण होता है, जिस अशुचिभाव से अशुचि-स्थानों में इनका सेवन किया जाता है, जिन अवर्णों के द्वारा इनका प्रदर्शन लक्षण-विन्यास होता है, एवं आत्म-सत्व-(साथ ही शरीरविघातक भी) जिन कतिपय तामस पदार्थों के सम्मिश्रण से इनका दिव्य लोकों में अवतार होता है, उन सब के विद्यमान रहते हुए इन बीभत्स पदार्थों से आत्म-सत्व का सर्वनाश हुए बिना नहीं रह सकता। आत्म-

सत्व की उपेक्षा करते हुए हमने आत्मशक्तियों को किस वेदर्दी से स्मृतिगर्भ मे विलीन कर दिया है क्या इस सम्बन्ध मे अभी और कुछ कहना शेष रह गया है ?

अस्तु, प्रकरण आवश्यकता से अधिक विस्तृत होता जा रहा है, अत इस सम्बन्ध में कर्म्मों के तारतम्य की एक विशेप पद्धति वतला कर प्रकरण समाप्त किया जाता है।

पुरश्चरण–अनुष्ठान प्रयोग—

जैसा कि पूर्व मे स्पष्ट किया गया है, नित्य नैमित्तिक-काम्यकर्म्मों के सयोग से नित्यनैमित्तिक-नित्यकाम्य-नैमित्तिककाम्य, ये तीन सायौगिक कर्म्म उपपन्न होते है। आगमशास्त्रानुसार मन्त्रसिद्धि के सम्बन्ध मे 'पुरश्चरण-अनुष्ठान-प्रयोग' ये तीन कर्म्म किए जाते हैं। प्राथमिक आचरण ही पुरश्चरण है। आत्मदेवता के साथ मन्त्रदेवता का प्राथमिक परिचय (सम्बन्ध) जिस प्रक्रिया से होता है, वह प्रक्रियाविशेष ही पुरश्चरण है। राजा, आमात्त्य, न्यायाधीश, आदि किसी उच्च श्रेणि के व्यक्ति से परिचय करने के लिए, उसका अनुग्रह प्राप्त करने के लिए (स्वरूपानुसार) वहुत प्रयास करना पडता है। वार वार उसके द्वार का अनुधावन करना पडता है। ठीक इसी तरह मन्त्रदेवता के अनुग्रह प्राप्त करने के लिए निश्चित समय तक विशेप नियमों का अनुगमन करते हुए मन्त्र जप करना पडता है, मन्त्रजप द्वारा तद्देवताभावनामय बना रहना पडता है। यही प्रक्रिया पुरश्चरण है। जपात्मक पुरश्चरण से ही मन्त्रसिद्धि प्राप्त होती है।

पुरश्चरण से मन्त्र सिद्ध हो गया। यह प्राप्त सिद्धि निकल न जाय, एतदथ चौथे, आठवें, अथवा प्रति दिन (मन्त्रमहत्वानुसार) उस सिद्धमन्त्र क जप करने पडते है, यही दूसरा 'अनुष्ठानकर्म्म' है। लोक में भी उच्च श्रेणि क परिचित मनुष्यो से (परिचय सुरक्षित रखने के लिए) स्वभावानुसार मध्य मध्य मे जाना पडता है। पुरश्चरण से सिद्ध, एव अनुष्ठान से सुरक्षित मन्त्र यथोप्सित फलप्रदाता बनता है। एव यही इस आगमकर्म्म का तीसरा 'प्रयोग' क्षेत्र है।

उक्त मन्त्र दृष्टान्त से प्रकृत में हमे यही कहना है कि, गायत्री मन्त्र का प्रयोगकर्म्म 'नैमित्तिक' कर्म्म है, तदर्थकृत अनुष्ठान कर्म्म 'नित्यनैमित्तिक' है। इसी तरह यदि कोई व्यक्ति—"मेरा अमुक कम सिद्ध हो जायगा, तो में यावज्जीवन मङ्गलवार का व्रत रक्खूगा" यह सकल्प कर लेता है, तो सकल्पानुसार कम्म सिद्ध हो जाने पर उसे व्रत करना पडता है। यही 'नित्यकाम्यकर्म्म' है। इस प्रकार परम्परया तीनों का 'नित्य-नैमित्तिक काम्य' कर्म्मों में ही अन्तर्भाव सिद्ध है।

१—पुरुषत्रयी—'आत्मा, सत्वं, शरीरञ्च, त्रयमेतत् त्रीदण्डवत्' ।

१—आत्मा (मनोमयः, ज्ञानप्रधानः)—कारणशरीरम् (पुरुषः)
२—सत्वम् (प्राणमयं, क्रियाप्रधानम्)—सूक्ष्मशरीरम् (प्रकृतिः)
३—शरीरम् (वाङ्मयं, अर्थप्रधानम्)—स्थूलशरीरम् (विकृतिः)
}—पुरुषः

२—कर्म्मत्रयी—

१—नित्यंकर्म्म — पालनम्
२—नैमित्तिकंकर्म्म—रक्षणम्
}—अबन्धने यज्ञार्थकर्म्माणी

३—काम्यंकर्म्म — पोषणम् }—बन्धनम्

३—धातवः—

१—विद्या, कामः, कर्म्म—आत्मधातवः
२—सत्वम्, रजः, तमः,—सत्वधातवः
३—पित्तः वातः कफः—शरीरधातवः
}—त्रीदण्डवत्

४—चिकित्साशास्त्रत्रयी—

१—दर्शनशास्त्रम्— आत्मचिकित्सकम्
२—धर्म्मशास्त्रम्— सत्वचिकित्सकम्
३—आयुर्वेदशास्त्रम्-शरीरचिकित्सकम्
}—त्रीदण्डवत्

इति—धर्म्मशास्त्रनिबन्धन षट्कर्म्माणि

* *

*

असत्कर्म्मों ने छीन लिया। सबसे बड़ी विडम्बना तो यह हुई कि, इन उत्पथगामियों ने अपने-अपने कल्पित सिद्धान्तों से जनसाधारण को धोखा देने का साधन भी बनाया उसी गीताशास्त्र को। सभी गीतासिद्धान्त के अनुयायी, सभी के कल्पित सिद्धान्तों का गीता से समर्थन, सभी गीता के परपारदर्शी, सभी गीता के व्याख्याता, एवं सभी गीता के अनन्यभक्त—अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!! अब्रह्मण्यम्!!!

जैसा कि हमारा प्रातिस्विक विश्वास है, कहना पड़ता है कि, उसी मधुसूदन की अन्वर्थ प्रेरणा से स्वर्गीय गुरुवर श्री श्री मधुसूदनजी ओझा द्वारा चिरकाल से विलुप्त प्राय वही आर्ष-धर्म्म, वही बुद्धियोग, वही वेदान्तनिष्ठा, वही सांख्य-योग का समन्वय उनके कृपाकणरूप एक अयोग्य शिष्यद्वारा निम्न लिखित रूप से पुनः संसार के सामने प्रकट हो रहा है।

"कायक्लेशात्मक, अव्यक्तलक्षण, हिरण्यगर्भनिष्ठा रूप योग से युक्त, एवं कर्म्म (वर्णाश्रमानुबन्धी, स्वयम्भू निष्ठारूप कर्म्म) से वियुक्त, अतएव 'संन्यास' नाम से प्रसिद्ध सांख्य-निष्ठा (ज्ञानयोग) योगनिष्ठा (वैदिककर्म्मयोग) से सर्वथा पृथक् है, एवं योगनिष्ठा सांख्य-निष्ठा से सर्वथा विभिन्न" यह भेद बालबुद्धि से सम्बन्ध रखता है। क्या कर्म्मयोगियों को ज्ञान (सांख्य) का आश्रय लेना पड़ता, क्या सांख्यनिष्ठ ज्ञानी कर्म्म का आत्यन्तिक परित्याग कर सकते हैं? असम्भव। भगवान् कहते हैं, तुम दोनों की यह प्रतिद्वन्द्विता अच्छी नहीं। दोनों अपनी-अपनी निष्ठाओं पर अनन्यभाव से आरूढ़ रहो, हमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। केवल थोड़ासा संशोधन कर लो। तुम्हें (कर्म्मवादियों को) चाहिए कि, जिस कामप्रवृत्ति से, फलैषणा से तुम्हारा आत्मज्ञान उत्तरोत्तर आवृत्त होता जा रहा है, उस कामासक्ति का, फलासक्ति का एकान्ततः परित्याग कर दो। तुम्हें भी (ज्ञानवादियों को भी) यह चाहिए कि, तुम ज्ञान को अपना प्रधान लक्ष्य बनाने के साथ-साथ लोक-संग्रह की रक्षा के लिए, लोक व्यवस्थाओं को अक्षुण्ण बनाए रखना अपना एक आवश्यक, ईश्वरीय कर्म्म मानते हुए लोक-संग्राहक कर्म्मों में प्रवृत्त रहो। स्मरण रक्खो, कामना त्याग ही सच्चा संन्यास है। कर्म्मत्याग तो केवल बहाना है, क्योंकि—'नहिदेहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्म्माण्यशेषतः, कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्व्वः प्रकृतिजैर्गुणैः'। त्याग ही का तो नाम संन्यास है, यही तो सांख्यनिष्ठा है। जब कर्म्मवादी कर्म्म परिग्रह के कारण योगमार्ग पर प्रतिष्ठित होता हुआ कामना का परित्याग कर देता है, तो कामत्यागलक्षण इस योगनिष्ठा के ही सम्यगनुष्ठान से इसे त्यागलक्षण सांख्यनिष्ठा, तथा परिग्रह लक्षण योगनिष्ठा, दोनों का

अतिशय प्राप्त हो जाता है। ग्रहणं ही तो 'योग' है, यही तो योगनिष्ठा है। जब ज्ञानवादी ज्ञानानुगति के कारण सांख्यमार्ग पर प्रतिष्ठित होता हुआ निष्कामभाव से कर्म्म का ग्रहण कर लेता है, तो ज्ञानानुगति गतिलक्षण इस सांख्यनिष्ठा के ही सम्यक् अनुष्ठान से यह परिग्रहलक्षणा योगनिष्ठा, एवं त्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा, दोनों का प्रभु बन जाता है—
'एकमन्यास्थितः सम्यगुभयोविन्दतेफलम्' ।

ऐसे सम्यक् संन्यास (सांख्य) से, एवं ज्ञानयुक्त ऐसे सम्यक्योग से तुम्हारे दोनों अभीष्ट सिद्ध हो सकते हैं। प्रवृत्तिमूलक कर्म्म में यदि कर्म्म का पलड़ा भारी रहता है, तो कर्म्मत्याग लक्षण ज्ञान में ज्ञान का पलड़ा भारी रहता है। यही विषमता है, विषमता ही क्षोभलक्षण अशान्ति की जननी है। दोनों निष्ठाओं में जब तक दोनों निष्ठाओं के धर्म्मों का समावेश नहीं कराया जायगा, तब तक दोनों 'समता' से वञ्चित रहेंगे। इस विषमता से न संन्यास ही सम्यक् (समभाव की अपेक्षा रखने वाला) बनेगा, न योग ही सम बनेगा। दोनों हीं मार्ग श्रेष्ठ, परन्तु पारस्परिक विनिमय से सम्यक्भाव के समाश्रय से—'संन्यासः कर्म्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ' ।

जैसा कि आगे आने वाले 'ज्ञानयोग परीक्षा' प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाना है, सांख्य, तथा योग, इन दोनों संशोधित रूपों में से भी भगवान् की दृष्टि में कर्म्मपरिग्रह लक्षण कर्म्मयोग ही अपेक्षाकृत विशेष श्रेष्ठ है। कारण इस पक्षपात का यही है कि, ज्ञानमार्ग की अपेक्षा कर्म्मपरिग्रह लक्षण कर्म्ममार्ग मे लोकसग्रह की विशेष रूप से रक्षा होती है। सांख्यनिष्ठ ज्ञानी कर्म्म करेगा, यथाशक्य लोकसंग्रह की भी चेष्टा करेगा, परन्तु अन्ततोगत्वा लोकधर्म्मविरोधी ज्ञानप्राधान्य से उसका यह ज्ञानोपयिक कर्म्म अन्ततोगत्वा वैय्यक्तिक स्वार्थ का ही साधक बनेगा। इधर कर्म्मयोगमार्ग वैय्यक्तिक स्वार्थ के साथ साथ परमार्थ का भी अन्यतम अनुगामी बना रहेगा। इस दृष्टि से इन दोनों संशोधित मार्गों की समतुलना में कर्म्मयोग ही विशिष्ट माना जायगा—'तयोस्तु कर्म्मसंन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते' ।

संन्यासमार्ग मे रहता हुआ व्यक्ति लोकसंग्रह में सफल हो जाय, उसके ज्ञानोपयिक कर्म्म से समाज का कुछ विशेष उपकार हो, यह कठिन है। पहिले तो मार्ग कठिन, फिर लोकसंग्रह का प्रायः अभाव। अतएव मानना पड़ेगा कि, ऐसे संन्यासी की अपेक्षा उस विजितेन्द्रिय का योगमार्ग (कर्म्ममार्ग) ही श्रेष्ठ है, जो कि अपने आप को, अपने कर्म्म को सम्पूर्ण

संस्कारनिबन्धनपट्कर्म्म समाप्त

—*—